आधुनिक राजस्थानी साहित्य
प्रेरणा-स्रोत और प्रवृत्तियाँ

[राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

डॉ० किरण नाहटा, एम., ए. पी-एच डी.
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
लोहिया महाविद्यालय
चूरू (राजस्थान)

मुख्य विक्रेता :
चिन्मय प्रकाशन

प्रकाशक :
कमला नाहटा
नाहटा प्रकाशन
कालू (बीकानेर)

मूल्य :
40.00

प्रमुख विक्रेता :
चिन्मय प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

सन् :
1974

मुद्रक :-
श्री यूनाइटेड प्रिन्टर्स
राधा दामोदर की गली
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

समर्पण

राजस्थानी के

सर्जनशील

साहित्यकारों को

सादर ।

निवेदन

एम० ए० हिन्दी में वैकल्पिक प्रश्न-पत्र के रूप में डिंगल साहित्य (राजस्थानी साहित्य) का अध्ययन करते समय 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' (पृथ्वीराज राठौड़), 'वीर सतसई' (सूर्यमल्ल मिश्रण) एवं 'ढोला मारु रा दूहा' जैसी राजस्थानी साहित्य की सरस एवं उत्कृष्ट कृतियों ने सहज ही मन को बांध लिया। इन कृतियों के साहित्यिक सौन्दर्य ने प्राचीन राजस्थानी साहित्य के सम्बन्ध में तो अधिकाधिक जानने को प्रेरित किया ही, किन्तु साथ-ही-साथ प्रारम्भ से ही चले आ रहे राजस्थानी साहित्य के प्रति मेरे आकर्षण को भी और अधिक प्रगाढ बनाया।

बचपन से ही मेरा लगाव राजस्थानी साहित्य की ओर रहा है। शिशु अवस्था में मां से सुनी सरस और रोचक कहानियों, गांव की गलियों में नित्यप्रति गूंजती रहने वाली लोकगीतों की मधुर एवं करुण स्वर लहरियों तथा समय-समय पर 'धुंई' (अलाव) के चारों ओर वातावरण को बांध लेने में सक्षम राव-भाटों और कथावाचकों की रोचक बातों ने मेरे मन मे राजस्थानी लोकसाहित्य के अमित आकर्षण को जन्म दिया। यही आकर्षण कालान्तर में सर्जनात्मक साहित्य की ओर बढ़ चला जिसकी पृष्ठभूमि में घर एवं शाला का वातावरण विशेष प्रेरक रहा। वस्तुतः राजस्थानी के प्रति मेरा यह आकर्षण मातृभाषा के माधुर्य का ही आकर्षण था, फलस्वरूप मैं धीरे-धीरे आधुनिक राजस्थानी साहित्य का उत्सुक पाठक बन गया।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य के प्रति इस विशेष लगाव के कारण मैं समय-समय पर, राजस्थान और राजस्थान के बाहर के साहित्यकारों एवं मनीषियों से आधुनिक राजस्थानी साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा करता रहता। उन चर्चाओं से मुझे अनुभव हुआ कि आधुनिक राजस्थानी साहित्य की प्रवृत्तियों और गतिविधियों से वे बहुत कम परिचित हैं। इस स्थिति ने मुझे सोचने को विवश किया कि आखिर वे कौनसी परिस्थितियां हैं, जिनके कारण राजस्थानी का आधुनिक साहित्य विद्वत् वर्ग तक पहुंचने में असमर्थ रहा है। इसका मुख्य कारण मेरी दृष्टि में आधुनिक राजस्थानी साहित्य के समुचित मूल्यांकन एवं प्रचार का अभाव है। इसी स्थिति के कारण वह साहित्यिक चर्चा का विषय बनने से वंचित भी रहा। मैंने इन परिस्थितियों में निश्चय किया कि मैं आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करूं, ताकि अन्य समसामयिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की तरह राजस्थानी साहित्य भी व्यापक चर्चा का विषय बन सके और राजस्थानी के सर्जनशील साहित्यकार इन चर्चाओं से उत्साहित होकर अधिक सक्रिय हों।

इसी भावना के साथ एम० ए० करने के पश्चात् मैं डाक्टर नरेन्द्र भानावत से अपने शोध-निर्देशन के सम्बन्ध में मिला और आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर कार्य करने की अपनी इच्छा व्यक्त की। डाक्टर साहब ने मुझे प्रोत्साहित करते हुए 'आधुनिक राजस्थानी साहित्य : प्रेरणा-स्रोत और प्रवृत्तियां' विषय सुझाया। मेरे प्रस्तुत अध्ययन का विषय यही है।

डाक्टर साहब से स्वीकृति पाकर मैं अपने काम में जुट गया। इस हेतु जब आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर समालोचनात्मक दृष्टि से लिखी गयी सामग्री पर दृष्टिपात किया तो उसे अपने इस अध्ययन के लिए अपर्याप्त पाया। पत्र-पत्रिकाओं में या अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर बहुत कम लिखा गया था। यही नहीं जिन लघु शोध-प्रबन्धों[1] में आधुनिक राजस्थानी साहित्य को अध्ययन का विषय बनाया गया था, उनमें भी सूचनात्मक कार्य अधिक मिला, विवेचनात्मक बहुत कम। ऐसी स्थिति में मैंने यह निश्चय किया कि मैं स्वयं साहित्यकारों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर विवेचनात्मक दृष्टि को प्रमुखता देते हुए अपना अध्ययन प्रस्तुत करूं। इस हेतु जब राजस्थानी के वर्तमान साहित्यकारों से सम्पर्क स्थापित किया तो उन्होंने जिस उत्साह से मेरे कार्य का स्वागत करते हुए अपना हर संभव सहयोग देने में जो तत्परता दिखलायी, वह मेरे इस अध्ययन के लिए सर्वथा उपयोगी था ही साथ-ही-साथ मेरे लिए भी एक सुखद प्रेरणास्पद अनुभव था।

सर्जक साहित्यकारों की भाँति ही राजस्थानी साहित्य में रुचि लेने वाले साहित्य-मनीषियों एवं सम्पादकों ने भी जिस उत्साह से मेरी पीठ थपथपाई उसने मुझे गंभीरता से कार्य करने को सजग किया। इस दृष्टि से मैं सर्व श्री अगरचन्द नाहटा, विद्याधर शास्त्री, डा० मनोहर शर्मा, रावत सारस्वत (सं० मरुवाणी), किशोर कल्पना 'कान्त' (सं० ओळमों) का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने एक ओर अपने यहाँ संग्रहीत सामग्री के अध्ययन की पूरी सुविधाएं प्रदान की, वहाँ दूसरी ओर समय-समय पर आवश्यक परामर्श देते रहकर मेरे कार्य को सुगम बनाया। इसी क्रम में मैं हनुमान पुस्तकालय, रतनगढ़ (राज०) एवं गुण प्रकाशक सज्जनालय, बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्षों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करना चाहूँगा जिन्होंने भरतियाकालीन पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध करवाने में विशेष तत्परता दिखलायी।

प्रस्तुत अध्ययन में मैंने ई० सन् १६०० से आज तक प्रकाशित राजस्थानी साहित्य को आधार बनाया है। यहाँ राजस्थानी साहित्य से मेरा तात्पर्य राजस्थानी भाषा में रचित साहित्य है, अतः इस अवधि में राजस्थान में रचित हिन्दी (खड़ी बोली) एवं ब्रजभाषा के साहित्य को मैंने नहीं लिया है। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि मेरे इस अध्ययन का आधार मूलतः प्रकाशित साहित्य ही रहा है। वैसे कहीं बहुत आवश्यक होने पर एकाध अप्रकाशित रचनाओं एवं पत्रों आदि का उल्लेख भी प्रसंगवश हुआ है।

मेरे प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र आधुनिक राजस्थानी साहित्य का गद्य और पद्य उभय दोनों में प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य रहा है, किन्तु मैंने अपने विषय प्रतिपादन में दो बातों का विशेष ध्यान रखा है। प्रथम तो मैंने इस अध्ययन में विवेचनात्मक एवं समालोचनात्मक दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन को प्रधानता दी है और द्वितीय, विधागत प्रवृत्तियों का अध्ययन ही मेरा अभीष्ट रहा है, अतः इस अध्ययन में विधा विशेष के ऐतिहासिक विकास क्रम पर विस्तार से विचार नहीं किया गया है और न ही किसी साहित्यकार विशेष को प्रधानता देकर उसका मूल्यांकन किया गया है। इस दृष्टिकोण के कारण संभव है कि कई प्रसिद्ध साहित्यकारों के सम्बन्ध में उतना कुछ नहीं लिखा जा सका हो, जितना कि राजस्थानी साहित्य के स्वतन्त्र इतिहास लेखन के क्रम में संभव होता।

---

१. (क) आधुनिक राजस्थानी काव्य : सज्जन कुमारी भण्डारी (अप्रकाशित)
(ख) आधुनिक राजस्थानी साहित्य : एक शताब्दी : शान्तिलाल भारद्वाज 'राकेश' (अप्रकाशित)

अध्ययन के इस विशेष दृष्टिकोण का एक परिणाम यह भी हुआ है कि प्रस्तुत अध्ययन सामान्य शोध-परम्परा से कुछ हटकर किया गया है। जहाँ सामान्यतः शोध-प्रबन्धों में उपशीर्षकों की परम्परा रही है, वहाँ मैंने विवेचनात्मक एवं समालोचनात्मक दृष्टि की प्रधानता के कारण पूरे अध्याय को आदि से अन्त तक बिना किन्ही उपशीर्षकों में विभक्त किये, धारा-प्रवाह चलने वाले एक निबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया है। विभिन्न विधाओं की प्रवृत्तिगत विशेषताओं का अध्ययन करते समय जो यह दृष्टि अपनाई गई, उसी के अनुरूप पूरे शोध-प्रबन्ध मे एकरूपता लाने के भाव से प्रेरित होकर 'विषय-प्रवेश', 'प्रेरणा-स्रोत' एवं 'उपलब्धियाँ और मूल्यांकन' नामक अध्यायो मे भी उपशीर्षकों का आयोजन नही किया गया है।

मैंने अपना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पाच खण्डों के बीस अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड 'विषय-प्रवेश' से सम्बन्धित है। इसमें उन स्थितियों पर विचार किया गया है, जो आधुनिक राजस्थानी साहित्य को मध्यकालीन साहित्य से अलगाती है और उन बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है, जिनके कारण राजस्थानी साहित्य मे नवयुग का सूत्रपात हुआ।

द्वितीय खण्ड 'प्रेरणा-स्रोत' में आधुनिक राजस्थानी साहित्य के काल-क्रम के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुए गत सत्तर वर्षों की उन विविध राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियो पर विचार हुआ है, जिन्होंने आधुनिक राजस्थानी साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित-प्रेरित किया है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य के विकास क्रम को ध्यान में रखते हुए इन सत्तर वर्षों की लम्बी अवधि को—१. १६०० ई० से १६३० ई०, २. १६३१ ई० से १६५० ई० और ३. १६५१ से १६७१ ई० तक के तीन भागों में बांटकर उन पर अलग-अलग विचार किया गया है।

तृतीय खण्ड मे गद्य साहित्य की प्रवृत्तियों पर विस्तार से विचार किया गया है। प्रारम्भ मे राजस्थानी गद्य साहित्य के इतिहास और उसकी सामान्य प्रवृत्तियो का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और पश्चात् अध्याय तीन से नौ तक क्रमशः उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबन्ध, रेखाचित्र और सम्मरण तथा गद्य-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विस्तार से विचार किया गया है और अन्त मे निष्कर्ष रूप मे आधुनिक गद्य साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का एक सामान्य लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ खण्ड 'पद्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ' मे प्रारम्भ में प्राचीन राजस्थानी पद्य साहित्य की सामान्य विशेषताओं का संक्षेप में परिचय दिया गया है और पश्चात् अध्याय दस से उन्नीस तक क्रमशः प्रबन्ध काव्य, प्रकृति काव्य, गीति काव्य, प्रगतिशील काव्य, वीर एवं प्रशस्ति काव्य, हास्य एवं व्यंग्य-प्रधान काव्य, पद्य कथाएं, भक्ति काव्य, नीति काव्य और नयी कविता की प्रवृत्तियों का विस्तार से अध्ययन किया गया है। अन्त में आधुनिक राजस्थानी पद्य साहित्य की सामान्य विशेषताओं की चर्चा की गयी है।

पंचम खण्ड उपसंहार 'उपलब्धियाँ एवं मूल्यांकन' से सम्बन्धित है। इसमें आधुनिक राजस्थानी साहित्य की उपलब्धियों पर सामान्य रूप से विचार करते हुए राजस्थानी साहित्य की मंद गति के विभिन्न कारणों पर प्रकाश डाला गया है और अन्त में चार-पांच वर्षों के साहित्यिक एवं साहित्येतर परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में उसके संभावित गतिक्रम पर विचार किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए मैं अपने निर्देशक डा० नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर का सदैव आभारी रहूंगा । उन्होंने एक मित्र के समान बैठकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के सभी पहलुओं पर विस्तार एवं गम्भीरता से चर्चा की । जहाँ मैं अपने दृष्टिकोण को सही रूप में प्रस्तुत कर सका उसे उन्होंने ज्यों-का-त्यों रहने दिया और जहाँ स्वाभाविक युवा उत्साह-वश विवेचन कहीं असंगत एवं अमर्यादित हुआ, वहीं उन्होंने सीमा में रहते हुए संतुलित विवेचन का परामर्श दिया । अपने विभागाध्यक्ष डा० सरनामसिंह शर्मा अरुण एवं भूतपूर्व विभागाध्यक्ष डा० सत्येन्द्र के स्नेह भरे प्रोत्साहन के प्रति कृतज्ञ हूं । समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करते रहने वाले साथी जोराराम सिया, नन्दलाल वर्मा और सोहनलाल बोथरा तो मेरे अपने ही हैं । इन्हें क्या धन्यवाद दूं ?

आशा है, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आधुनिक राजस्थानी साहित्य की अध्ययन-परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करेगा । यदि मेरे इस अध्ययन से राजस्थानी के सर्जनशील साहित्यकार किंचित भी प्रेरित हुए तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा ।

किरण नाहटा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड
विषय प्रवेश

द्वितीय खण्ड
प्रेरणा-स्रोत

तृतीय खण्ड
गद्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ

राजस्थानी गद्य साहित्य का सामान्य परिचय

चतुर्थ खण्ड
पद्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ

राजस्थानी पद्य साहित्य का सामान्य परिचय

पंचम खण्ड
उपसंहार

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

विषय-प्रवेश

उन्नीसवीं शती का भारतीय इतिहास पुनर्जागरण का इतिहास रहा है। जीवन के हर पहलू में पाश्चात्य जगत् के सम्पर्क, औद्योगिक-क्रान्ति के प्रसार और वैज्ञानिक युग से परिचय के कारण परिवर्तन का जो व्यापक क्रम चला, उसने विशाल भू-भाग वाले इस देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहने वाले जन समुदायों को देर-सबेर अपने प्रभाव क्षेत्र मे अवश्य लिया। ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से इन भिन्न-भिन्न भू-भागों मे परिवर्तन की प्रेरक परिस्थितियों के प्रसार में दशाब्दियों का अन्तर अवश्य रहा और उसी के अनुसार कोई क्षेत्र विशेष आधुनिक युग से साक्षात्कार मे आगे निकल गया या कि पिछड़ गया। राजस्थान अपनी विशेष भौगोलिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण देश के उन प्रान्तों मे से एक है, जहां नवयुग का प्रकाश बहुत देरी से पहुंचा। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह निकला कि वह भारत के अन्य-अन्य प्रान्तो की अपेक्षा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति कि दौड़ मे पिछड़ गया। साहित्य भी उसके अपवाद स्वरूप नही बचा। तभी तो, जो राजस्थानी साहित्य शताब्दियों की अविच्छिन्न साधना के फलस्वरूप विशाल परिमाण और वैविध्यपूर्ण रूपों की परम्परा का धनी रहा, वह उन्नीसवी सदी में उपेक्षित एवं प्राय: विस्मृत कर दिया गया। १९ वीं शताब्दी में जिन प्रमुख विदेशी और भारतीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं पर अपने अध्ययन प्रस्तुत किये, उन सबमें राजस्थानी के सम्बन्ध में जो मंतव्य प्रकट किये गये[1]

---

१. ई० सन् १८१६ से १८८० के मध्य तक भारतीय भाषाओं पर कैरी मार्शमैन, वार्ड, पैरी, डाक्टर कैलाग, डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर आदि विद्वानो ने जो कार्य किया, उन सबमे राजस्थानी को हिन्दी की एक विभाषा या बोली भर माना गया था। एक स्वतंत्र भाषा के रूप में उसे सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने मान्यता दी (सन् १९०८ ई०) और उन्ही के प्रयासों के आधार पर भारत सरकार ने भी राजस्थानी का एक स्वतंत्र भाषा के रूप में उल्लेख करना प्रारम्भ किया।

स्रोत : राजस्थानी का अध्ययन : नरोत्तमदास स्वामी
राजस्थानी, भाग–२, पृ० सं० ५५

इस सम्बन्ध मे श्री नरोत्तमदास स्वामी का कथन उल्लेखनीय है कि–"इन विद्वानों के सामने राजस्थानी का साहित्य नही था। इनने अपना विवेचन साहित्य के आधार पर नहीं किन्तु बोलचाल के आधार पर किया। जिन भाषाओं मे उन्हें साहित्य मिला, जैसे बंगला, गुजराती आदि उन्हें इनने भाषाओं का नाम दिया और बाकी को अन्यान्य भाषाओं की बोलियाँ लिखा। राजस्थानी के विशाल साहित्य मे ये सर्वथा अपरिचित थे। उसकी झांकी भी उन्हें नहीं मिली। डाक्टर कैलाग को अपने विवेचन का आधार पादरियों द्वारा प्रकाशित कुछ लोक गीतों को बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा।"

वही, पृ० स० ५६

ये सब राजस्थानी भाषा-साहित्य के प्रति तात्कालिक विद्वानों की अनभिज्ञता और राजस्थानवासियों की घोर सुषुप्तावस्था को ही बतलाते हैं ।

उस समय स्थिति यह थी कि विदेशी या इतर प्रान्तीय विद्वानों को तो क्या स्वयं राजस्थानी विद्वानों को भी अपनी समृद्ध साहित्य-परम्परा का ज्ञान बहुत थोड़ा था । ऐसी स्थिति में यहाँ विभिन्न राजाओं एवं सामन्तों के संरक्षण में जो साहित्य रचा जा रहा था—उसके स्वर एवं उसका स्वरूप अन्य तात्कालिक भारतीय भाषाओं के स्वर एवं स्वरूप से नितान्त भिन्न और मध्ययुगीन मनोवृत्ति का पोषक था । इस सबके मध्य २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ से राजस्थानी साहित्य का स्वर और स्वरूप जो एकदम बदला हुआ सा नजर आने लगा है, उसकी पृष्ठभूमि में मुख्यतः दो कारण रहे हैं ।

प्रथम, राजस्थानी समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग व्यापारियों के रूप में मुख्यतः महाराष्ट्र एवं बंगाल तथा छुट-पुट रूप में भारत के अन्य-अन्य प्रान्तों में फैला हुआ था, जिसने पीढ़ियों तक उन प्रान्तों में गुजार देने के बाद भी अपनी भाषा और परम्पराओं का त्याग नहीं किया था । उन प्रवासी राजस्थानियों ने मराठी और बंगाली साहित्य की बदलती स्थितियों और उसके परिणाम स्वरूप वहाँ के समाज के चिन्तन और आचरण में आये भारी परिवर्तनों को देखकर साहित्य की शक्ति को पहिचाना । फलस्वरूप उन्होंने भी राजस्थानी समाज की उन्नति हेतु युगानुरूप राजस्थानी साहित्य का सर्जन शुरू किया । चूंकि ये लोग मराठी और बंगाली समाज और साहित्य से विशेष प्रभावित हुए, अतः उन्होंने मुख्यतः उसी के अनुसरण पर राजस्थानी में नये साहित्य का सर्जन प्रारम्भ किया । दूसरे, उनके सामने भी अपने प्राचीन साहित्य की गौरवपूर्ण उपलब्धियों का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं था, अतः उनको पाश्चात्य साहित्य की मराठी एवं बंगाली में स्वीकृत विभिन्न रूप विधाओं और प्रवृत्तियों को अपनाने में किसी प्रकार की परेशानी का अनुभव नहीं हुआ । इस प्रकार अपनी साहित्यिक परम्पराओं से अनभिज्ञ बने इन साहित्यकारों को जहाँ एक ओर अपने पूर्वजों की शानदार विरासत से वंचित रहना पड़ा, वहाँ दूसरी ओर इसी कारण से उन्हें कई परेशानियों से बचने का अवसर भी मिला । हिन्दी साहित्यकारों की तरह इन प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों के सम्मुख प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं के त्याग और नवीन प्रवृत्तियों के साथ उनके सामंजस्य जैसी कोई समस्या नहीं थी और न ही हिन्दी की तरह गद्य-पद्य की भिन्न भाषाओं का सवाल ही इन्हें परेशान किये हुए था । यही नहीं, जन-भाषा और साहित्यिक भाषा के अन्तर और उसमें तालमेल बैठाने जैसी किसी समस्या से भी उन्हें नहीं उलझना पड़ा । उन्होंने तो बिना किसी दुविधा के बोलचाल की भाषा के साथ संस्कृत के आवश्यक तत्सम शब्दों को अपनाते हुए अपने साहित्य की सर्जना की ।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य-सर्जन को दूसरी जिस बात ने बल प्रदान किया, वह था २० वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में ही देशी और विदेशी विद्वानों द्वारा प्राचीन राजस्थानी साहित्य के महत्त्व को स्वीकारते हुए उसके अन्वेषण और प्रकाशन कार्यों में रुचि प्रदर्शित करना । सर्व प्रथम डॉक्टर ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं का भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से किये गये अध्ययन क्रम में राजस्थानी भाषा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकारा और उसके साहित्यिक वैभव की ओर इंगित

किया ।[1] पश्चात् उनकी ही प्रेरणा और प्रयासों के फलस्वरूप महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री[2], एल० पी० टैस्सीटोरी[3] प्रभृति विद्वानों ने इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया । इन विद्वानों के कार्य का जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आया वह यह कि अब किसी को यह कहने की हिम्मत नही रही कि राजस्थानी भी कोई भाषा है क्या ? और न ही इस प्रकार प्राचीन साहित्यिक परम्परा के अभाव के नाम पर किसी राजस्थानी साहित्यकार को अपनी मातृभाषा मे साहित्य रचना करने के लिए प्रताड़ित या हतोत्साहित करने का ही दुःसाहस अब कोई कर सका ।[4] इस अध्ययन-अन्वेषण की स्वस्थ परम्परा का जो दूसरा प्रभाव पड़ा वह यह कि इसके कारण राजस्थानी साहित्यकार के मन से हीन भावना निकल गयी और अब वह पूरे आत्म-विश्वास के साथ नव-सर्जन में प्रवृत्त हो गया ।

---

१. 'राजस्थानी बोलियाँ मिलकर एक ऐसा वर्ग बनाती हैं, जो एक ओर पश्चिमी हिन्दी से और दूसरी ओर गुजराती से भिन्न है । वे सब मिलकर एक स्वतन्त्र भाषा मानी जाने की अधिकारिणी है । पश्चिमी हिन्दी से वे पंजाबी से भी दूर हैं । पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ ये किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती ।'— ग्रियर्सन
राजस्थानी का अध्ययन : श्री नरोत्तमदास स्वामी, राजस्थानी, भाग—२, पृ० सं० ५७

२. बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने पं० हरप्रसाद शास्त्री को वि० सं० १६६६ में राजस्थानी साहित्य के शोध हेतु नियुक्त किया । उन्होंने स० १६७० तक गुजरात और राजस्थान के तीन दौरे किये और चार रिपोर्ट तैयार की । स० १६७० मे ही उन्होंने चारों रिपोर्टों को मिलाकर एक रिपोर्ट तैयार की जिसका कि बाद मे यथा-समय प्रकाशन हुआ ।
वही ।

३. इटली निवासी डा० एल० पी० टैस्सीटोरी ने प्राचीन राजस्थानी साहित्य के उद्धार की महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा की । ई० सन् १६१४ से १६२० तक की ६ वर्ष की अवधि में उन्होने सहस्रों हस्तलिखित ग्रन्थों का पता लगाया एवं उनका संकलन किया, राजस्थानी ग्रंथों से सम्बन्धित तीन विवरणात्मक सूचियाँ तैयार की और प्राचीन राजस्थानी के तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया ।
वही ।

४. श्रीयुत शिवचन्द्र भरतिया ने जब सर्वप्रथम राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा में लिखना प्रारम्भ किया उस समय उन्हें किन-किन विरोधों का सामना करना पड़ा यह उनके ही वक्तव्यों से स्पष्ट हो जाता है—
(क) 'हिन्दी भाषा कोविद महाशयां को अनुरोध छै के हिन्दी भाषा ने छोड़कर मारवाड़ी भाषा माहे पुस्तका लिखकर विद्या को पंथ संकीर्ण करणो वाजबी नहीं............'
भूमिका
'कनक सुन्दर', शिवचन्द्र भरतिया : किरण नाहटा, पृष्ठ सं० ६६
(ख) 'आ पुस्तक लिखीजी जद प्रथम भाछा भाछा सज्जन पुरुषां ने दिखाई तो उणारो अभिप्राय पड़्यो के मारवाड़ी भाषा मांहे पुस्तक लिखवा को व्यर्थ परिश्रम कीना । इणसूं तो हिन्दी मांहे पुस्तक लिखता तो ठीक होतो । मारवाड़ी कोई भाषा नहीं तिणसूं इण पुस्तक को प्रचार होणो कठिन है ......।'
भूमिका 'केसर विलास' : शिवचन्द्र भरतिया (द्वितीय संस्करण)

प्राचीन साहित्य के शोध की यह परम्परा बाद में तो और अधिक विकसित होती गई। स्व० सूर्यकरण पारीक, ठाकुर रामसिंह, श्री नरोत्तमदास स्वामी, अगरचन्द नाहटा, कन्हैयालाल सहल प्रभृति विद्वानों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। आज तो इस क्षेत्र में अनेक विद्वान, दर्जों संस्थाएँ[1] और बहुत सी पत्र-पत्रिकाएँ[2] सक्रिय हैं।

इस प्रकार प्रवासी राजस्थानियों में बंगाली और मराठी समाज तथा साहित्य की नूतन स्फूर्ति के सम्पर्क से जागृत उत्साह का भाव और विदेशी विद्वानों द्वारा प्राचीन राजस्थानी साहित्य के अन्वेषण, प्रकाशन से उत्पन्न आत्म-सम्मान के भाव ने राजस्थानी साहित्य को एक नयी राह पर ला खड़ा किया। परिणामस्वरूप आधुनिक राजस्थानी साहित्य में जो परिवर्तन या विशेषताएँ उजागर हुईं उन पर किंचित् विस्तार से किया गया विचार प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के अन्तर और उनकी सही स्थितियों को समझाने में अधिक सहायक सिद्ध होगा।

(ग) इस सम्बन्ध में राजस्थान के सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित रामकर्ण आसोपा के अनुभव भी कम कड़वे नहीं रहे। उन्होंने अपनी मारवाड़ी व्याकरणों की भूमिका में लिखा है कि— 'एक दिन री बात है भाषा सम्बन्धी बात चाली तो झट एक परदेसी बोल उठियो, कै मारवाड़ी भाषा कोई शिष्ट भाषा थोड़ी ही है, क्यूं के न तो कोई इण री व्याकरण है, और न कोई इण में किताबां है, और न कोई कोश (डिक्शनेरी) है, और इण सूं हीज यूनिवर्सीटी में भुकर नहीं है। आ तो सिर्फ जंगली भाषा है, जिणरो थे इतो मोद करो हो, सो आ बात तो आक रो कीड़ो आक में राजी वाली है।'

मारवाड़ी व्याकरण : पंडित रामकर्ण शर्मा, पृ० सं० ३, प्र० सा०—सं १६५३

१. राजस्थानी साहित्य के शोध सम्बन्धी कार्य में निम्नलिखित संस्थाएं मुख्य रूप से सक्रिय रही हैं:—
   (क) राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता।
   (ख) सादूल राजस्थानी-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट, बीकानेर।
   (ग) राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता।
   (घ) राजस्थानी शोध संस्थान, बिसाऊ (राज०)
   (ङ) भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर।
   (च) राजस्थानी शोध-संस्थान, चौपासनी, जोधपुर।
   (छ) राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
   (ज) रूपायन संस्थान, बोरुंदा (राजस्थान)
   (झ) भारतीय लोक कला मण्डल उदयपुर।
   (ञ) साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर।
   (ट) बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट, राजस्थानी शोध-विभाग, पिलानी (राज०)

२. ई० सन् १६०० से अद्यावधि राजस्थानी भाषा में निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं या हो रही हैं—
   मारवाड़ी, मारवाड़ी मास्टर, मारवाड़ी हितकारक, आगीवाण मारवाड़ी, जाणनी जोगी, मरुवाणी, ओळमों, कुरजां, जलमभोम, आगूणी, हरावळ, चांदेगर, हैलो, बिणज-व्यापार, राजस्थानी, मूमल, जाणनी जोग।
   इन पत्र-पत्रिकाओं का विशेष विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।

प्राचीन साहित्य से भिन्न आधुनिक साहित्य की विशेषताओं पर जब विचार करते हैं तो कई तथ्य उभर कर सामने आते हैं, प्रथम राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र में भी पद्य की अपेक्षा गद्य को युग-वाणी को स्वर देने में अधिक सक्षम मानकर—उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबन्ध आदि नाना नवीन विधाओं का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि हिन्दी की अपेक्षा राजस्थानी गद्य साहित्य की परम्परा बहुत समृद्ध रही है और केवल सर्जनात्मक साहित्य के लिए ही नहीं अपितु इतिहास लेखन एवं अन्य-अन्य उपयोगी साहित्य के लिए भी बराबर व्यवहृत होता रहा है; फिर भी आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य ने उससे कोई सीधी प्रेरणा ली हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि प्राचीन राजस्थानी में लघु और विशाल वार्तों की शानदार परम्परा रही है और वे जनसाधारण के मध्य काफी लोकप्रिय भी रही हैं, किन्तु उन लघु या विशाल वातों से हम अर्वाचीन कहानी या उपन्यास का संबंध किसी प्रकार स्थापित नहीं कर सकते। प्रथम तो आज की कहानी और उपन्यास का शिल्प प्राचीन वातों के शिल्प से सर्वथा भिन्न पाश्चात्य साहित्य से सीधा ग्रहण किया हुआ है; द्वितीय, इनके लेखन के उद्देश्य में भी भारी अन्तर रहा है और तृतीय, कहानी एवं उपन्यासों का कथ्य भी सर्वथा बदल हुआ है। कथ्य और शिल्प की भांति इनकी शैली में भी पर्याप्त अन्तर है। तुकान्त गद्य की परम्परा को तो आज का गद्यकार कभी का छोड़ चुका है, किन्तु साथ ही अनावश्यक वर्णन-विस्तार और पच्चीकारी की प्रवृत्ति से भी वह मुक्त हो चुका है। वातों और लम्बी वातों से तुलनीय कहानी और उपन्यास के अतिरिक्त गद्य साहित्य में प्रचलित शेष सभी विधाओं का प्राचीन गद्य साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, उन्हें तो नवयुग की ही उपज माना जाना चाहिये।

आधुनिक काल में पद्य के क्षेत्र में भी गद्य की भांति पर्याप्त परिवर्तन आया है। अब कविता केवल रसवादी साहित्य का सर्जन कर ही अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो जाती, अपितु उसका झुकाव वैचारिक एवं बौद्धिक पक्ष की ओर दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। वर्तमान जीवन की जटिलताओं और मानव मन की संश्लिष्टताओं को सही अभिव्यक्ति देने में ही वह अपनी सार्थकता समझती है। अब वह जीवन की शाश्वत एवं सामयिक समस्याओं को समान रूप से उठाती है और बदलते हुए मानवीय मूल्यों और आस्थाओं की चुनौती को स्वीकारती हुई, जनसाधारण तक उन सब परिवर्तित स्थितियों और

---

१. प्राचीन और अर्वाचीन गद्य शैली के अन्तर को स्पष्ट करने की दृष्टि से दोनों के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(क) "इण भांति नौबतियां दोन्यू तरफां गड गड़ी ऊसड़वा लागी बगतररी कड़ी अर नाचवा लागी बड़ी-बड़ी। जिण भांति ढोलडी वागा नट नूं नचनची लागे तिण भांति इण बेनां राजपूट वट जागे, अब धावणा ज्यारां वधावणा। नांवड़ा उचारणा, गीतड़ा गवावणां।"
रावत मोहकम सिंघ हरीसिंघोत री वात, राजस्थानी वातां : सं० सौभाग्यसिंह शेखावत, पृष्ठ सं० १२१

(ख) "राजा विचार करण लागी—आज धन तेरस है अर काले रूपचवदस। आ सू नम (असाढ़ सुद नम) गई तो उण नै परणियां नै पूरा तीन बरस हियां अर चोथो बरस लागग्यो। तीन बरसा मे वे तीन बेळा घरे आया। बीस-तीस दिन री छुट्टी मे। था आंगलियां मार्य गिणण लागी।"
रूपाली राजां, अमर चूनड़ी : नृसिंह राजपुरोहित, पृष्ठ संख्या १०।

भावों को संप्रेषित करने से नहीं कतराती । कविता के सम्बन्ध में बदलते हुए इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ है कि आज की कविता प्राचीन कविता से काफी बदल गयी है ।

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन दूर की उड़ान अनावश्यक अलंकारिकता, छन्द के कठोर बन्धन और अनेक प्रकार के काव्य-शास्त्रीय प्रतिबन्ध, ये सब उससे बहुत पीछे रह चुके हैं । यह नहीं वीरता, शृङ्गार, करुणा, वात्सल्य आदि मानवीय भावों का अर्थ भी उसके लिए बदल चुका है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

भखारियाँ गीति
भीन ल वहा बिगळँ
तवो वतळावण करणी चा
चकल्यो पड़तर नी दे
ऊपळी मे ग्रंक देत
हड़-हड़ हासँ
हागळँ हाकण
फदाका भरँ
निरकारां न्हाँसती
घर री धिराणी
मन मांई कळाप करँ—
आनीजा आज्यो घरां
क धान बिन भूखा मरां ।[1]

पारम्परिक रचनाओं से इसका स्वर, स्वरूप और मिजाज कितना बदला हुआ है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है । फिर भी यहां इतना तो जान ही लेना चाहिये कि राजस्थानी कविता इस स्थिति को बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही नहीं पहुँच पाई थी, अपितु सत्तर वर्षों की लम्बी अवधि में परिवर्तनों की कई सरणियों से गुजर कर यहां तक पहुँची है ।

आधुनिक काल की कविता में प्राचीन काल की अपेक्षा एक और अन्तर जो उभर कर सामने आया है, वह है प्रकृति के प्रति उसका बदला हुआ दृष्टिकोण । आधुनिक युग से पूर्व के काव्य में प्रकृति का अंकन अधिकांश में उद्दीपन रूप में ही हुआ है, किन्तु आधुनिक युग में आते-आते प्रकृति स्वयं आलंबन बन गई । हिन्दी और अन्य सम-सामयिक भारतीय भाषाओं की तरह राजस्थानी में भी 'बादळी' 'लू' 'मळापण', 'मेगमाळ' एवं 'दस देव' जैसी काव्य कृतियों और सैंकड़ों कविताओं में प्रकृति का आलम्बन रूप में बड़ा रम्य अंकन हुआ है ।

इन परिवर्तनों के अतिरिक्त भी आधुनिक युगीन काव्य के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें और भी हैं जो कि उसे प्राचीन काव्य से अलगाती हैं । युगानुकूल वेश परिवर्तन की प्रक्रिया में आधुनिक कविता ने डिंगल के 'वयण सगाई, जैसे अलंकार की अनिवार्यता को सर्वथा नकार दिया है और परम्परागत छंद से

---

१. आनीजा आज्यो घरां : मणि मधुकर
राजस्थानी भेंट : सं० तेजसिंह जोधा, पृ० सं० ६०

एक विशेष लहजे में पढ़े जाकर पूरे वातावरण को अपने में बांध लेने वाले गीत-छंद तथा उसके ६० के आस-पास, भेद-प्रभेदों को लगभग भुला सा दिया है।

आधुनिक राजस्थानी गद्य और पद्य साहित्य मे आये इन परिवर्तनों की चर्चा के सम्बन्ध में उन दो एक बातों की ओर इंगित कर देना भी आवश्यक प्रतीत हो रहा है जिनका प्रभाव सर्वव्यापी है और जो आधुनिक साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि हैं। ये बाते हैं—प्रथम तो साहित्य का आम आदमी से जुड़ जाना और द्वितीय, यथार्थ तत्त्व की ओर साहित्यकार का विशेष झुकाव।

निष्कर्षत: प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारो में बंगाली एवं मराठी समाज एवं साहित्य के सम्पर्क से उत्पन्न चेतना और विदेशी विद्वानों के प्राचीन राजस्थानी भषा-साहित्य सम्बन्धी शोधकार्यों के प्रकाशन से राजस्थानी साहित्यकार में उत्पन्न आत्म-गौरव के भाव ने उन्हें मध्ययुगीन संस्कारों से मुक्त कर आधुनिक युग की देहलीज पर ला खड़ा किया। परिणाम स्वरूप २० वी शती में जो साहित्य सामने आया वह गद्य के फैलते दायरे, साहित्य के बदलते प्रतिमानो और जन-भाषा एवं जन-जीवन से अति नैकट्य के कारण प्राचीनकालीन साहित्य से काफी भिन्न एवं सशक्त है।

❂

एक विशेष लहजे में पढ़े जाकर पूरे वातावरण को अपने में बांध लेने वाले गीत-छंद तथा उसके ६० के आस-पास, भेद-प्रभेदों को लगभग भुला सा दिया है।

आधुनिक राजस्थानी गद्य और पद्य साहित्य मे आये इन परिवर्तनों की चर्चा के सम्बन्ध में उन दो एक बातों की ओर इंगित कर देना भी आवश्यक प्रतीत हो रहा है जिनका प्रभाव सर्वव्यापी है और जो आधुनिक साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि हैं। ये बाते हैं—प्रथम तो साहित्य का आम आदमी से जुड़ जाना और द्वितीय, यथार्थ तत्त्व की ओर साहित्यकार का विशेष झुकाव।

निष्कर्षतः प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों में बंगाली एवं मराठी समाज एवं साहित्य के सम्पर्क से उत्पन्न चेतना और विदेशी विद्वानों के प्राचीन राजस्थानी भषा-साहित्य सम्बन्धी शोधकार्यों के प्रकाशन से राजस्थानी साहित्यकार में उत्पन्न आत्म-गौरव के भाव ने उन्हें मध्ययुगीन संस्कारों से मुक्त कर आधुनिक युग की देहलीज पर ला खड़ा किया। परिणाम स्वरूप २० वी शती में जो साहित्य सामने आया वह गद्य के फैलते दायरे, साहित्य के बदलते प्रतिमानों और जन-भाषा एवं जन-जीवन से अति नैकट्य के कारण प्राचीनकालीन साहित्य से काफी भिन्न एव सशक्त है।

◎

द्वितीय खण्ड

२. प्रेरणा-स्रोत

2

प्रेरणा–स्रोत

शताब्दियों की समृद्ध एवं समुन्नत परम्परावाला राजस्थानी साहित्य १९वीं शताब्दी में अनेक ऐसी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के मध्य गुजरा जिसके फलस्वरूप २०वीं सदी मे प्रवेश करते-करते उसका स्वरूप एवं स्वभाव मध्यकालीन साहित्य की अपेक्षा काफी कुछ बदल गया। उसके इस बदलते हुए तेवर और मिजाज ने ही इसे पहली बार आधुनिक युग के द्वार पर ला खड़ा किया। यहाँ पहुँच कर उसने शताब्दियों के सामन्ती एवं राजदरबारी संरक्षण की उपेक्षा करते हुए बड़े आत्म-विश्वास के साथ आगे बढ़कर जन-साधारण का हाथ अपने हाथों मे थाम लिया। इस प्रकार मध्ययुगीन संस्कारों से मुक्ति और साधारणजन से सहज सम्पृक्ति, आधुनिक मनोभूमि में उसके प्रवेश के ठोस आधार बने। वैसे गद्य के बढ़ते हुए महत्त्व, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन, पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क के कारण नाना नवीन विधाओं का प्रवेश, रूढ़ एवं पारम्परिक काव्य-भाषा से मुक्ति और सहज किन्तु युग की चिन्तनाओं एवं अनुभूतियों को व्यक्त करने में सक्षम भाषा की स्वीकृति आदि अन्य-अन्य बातों को भी हम ऐसे परिवर्तनों के रूप मे ले सकते है—जो राजस्थानी साहित्य के आधुनिक युग मे प्रवेश की निश्चित घोषणा करती हैं।

उपर्युक्त परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में १९०० ई० से ही राजस्थानी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ माना जाना चाहिए। वैसे सर्व श्री मोतीलाल मेनारिया, नरोत्तमदास स्वामी, पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, शांतिलाल भारद्वाज प्रभृति विद्वान १९०० ई० की अपेक्षा वि०सं० १९०० या कि प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७ ई०) के आस-पास राजस्थानी साहित्य के आधुनिक काल का सूत्रपात हुआ मानते हैं।[1] इस सम्बन्ध में इन विद्वानों की मान्यता है कि १८५७ ई० के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम के

---

१. (क) "राजस्थानी साहित्य का आधुनिक काल स्थूल रूप से सं० १९०० से प्रारम्भ होता है।"
राजस्थानी भाषा और साहित्य : डा० मोतीलाल मेनारिया, पृ०सं० ३१४ (तृतीय संस्करण)

(ख) राजस्थानी के प्रसिद्ध कोशकार श्री सीताराम लालस ने भी अपने 'राजस्थानी सबद-कोस' की प्रस्तावना में 'राजस्थानी साहित्य का परिचय' देते हुए राजस्थानी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ वि० सं० १९०० से ही माना है।
राजस्थानी सबद-कोस: श्री सीताराम लालस (प्रथम खण्ड) प्रस्तावना, पृ०सं० १७२

(ग) "राजस्थानी साहित्य के शोधकर्ताओं और आलोचकों ने राजस्थानी का आधुनिक काल सं० १९०० से ही माना है, अर्थात् सन् १८५७ के भारतीय स्वाधीनता संग्राम की चेतना को ही आधुनिकता की प्रेरक किरण माना जाना उपयुक्त ठहरता है।"
आधुनिक राजस्थानी साहित्य-एक सर्वेक्षण : शांतिलाल भारद्वाज, अप्रकाशित लघु शोध-प्रबन्ध, एम०ए० (हिन्दी) पृ०११, राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय, जयपुर।

समय और उसमें कुछ पूर्व के राजस्थानी साहित्यकार की भूमिका अंग्रेजी-साम्राज्यवाद विरोधी भूमिका रही है, जो कि उसके प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है। इसी अवधि में महाकवि सूर्यमल्ल की 'वीर सतसई' की रचना हुई थी, जिसमें महाकवि ने किसी व्यक्ति विशेष के कार्यों की प्रशंसा न कर सामान्य-वीर को अपने काव्य का आधार बनाया। इस प्रकार महाकवि की इस कृति से सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यक्ति विशेष के वर्चस्व को अस्वीकार कर जनशक्ति को स्वीकृति प्रदान करने वाली आधुनिक चेतना का प्रस्फुटन राजस्थानी साहित्य में इसी कृति के साथ हो चुका था, अतः राजस्थानी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ भी यहीं से माना जाना चाहिए।

सरसरी तौर पर देखने से तो उपर्युक्त दोनों ही कथन सही प्रतीत होते हैं, किन्तु जब यत्किंचित् गंभीरता से विचार करते हैं तो स्थिति कुछ और ही नजर आती है। यह सही है कि उस अवधि में सर्जित साहित्य में अंग्रेजी साम्राज्यवाद विरोधी स्वर काफी प्रबल थे; किन्तु केवल अंग्रेजों या कि उनकी साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध करना ही तो उन साहित्यकारों को आधुनिक चेतना का संवाहक नहीं बना देता। अगर उनका यह विरोधी स्वर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के साथ-साथ सामन्तवादी शोषण और अन्याय के विरोध में होता तथा उसमें सामान्य व्यक्ति की वकालत हुई होती तो हम निःसन्देह उन साहित्यकारों को नवयुग के अग्रेसर मानते। यही बात महाकवि सूर्यमल्ल रचित 'वीर सतसई' के सम्बन्ध में लागू होती है। यद्यपि उसमें व्यक्ति-विशेष के वर्चस्व को प्रधानता नहीं दी गयी है और सामान्य वीर को काव्य का आधार बनाया गया है, तथापि उस कृति में कवि की दृष्टि मुख्यतः मध्यकालीन वीरता पर ही जमी हुई है और उसमें सामान्य वीर से कहीं भी यह अपेक्षा नहीं की गयी है कि वह युगानुकूल नूतन समाज-रचना का दायित्व वहन करे।

ऐसी स्थिति में न तो अंग्रेजी साम्राज्यवाद विरोधी भावना के पोषक उन बहुत सारे कवियों को ही यह श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने राजस्थानी साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात किया और न ही महाकवि सूर्यमल्ल की 'वीर सतसई' को ही आधुनिक राजस्थानी साहित्य की प्रथम सशक्त कृति होने का गौरव प्रदान किया जा सकता है। यही नहीं, उस समय के राजस्थानी समाज में भी कहीं ऐसा कोई लक्षण दृष्टिगत नहीं हो रहा था—जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि वहाँ नूतन परिवर्तनों के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण हो रहा था। इसके विपरीत यह समय तो राजस्थानी इतिहास में घोर निराशा, अकर्मण्यता एवं किंकर्तव्यविमूढ़ता का समय था।[1] अतः हम किसी भी स्थिति

---

१. वि०सं० १८०० के आस-पास राजस्थान पराभव के जिस दौर से गुजर रहा था, उस सम्बन्ध में श्री रघुवीरसिंह का यह कथन उल्लेखनीय है—

"राजस्थान के लिए यह एक विषम संक्रांति काल था—वंश-परम्परागत राजपूती वीरता और सैनिक क्षमता निरर्थक प्रतीत हो रही थी। अपने अयोग्य स्वार्थी कृपा-पात्रों से घिरे हुए, नरेश असहाय और विवशता से ऐश्वर्य-विलास में डूबे, अपनी पराधीनता के कठोर सत्य को भुलाकर, उनकी राजनैतिक श्रेष्ठता तथा गौरव का ढोंग रचने वाले ऊपरी दिखावे को ही पूरा महत्व दे रहे थे। साहित्य क्षेत्र में महाकवि सूर्यमल्ल का एकछत्र शासन था। राजस्थान के इस घोर पतन को देखकर उसकी आत्मा रोती थी एवं वह रागरंग में डूबा हुआ विगत-कालीन गौरव के स्मरण में ही आत्मतुष्टि का अनुभव करता था। सारे राजस्थान में इस समय अज्ञानता का घोर अन्धकार छाया हुआ था।"

पूर्व आधुनिक राजस्थान : श्री रघुवीरसिंह, पृ०सं० २८२-८३

में वि०सं० १९०० के आस-पास के काल को राजस्थानी साहित्य मे आधुनिक चेतना के प्रेरक तत्व के रूप में नही ले सकते।

इसके विपरीत ई० सन् १९०० के आस-पास की अवधि मे न केवल राजस्थानी समाज में ही वह कसमसाहट देखने को मिलती है, जो कि जीवन के हर क्षेत्र में अपने पिछड़ेपन के अहसास के साथ उत्पन्न हुई थी, अपितु राजस्थानी साहित्य-जगत् मे भी ऐसी बहुत सी घटनाएँ एक दशक से कम की अवधि मे घटित हुई, जो राजस्थानी साहित्य के आधुनिक युग मे प्रवेश की साक्षी हैं। यहां ऐसी कतिपय महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करना अप्रासंगिक नही होगा।

१. समाज के सामान्य कहे जाने वाले वर्ग और व्यक्ति के दैनन्दिन जीवन की समस्याओं पर आधारित श्री शिवचन्द्र भरतिया के प्रथम नाटक 'केसर विलास' का प्रकाशन वि० स० १९५७ या कि ई० सन् १९०० में हुआ। यह राजस्थानी साहित्य की प्रथम रचना थी जिसमें कथ्य, भाषा और प्रस्तुतीकरण (अभिव्यक्ति) एव शिल्प के स्तर पर प्राचीन स्थापनाओं को नकारते हुए पाश्चात्य शिल्प के अनुरूप नवीन मान्यताओं को अपनाया गया। इस नाटक के प्रकाशन के पश्चात् तो एक दशक से भी कम की अवधि मे ही श्री शिवचन्द्र भरतिया के 'कनक सुन्दर'[1] नामक उपन्यास एवं 'बुढापा की सगाई'[2] तथा 'फाटका जजाल'[3] नामक नाटको, श्री भगवतीप्रसाद दारूका के 'वृद्ध-विवाह'[4] नामक नाटक, श्री गगाराम बी.ए. के 'धर्मपाल'[5] नाटक एव श्री लछमनदास सालगराम के 'सगीत मोहन'[6] नाटक आदि दसों रचनाओं का प्रकाशन हुआ। इन सभी रचनाओं में मुख्यतः पाश्चात्य साहित्य के शिल्प का ही अनुकरण हुआ है और इनकी भाषा प्राचीन काव्य-भाषा से हटकर बोलचाल की साधारण भाषा है। वस्तुतः ये ही वे रचनाएँ थी जिनमे पहली बार सामान्य व्यक्ति का साहित्य के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ।

२. राजस्थानी भाषा के प्रथम पत्र 'मारवाडी-भास्कर'[7] का प्रकाशन ई० सन् १९०७ में हुआ और उसी वर्ष राजस्थानी भाषा के दूसरे पत्र 'मारवाड़ी'[8] का भी प्रकाशन हुआ।

३. राजस्थानी भाषा का प्रथम व्याकरण[9] भी स्व० रामकर्ण आसोपा द्वारा तैयार करके इसी अवधि मे अर्थात् वि० स० १९५३ (ई० सन् १८९६) मे प्रकाशित करवाया गया।

---

१. प्रकाशन काल १९०३ ई०
२. प्रकाशन काल १९०६ ई०
३. प्रकाशन काल (१९०७ ई०), वि० सं० १९६४
४. प्रकाशन काल (१९०३ ई०), वि० सं० १९६०
५. प्रकाशन काल वि० सं० १९५७ से १९६४ के मध्य
६. प्रकाशन काल वि० सं० १९५७ से १९६४ के मध्य
७. स० रामलाल बद्रीदास, प्रकाशन स्थान—शोलापुर
८. सं० किशनलाल बलदवा, प्रकाशन स्थान—अहमदनगर
९. मारवाड़ी व्याकरण : पण्डित रामकर्ण शर्मा
(जोधपुर 'मारवाड़ स्टेट प्रेस' में पण्डित निरन्जन नाथ मैनेजर रा प्रबन्ध सूं छपी)

४. राजस्थानी भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृति दिलवाकर प्रचलित करवाने के उद्देश्य से ही प्रेरित होकर स्व० रामकर्ण आसोपा ने राजस्थानी पाठ्य पुस्तकों[1] की रचना भी इसी अवधि में की।

५. राजस्थानी भाषा का पृथक् अस्तित्व देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा इसी अवधि में स्वीकार किया गया और इसके पश्चात् ही देशी-विदेशी विद्वानों का ध्यान राजस्थानी साहित्य के अध्ययन-अन्वेषण की ओर गया। फलस्वरूप विश्व के सामने पहली बार राजस्थानी के विशाल और समृद्ध साहित्य की झांकी प्रस्तुत की गई और उसके महत्त्व को स्वीकारा गया, जिसने परोक्षरूपेण राजस्थानी साहित्य सर्जन को भी गति प्रदान की।

उपर्युक्त कुछ एक बातें साहित्य-क्षेत्र की ऐसी महत्वपूर्ण बातें रही हैं, जिनके आधार पर सप्रमाण यह स्थापित किया जा सकता है कि राजस्थानी साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात वि० सं० १९०० से अर्थात् ई० सन् १९०० से हुआ। इन साहित्यिक परिवर्तनों एवं उपलब्धियों के अतिरिक्त भी राजस्थानी साहित्य को प्रभावित करने वाले वर्ग के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में भी १९०० ई० के पश्चात् ही वह हलचल देखने में आती है, जो उसे एक मरणोन्मुखी समाज के स्थान पर क्रियाशील एवं युगानुकूल परिवर्तनों को झेलने में सक्षम समाज सिद्ध करता है। इसी अवधि में बहुत बड़ी संख्या में राजस्थान से बाहर, भारत के इतर प्रान्तों में व्यापार-रत प्रवासी राजस्थानियों के जीवन में तीव्र हलचल उत्पन्न होती है और सुधारों का एक तेज दौरदौरा उनके मध्य गुजरता है। इधर राजस्थान में भी इसी अवधि के पश्चात् सामन्तशाही के कठोर नियन्त्रण के बावजूद सामाजिक एवं राजनैतिक हलचलों का दौरदौरा प्रारम्भ होता है। प्रवासी राजस्थानियों ने इसी दशक में व्यापारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रगतिशील कदम उठाये।[2] उधर राजस्थान

---

१ स्व० रामकर्ण आसोपा ने मारवाड़ी पैली पुस्तक, मारवाड़ी दूजी पुस्तक, मारवाड़ी तीजी पुस्तक, मारवाड़ी चौथी पुस्तक और मारवाड़ी री भूगोल नामक पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन वि० सं० १९५३ के पश्चात् किया। वि० सं० १९७२ तक इन पुस्तकों में किसी-किसी के तो पांच-पांच संस्करण निकल चुके थे। इन पुस्तकों को जोधपुर राज्य में पाठ्य पुस्तकों के रूप में भी सम्मिलित किया गया था—

> 'मारवाड़ी भाषा रा प्रचार वास्ते म्है मारवाड़ी पैली और दूजी किताबां बणाई जिकांरी जसवन्त कालेज रा प्रिंसीपल व अफसर तालीमरा मुसाहब मास्टर पण्डित श्री सूरजप्रकाशजी साहिब एम०ए० वगैरह मारवाड़ री हिन्दी पाठशालावां में मुकर्रर करी जिणसूं उत्साहित हुय आ तीजी किताब बणाय प्रकाशित करी है।"
>
> भूमिका, मारवाड़ी तीजी पोथी : रामकर्ण आसोपा

आधुनिक राजस्थानी साहित्य : भूपतिराम साकरिया, पृ० सं० ८

२. ई० सन् १९०० के आस-पास एवं पश्चात् मारवाड़ी समाज में अनेक सार्वजनिक संस्थाओं का गठन हुआ जिनका उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों में मारवाड़ी समाज को आगे बढ़ाना था, उनमें से कतिपय प्रमुख संस्थाओं का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

(क) मारवाड़ी ऐसोसियेशन, स्थापना-ई० सन् १८९८, प्रमुख कार्यकर्ता—बाबू रंगलाल पोद्दार, प्रमुख उद्देश्य—मारवाड़ियों के व्यापारिक हितों की रक्षा एवं उनमें सामाजिक जागृति हेतु विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन।

में भी एक ओर समाज-सुधार की प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी, तो दूसरी ओर मिथ्या धार्मिक आडम्बरों के विरुद्ध आवाज भी इसी समय उठी और राजनैतिक चेतना जगाने वाली स्वदेशी प्रयोग की लहर ने इसी अवधि में प्रथम बार राजस्थानी समाज को अपने स्पर्श से उद्वेलित किया।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजस्थानी साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ १९०० ई० से ही हुआ है। तब से लेकर आज तक उसमें निरन्तर साहित्य सर्जन का कार्य कभी क्षिप्रगति से तो कभी क्वचित् शिथिलता के साथ होता रहा है। ७१-७२ वर्षों की इस अवधि में देश के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये हैं और उसी के अनुरूप साहित्य में भी परिवर्तनों का दौरदौरा चलता रहा है। आगे विस्तार में हम उन सब स्थितियों पर विचार करेंगे जिनसे राजस्थानी का आधुनिक साहित्य प्रभावित-प्रेरित हुआ है।

इन स्थितियों पर विचार करने से पूर्व एक बात का स्पष्ट हो जाना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि देश के घटनाक्रम में जिस रूप में परिवर्तन एवं उतार-चढ़ाव आये हों, उसी के समानान्तर साहित्य में भी वे सब उतार-चढ़ाव स्पष्ट होते जायें। इसके स्थान पर बहुत से भीतरी एवं बाह्य कारणों के कारण कई बार साहित्य का इतिहास देश के इतिहास से थोड़ा

(ख) मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कामर्स, स्थापना-१९०० ई०, प्रमुख कार्यकर्ता-बाबू रिद्धकरण सुराणा, प्रमुख उद्देश्य-मारवाड़ी समाज के व्यापारिक हितों की रक्षा।

(ग) वैश्य सभा, स्थापना-ई० सन् १९०२, प्रमुख कार्यकर्ता-श्री रामकुमार गोयनका, उद्देश्य-समाज-सुधार एवं सामाजिक प्रगति।

सहायक संस्था—

बुद्धि-वर्द्धिनी सभा (डिबेटिंग क्लब)-इसके सभापति थे-'बंगला हितवादी' के सम्पादक, प्रमुख राष्ट्रवादी विचारक एवं प्रखर विद्वान पण्डित सखाराम गणेश देउस्कर। शिक्षा के लिए मारवाड़ी नवयुवकों को प्रोत्साहित करना इसका प्रमुख उद्देश्य था।

(घ) बड़ा बाजार लाईब्रेरी, स्थापना वि० सं० १९५८, प्रमुख संस्थापक-केशवप्रसादजी मिश्र। यह संस्था आज भी कलकत्ता में कार्यरत है।

(ङ) मारवाड़ी सहायक समिति एवं बाद में मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी-स्थापित १९१३ ई०, यह संस्था अपनी शानदार सेवाओं के कारण आज भारत भर में प्रसिद्ध है।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त भी विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय, रामचन्द्र गोयनका विधवा सहायक फण्ड, मारवाड़ी हिन्दू अस्पताल, आदि दसों संस्थाएं उस समय मारवाड़ी समाज में सक्रिय थी।

स्रोत—'देश के इतिहास में मारवाड़ी जाति का स्थान' : बालचन्द मोदी, प्र० का० वि० सं० १९९६.

१. "इस स्वदेशी आन्दोलन की गूंज राजस्थान के दक्षिण-पश्चिमी भाग में स्पष्ट सुन पड़ी। स्वदेशी प्रचार, शिक्षा विस्तार आदि उद्देश्यों से सन् १९०५ ई० में एक 'सम्प सभा' की स्थापना सिरोही राज्य में हुई थी।"

पूर्व आधुनिक राजस्थान : श्री रघुवीरसिंह, पृ० सं० ३१२

भिन्न रूप में भी प्रस्तुत होता रहा है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ है। इन सत्तर वर्षों की लम्बी अवधि में यह लगभग तीन युगों से गुजरा है—

१. १९०० ई० से १९३० ई०
२. १९३१ ई० से १९५० ई०
३. १९५१ ई० से अद्यतन

१९०० से १९३० ई० तक की अवधि में सर्जित साहित्य में प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों का प्रमुखत्व रहा और उनके द्वारा सर्जित साहित्य ब्रिटिश भारत की राजनैतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल एवं उन प्रदेशों की साहित्यिक गतिविधियों से अधिक प्रभावित रहा।

१९३१ से १९५० ई० के मध्य हम आधुनिक राजस्थानी साहित्य का दूसरा युग प्रारम्भ हुआ मान सकते हैं। इस अवधि में जहाँ प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों का ध्यान क्रमशः अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य की ओर से हटता गया; वहाँ राजस्थान में कतिपय प्रेरक व्यक्तियों के प्रयासों और यहाँ चलती हुई राजनैतिक हलचलों के कारण साहित्य सर्जन की गति में तेजी आयी। साथ ही पारम्परिकता के मोह को तेजी से छोड़ते हुए साहित्य-जगत् के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विचरण में तत्परता दिखलाई गई।

१९५१ ई० से आज तक की अवधि में स्वतन्त्रता-प्राप्ति-जन्य सुविधाओं और साधनों के विस्तार ने साहित्य सर्जन की गति को अपेक्षया काफी तीव्रता प्रदान की और पद्य के समान ही गद्य साहित्य को नाना विधाओं के विकास की शानदार सम्भावनाओं के लिए ठोस धरातल तैयार किया।

इस विवेचन के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यहाँ जिस साहित्य को आधार बनाया गया है—वह केवल प्रकाशित साहित्य ही है। वैसे यह भी ज्ञातव्य है कि पारम्परिक शैली में काव्य रचना करने वाले कवियों की संख्या अब भी काफी बड़ी है, किन्तु प्रथम तो उनका अधिकांश साहित्य अप्रकाशित है और द्वितीय, उनमें युग के परिवर्तित स्वरूप की झलक बहुत कम मिलती है। अधिकांश में वह सामन्ती मनोवृत्ति का ही परिचायक या पोषक है एवं भाषा की दृष्टि से उसका झुकाव प्राचीनता की ओर अधिक रहा है या फिर वह डिंगल का साहित्य रहा है, अतः उस सब पर इस अध्ययन में बहुत कम विचार हुआ है।

१. सर्व प्रथम हम १९०० ई० से १९३० ई० के मध्य सर्जित साहित्य और उसको प्रभावित करने वाली परिस्थितियों पर विचार करते हैं। चूंकि इस अवधि में सर्जित साहित्य का अधिकांश प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों द्वारा सर्जित साहित्य रहा है, अतः पहले ब्रिटिश भारत की विभिन्न इकाईयों में सर्जित इस साहित्य पर ही विचार करते हैं।

ब्रिटिश भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में वर्तमान प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों द्वारा सर्जित साहित्य उन बहुत सारी परिस्थितियों से उपजा रहा है; जिन्होंने वहाँ स्थित राजस्थानी (मारवाड़ी) समाज के चिन्तन एवं जीवन को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। अतः यहाँ संक्षेप में उन स्थितियों की ओर इंगित करना असंगत नहीं होगा।

पहले देश के राजनैतिक इतिहास पर ही विचार करते हैं। १८८५ ई० में स्थापित राष्ट्रीय-कांग्रेस का प्रभाव धीरे-धीरे जनसाधारण पर बढ़ रहा था और उसके नेता लोग अंग्रेजों की न्याय-प्रियता में विश्वास करते हुए समय-समय पर शासन-सुधारों की मांग कर रहे थे, किन्तु १९०० ई० तक इस

दीनताभरी याचनाओं का तात्कालिक ब्रिटिश शासकों पर कोई विशेष असर दृष्टिगत नहीं हो रहा था फलतः कांग्रेस में ही उग्रवादी विचारों के समर्थकों का जोर बढ़ता जा रहा था। उन लोगों को तिलक के रूप में एक बहुत ही ओजस्वी एवं उपयुक्त नेता प्राप्त हो गया था।

१९०३ ई० में दिल्ली दरबार एवं १९०५ ई० में बंग-भंग की घटनाओं ने देश के राजनैतिक जीवन में जबरदस्त हलचलें उत्पन्न कर दी और पूरे बंगाल में बंग-भंग का घोर विरोध करते हुए विदेशी वस्त्रों की होलियां जलाई गई तथा स्वदेशी प्रोत्साहन के लिए नाना कदम उठाये गये। उग्रवादियों की इस नीति को व्यापक जन-समर्थन मिलते हुए भी उन्हें कांग्रेस के उदारवादी नेताओं का विरोध सहना पड़ा और परिणाम-स्वरूप कांग्रेस का विभाजन हुआ जो बाद में एनीबिसेण्ट के प्रयासों से ही रद्द हो सका। उधर प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४ ई०) ने अंग्रेजों को बढ़ती हुई जन-चेतना को रोकने का एक सुनहरा बहाना प्रदान किया; किन्तु दमन से क्रांति की भावना को कुचलना क्या कभी संभव हुआ है? एक ओर तिलक और एनीबिसेन्ट के नेतृत्व में 'होम रूल' की मांग जोर पकड़ती गयी और दूसरी ओर महात्मा गांधी का प्रभाव कांग्रेस में धीरे-धीरे बढ़ता गया। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर कांग्रेस के जो उदारवादी नेता अंग्रेज-सरकार से न्याय और सुधारों की अपेक्षा लिये उनके सहयोग में पूरी तरह जुटे हुए थे, वे ही लोग १९१८ ई० के तथाकथित 'माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार' के प्रकाशन से बहुत निराश हुए और विवश होकर उन्हें विरोध का मार्ग अपनाना पड़ा। उधर अंग्रेजों ने भी युद्ध जीतकर, जीत के मद में जन-आन्दोलन को निर्ममता से कुचलने का अपना इरादा पक्का कर लिया; फलस्वरूप जलियांवाला बाग का नृशंस हत्याकांड हुआ।

अंग्रेजों की इस नियत से विवश, गांधीजी को असहयोग आन्दोलन (१९२०–२१ ई०) छेड़ना पड़ा, जिसमें पहली बार गांधीवादी सिद्धान्तों पर व्यापक जनमत को चलते हुए देखा गया, किन्तु अनेक कारणों से आन्दोलन अपने लक्ष्य को नहीं पा सका और गांधीजी को 'चौराचौरी-काण्ड' के बहाने आन्दोलन वापस लेना पड़ा। परन्तु इससे बढ़ा हुआ जन-असंतोष समाप्त नहीं हुआ। गांधीजी के विचारों से असहमत नेताओं ने 'स्वराज्य-दल' का गठन किया और वे अपने ढंग से अंग्रेजों का विरोध करते रहे। इस अवधि में गांधीजी ने तो अपना ध्यान रचनात्मक कार्यों तक ही केन्द्रित कर लिया, किन्तु इससे देश के राजनैतिक जीवन में गतिरोध नहीं आया। अंग्रेज और अंग्रेजी साम्राज्यवाद विरोधी भावनाएँ दिनों-दिन बढ़ती गयीं। इस बढ़ते हुए असंतोष ने आगामी राजनैतिक जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया।

इस प्रकार १९०० ई० से १९३० ई० तक की इस अवधि में घटित इन प्रमुख घटनाओं का जन-साधारण पर दो दृष्टियों से व्यापक प्रभाव पड़ा। प्रथम, उन्होंने स्वदेशी के महत्त्व को समझा जिससे अंग्रेजी सभ्यता के प्रति उनके मन में जो एक मोह एवं अपने प्रति जो हीनता का भाव था वह काफी हद तक दूर हुआ। दूसरे शब्दों में उनमें आत्म-सम्मान का भाव जगा। दूसरा जो प्रभाव दृष्टिगत होता है, वह है उनमें आत्मावलोकन की प्रवृत्ति का बढ़ना। समय-समय पर किये गये आन्दोलनों और उनकी विफलताओं ने उन्हें इस विषय पर सोचने को मजबूर किया कि आखिर वे कौनसी कमजोरियां हैं जिनके कारण विपुल जन शक्ति वाले भारतीय मुट्ठी भर अंग्रेजों से अपनी बात नहीं मनवा पा रहे हैं? फलस्वरूप उन्होंने और तेजी से अपने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को सक्षम और पूर्ण बनाने हेतु अनेक आवश्यक परिवर्तनों को स्वीकार किया।

इस प्रकार भारतीय समाज में बढ़ते हुए आत्म-सम्मान के भाव और आत्मावलोकन की प्रवृत्ति के दर्शन तात्कालिक साहित्य में भी बराबर होते हैं। राजस्थानी साहित्य भी इन सबसे अछूता नहीं बचा है। उसने भी स्वदेशी के समर्थन और विदेशी के बहिष्कार हेतु अपनी वाणी बुलन्द की। चूंकि प्रवासी राजस्थानी समाज का मुख्य सम्बन्ध व्यापार-व्यवसाय से ही था; अतः इन प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों ने भी देशी उद्योग-धन्धों के विकास की बात पर विशेष बल दिया। किन्तु साथ-ही-साथ उन्होंने एक राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता एवं हिन्दी की उसके लिए उपयोगिता, प्रान्तीय या क्षेत्रीय अहंमन्यताओं की समाप्ति एवं उसके स्थान पर एक राष्ट्रीय स्वरूप के निर्माण और देश में सही जनतंत्र हेतु शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार की आवश्यकता आदि तात्कालिक प्रमुख राष्ट्रीय समस्याओं पर भी अपने विचार प्रस्तुत कर साधारण जन को इस दिशा में सोचने को प्रेरित किया।[1]

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि तात्कालिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं समस्याओं पर जिस उदार एवं व्यापक दृष्टि का परिचय देते हुए श्री शिवचन्द्र भरतिया ने अपनी रचनाओं में विस्तार से विचार किया है, उस उदार एवं व्यापक दृष्टि का परिचय उनके अन्य समसामयिक या परवर्ती प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों ने नहीं दिया। उनमें आत्मावलोकन की प्रवृत्ति के दर्शन अवश्य होते हैं किन्तु उन्होंने अपना ध्यान मारवाड़ी समाज की आवश्यकताओं तक ही विशेष रूप से सीमित रखा। दूसरे शब्दों में यदि यह कह दें कि उन्होंने केवल समाजोत्थान की भावना से ही प्रेरित होकर लिखना प्रारंभ किया तो अनुचित नहीं होगा।

यहाँ सहज ही मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आखिर अधिकांश प्रवासी राजस्थानी साहित्यकार केवल अपने समाज और उसकी तात्कालिक समस्याओं के दायरे तक ही सीमित क्यों रहे? जब इस तथ्य पर विचार करते हैं तो हमें एक बार अपना सारा ध्यान प्रवासी राजस्थानियों की समस्याओं तक ही केन्द्रित करना पड़ता है।

---

१. (क) चीजां हुन्नर सूं बणाकर धणी बेचो सदा।
माया ने परदेस सूं धन खेंचे भेजो, करो सामदा॥
रक्षा करो धरम की, निज देस की ही,
सस्ती मिलो न मंहगी, न भली बुरी ही।
ल्यो देस की वणि हुई निज चीज सारी,
दीजो न अन्य, करणा निज की गुवारी॥

सुमित्रा, 'फाटका जंजाल' नाटक

शिवचन्द्र भरतिया: किरण नाहटा, पृ० सं० ७

(ख) "हम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू-मुसलमान-पारसी, गुजराती, बंगाली, मद्रासी, मारवाड़ी, महाराष्ट्री इत्यादि हैं—ऐसा परिचय न देकर हम एक मात्र भारतीय हैं ऐसा परिचय देना चाहिए।"

(फाटका जंजाल, पृ० सं० ११)

वही, पृ० सं० ७

यह तो सर्वविदित है ही कि राजस्थान के ये मारवाड़ी व्यापारी आर्थिक कारणों से राजस्थान से दूर, सुदूर प्रान्तों में अनेक संघर्षों के मध्य गुजरते हुए अपने व्यापार को जमाने और फैलाने की ही दृष्टि से यहाँ बसे थे। बहुत वर्षों तक ये लोग अपने व्यावसायिक जगत् तक ही सीमित रहे। एक ओर ये अपने पूर्वजों की परम्पराओं और रूढ़ियों से ज्यों-के-त्यों चिपके रहे और दूसरी ओर अधिक से अधिक धन अर्जित करना ही इनका एकमेव लक्ष्य रहा। फलतः भारत मे पुनर्जागरण की प्रथम लहर के समय ये लोग अपने आसपास के सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों से लगभग सर्वथा अछूते ही रहे। इधर शिक्षा की ओर ध्यान न देने के कारण तथा बदली हुई स्थितियों की उपेक्षा करने के साथ-ही-साथ बढ़ते हुए पैसे के कारण इनके मध्य अनेक आडम्बरपूर्ण एवं प्रतिगामी परम्पराओं ने भी अपना घर कर लिया था। प्रारम्भ मे जो प्रवासी मारवाड़ी अपनी सूझ-बूझ, साहस और मेहनत के कारण इतर प्रान्त-वासियों के मध्य अपनी प्रतिष्ठा एवं व्यापारिक धाक जमाने में सफल हुए थे, वह उपर्युक्त सब कारणों से समाप्त हो गई। अपने इन्हीं अवगुणों के कारण वे स्थानीय लोगों की दृष्टि में गिरे ही नहीं अपितु पैसा होने के बावजूद भी बराबर तिरस्कृत एवं अपमानित भी हुए।[1]

ऐसी अवस्था मे मारवाड़ी समाज के कतिपय प्रगतिशील विचारों के युवकों ने जब अपने समाज की तात्कालिक दुर्दशा पर गहनता से विचार किया तो उन्हें एक-एक कर अपने समाज की अनेक कुरीतियाँ दृष्टिगत हुई। फलस्वरूप उनके मन में एक ओर यह संकल्प जगा कि हम अपने समाज को जागृत करने के लिए भरपूर प्रयत्न करेंगे और दूसरी ओर उन्होंने व्यावहारिक जीवन में उन सब बातों को अपनाना शुरू किया, जिसके सहारे पतनोन्मुखी मारवाड़ी समाज को ऊपर उठाया जा सके। इस प्रकार मारवाड़ी समाज के प्रगतिशील युवकों की यह आत्म-व्यथा एवं तज्जन्य क्रियाशीलता तो उनके उत्थान का प्रमुख कारण बनी ही, किन्तु साथ-ही-साथ उन प्रान्तों का सामाजिक, शैक्षणिक एवं साहित्यिक वातावरण भी उनके लिए एक प्रेरणा स्रोत बना।

इन सब बातों के अतिरिक्त उन गैर-मारवाड़ी लोगों ने भी, जो कि व्यापारिक या अन्य कारणों से मारवाड़ियों के निकट सम्पर्क में थे और हृदय से मारवाड़ियों का उत्थान चाहते थे, मारवाड़ी समाज में सामाजिक चेतना उत्पन्न करने और राष्ट्रीय संस्कार भरने की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किया। एक ओर पंडित सखाराम गणेश देउस्कर, पंडित छोटेलाल एवं माधव मिश्र जैसे गैर-मारवाड़ी निरन्तर मारवाड़ियों को विभिन्न सुधारों की प्रेरणा देते रहे और दूसरी ओर मारवाड़ियों के पैसे से संचालित या किसी-न-किसी रूप में मारवाड़ियों से सम्बन्धित उस समय के हिन्दी के 'भारत मित्र',

---

१. "बमोई ओर बीजा आजू बाजू रा प्रान्त मांहे 'मारवाड़ी' ये चार अक्षर इतना सूगला और घृणित हो रया छै, के 'ज्यालक' यहूदी रे नावरा अक्षर भी इण रे आगे कुछ नहीं। बमोई के मांहे साधारण गाड़ी रो कोचमान भी 'ए मारवाड़ी बाजू सरक' करने पुकारनो। उठी ने हलका आदमी री उपमा 'हा पक्का मारवाड़ी आहे' अर्थात् ओ पक्को मारवाड़ी छै—इसी हो रही छै। उठी ने गाव खेडा मांहे म्हे देख्यो छै के आछा-आछा सा लखपति मारवाड़ी ने एक साधारण सरकारी चपरासी आसी तो हलको शब्द बोलकर कचेरी में से उठासी। घणा री तो दूर साधारण किरसाण कुटुंबी उण री आसमी भी गाल बेलकर-कर सामने आसी।"

भूमिका 'कनक सुन्दर'

शिवचन्द्र भरतिया: किरण नाहटा, पृ० सं० १०–११

'वैश्योपकारक', 'मारवाड़ी-बन्धु' जैसे पत्रों ने मारवाड़ियों की सामाजिक कुरीतियों को मिटाने और शिक्षा तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति उनका आकर्षण जगाने के लिए भी प्रशंसनीय कार्य किया। इन गैर-मारवाड़ी सुधारकों और पत्रों का मारवाड़ी समाज में रुचि लेने का मुख्य कारण, जहाँ उनके हृदय की सद्वृत्ति एवं मारवाड़ियों से निकट सम्पर्क के कारण उनके साथ एक प्रकार का मधुर लगाव हो जाना रहा, वहाँ दूसरी ओर ये लोग इस दिशा में सोद्देश्य प्रवृत्त हुए थे। विशेष रूप से 'देउस्कर' जैसे प्रबल राष्ट्रवादी विचारकों ने तो आर्थिक दृष्टि से मारवाड़ी समाज को बहुत सम्पन्न समझकर उसके धन और प्रतिभा को राष्ट्रहित की दिशा में मोड़ने के लिए ही उसके मध्य कार्य करना स्वीकार किया था।

इन सब कारणों से मारवाड़ी समाज में जागृति की जो एक नयी हलचल पैदा हुई उसे सही दिशा देने के लिए मारवाड़ी समाज के कतिपय प्रमुख विचारशील विद्वानों ने मारवाड़ी समाज के मध्य शिक्षा-प्रचार की सर्वाधिक आवश्यकता महसूस की। शिवचन्द्र भरतिया एवं भगवतीप्रसाद दारूका जैसे विचारकों ने इस बात को भी बड़ी गहराई से महसूसा कि समाज-सुधार का साहित्य से अधिक सशक्त और उपयुक्त माध्यम अभी और कोई नहीं है। अतः उन्होंने ऐसे मनोरंजक और शिक्षाप्रद साहित्य-सर्जन का कार्य शुरू किया जो कि 'सुगर कोटेड' दवा की तरह मीठा पर असरकारक हो। यही कारण है कि उस समय जिस साहित्य की रचना हुई उसमें नाटकों की संख्या सर्वाधिक रही। क्योंकि तात्कालिक परिस्थितियों में जनसाधारण में अपने विचारों के प्रसारण की दृष्टि से साहित्यकार के लिए नाटक सबसे अधिक उपयुक्त विधा थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में नाटकों के प्राधान्य का भी यही कारण रहा है। चूंकि नाटक को अभिनीत कर अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित लोगों के मध्य भी अपने विचारों को बड़ी आसानी से प्रचारित किया जा सकता है और विभिन्न पात्रों के मुख से या उनके कार्यकलापों के माध्यम से प्रमुख समस्याओं पर जिस प्रभावी ढंग से प्रकाश डाला जा सकता है, वैसा अन्य किसी विधा में संभव नहीं है; अतः समाज-सुधार को ही अपना प्रमुख उद्देश्य मान कर चलने वाले प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों ने नाटक की ओर ही विशेष रूप से ध्यान दिया। यह बात दूसरी है कि नाटकों में केवल समाज-सुधार के बिन्दु पर सर्वाधिक रूप से ध्यान केन्द्रित किये जाने के कारण, उनके कलात्मक संवरण का पक्ष सर्वथा उपेक्षित रहा।

इस समय के प्रमुख साहित्यकारों ने जिन समस्याओं और विषयों का चयन किया, उनमें अधिकांश—बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, अशिक्षा, फिजूल-खर्ची, आडम्बर, सट्टा-फाटका, स्त्री-शिक्षा, दहेज एवं मौसर आदि—सामाजिक जीवन की तात्कालिक कुरीतियों तथा आवश्यकताओं से ही संबंधित थे। इसी हेतु रचनाओं के नाम[1] भी अधिकांश में उन

---

१. बुढ़ापा की सगाई नाटक : शिवचन्द्र भरतिया
फाटका जंजाल नाटक : शिवचन्द्र [illegible]
बाल विवाह नाटक : भगवतीप्रसाद [illegible]
वृद्ध विवाह नाटक : भगवतीप्रसाद [illegible]
मारवाड़ी मोसर पर सगाई जंजाल ना[illegible]
इनके अतिरिक्[illegible] . [illegible] समय में [illegible]
प्रकार समा[illegible] [illegible] [illegible] है।

समस्याओं के आधार पर ही हुए। इस प्रकार इन कृतियों का मुख्य स्वर समाज-सुधार ही रहा। फलतः इन रचनाओं में किसी एक या एकाधिक सामाजिक कुरीतियों को आधार बनाया गया है और उनके भयानक परिणामों का विस्तार से अंकन हुआ है। इन रचनाओं में लेखकीय पक्ष को अधिक सबल बनाने की दृष्टि से एक ऐसे आदर्श पात्र या परिवार की सृष्टि की गई है, जो उन सब कुरीतियों का त्याग करने के कारण अधिक सुखी और सन्तुष्ट जीवन यापित करता रहा है। इस प्रकार की दुहरे कथानकवाली इन रचनाओं में एक के त्याग और दूसरे के स्वीकार की प्रेरणा पाठकों को दी गयी है। श्री शिवचन्द्र भरतिया, श्री भगवतीप्रसाद दारूका, श्री गुलाबचन्द्र नागौरी एवं श्रीनारायण अग्रवाल प्रभृति उस समय के सभी प्रमुख प्रवासी राजस्थानी लेखकों की रचनाओं में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित की जा सकती है।

यहां तक तो मुख्य रूप से प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों द्वारा सर्जित साहित्य और उसको प्रभावित करने वाली स्थितियों पर ही विचार हुआ है। आगे इसी दृष्टि से, इस अवधि में राजस्थान में सर्जित साहित्य पर भी विचार करते चलते हैं। चूंकि इस अवधि में राजस्थान में सर्जित अधिकांश साहित्य या तो परम्परावादी रहा है या फिर प्रेस-नियंत्रण की कठोरताओं और साधनों की अति सीमितता के कारण अप्रकाशित ही रहा है, अत उसमें तात्कालिक जीवन की जीवन्त झांकी नहीं मिलती। फिर भी जो थोड़ा बहुत साहित्य सामने आ पाया है, उससे तात्कालिक जीवन के स्वरूप और स्थिति का तो अनुमान किया ही जा सकता है।

इस अवधि (१६०० ई० से १६३० ई० तक) का राजस्थान का राजनैतिक इतिहास ब्रिटिश भारत के हलचलों भरे राजनैतिक इतिहास की अपेक्षा काफी स्थिर रहा है। ब्रिटिश भारत की जनता में राजनैतिक दृष्टि से जो जागृति इन तीस वर्षों में दिखलाई पड़ती है, राजस्थानी जनता में उसका एक सीमा तक अभाव मिलता है। इसके कई कारण रहे हैं। एक तो राजाओं के प्रति जन-साधारण की पारम्परिक श्रद्धा ने यहां ऐसे किसी आन्दोलन या ऐसी किसी विचारधारा को तेजी से नहीं पनपने दिया जो कि सीधी राजशाही पर प्रहार करती। द्वितीय, राजाओं के कठोर नियन्त्रण एवं दमनकारी शासन के कारण भी ऐसे प्रगतिशील विचारों के प्रसार का अवसर यहां बहुत कम था और तृतीय, शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से तो राजस्थान की स्थिति और भी अधिक दयनीय थी। अजमेर जैसे अंग्रेजों के सीधे नियन्त्रणवाले क्षेत्र में या फिर जयपुर, जोधपुर जैसी रियासतों में ही आधुनिक शिक्षा का थोड़ा बहुत प्रसार था और उनका दायरा भी उन नगरों की सीमा तक ही सीमित था। अतः यहां साधारण व्यक्ति ब्रिटिश भारत की तुलना में वैचारिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ था। ऐसी स्थिति में प्रजातान्त्रिक विचारों के प्रचार-प्रसार की गुंजाइश यहां काफी कम थी और उस पर भी कठोर प्रेस-नियन्त्रण तथा अखबार एवं पत्र-पत्रिकाओं को प्रारम्भ से ही सन्देह की नजर से देखने का राजशाही का रवैया वातावरण को बहुत विषम बनाये हुए था। इस सब के बावजूद भी पाश्चात्य शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण वैचारिक जगत् में उत्पन्न हो रही हलचल को रोकना तथा ब्रिटिश भारत के राजनैतिक आन्दोलनों के प्रभावों से यहां के जनसाधारण को सर्वथा अलग-थलग रखना यहां के शासकों के लिए संभव नहीं था। फलतः यहां भी शनैः शनैः निरंकुश राजशाही के विरुद्ध आवाजें उठने लगी और जनता शोषण एवं अत्याचारों से मुक्ति की मांग करने लगी।

१९०० ई० से १९१५ ई० तक की अवधि में गुप्त क्रांतिकारियों का राजस्थान में सक्रिय होने का अभियान भी यहां के सुप्त स्वाभिमान को झकझोरने में लगा रहा, जिसके कुछ तात्कालिक परिणाम भी सामने आये। इस दृष्टि से श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा अरविन्द घोष का राजस्थान में कुछ समय तक प्रवास और क्रांति के अनुकूल वातावरण निर्माण का प्रयास एवं रासबिहारी जैसे ख्यातनामा क्रांतिकारी का राजस्थान के कतिपय अंग्रेज विरोधी व्यक्तित्वों से सम्पर्क विशेष उल्लेखनीय बन पड़ा है। इन लोगों के सान्निध्य एव प्रयासों से राजस्थान में जो थोड़े बहुत शस्त्र क्रांति के समर्थक उत्पन्न हुए, उन्होंने देश के लिए अपना सर्वस्व होम देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। इस दृष्टि से कोटा के श्री केसरीसिंह बारहठ का नाम एवं काम अविस्मरणीय है। अपने क्रांतिकारी एवं स्वतन्त्र विचारों के कारण इन्हें स्वयं तो लम्बे समय तक कारावास की सजा भुगतनी ही पड़ी, किन्तु साथ-ही-साथ इनके पुत्र प्रतापसिंह को 'लार्ड हार्डिंग' पर फेंके गये बम के अभियोग में अंग्रेजी जेल में ही कठोर यातनाओं के कारण मृत्यु से साक्षात्कार करना पड़ा। यही नहीं ठाकुर केसरीसिंह के भाई जोरावरसिंह को भी इसी कारण फरार होकर आजीवन भटकते रहना पड़ा। इसी संदर्भ में खरवा के राव गोपालसिंह, ब्यावर के सेठ दामोदर प्रसाद राठी एवं राजस्थान के बाहर से आकर राजस्थान को ही अपनी क्रीडास्थली बनाने वाले युवक भूपसिंह (आगे चलकर विजयसिंह पथिक) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के प्रयासों से यहां गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन कुछ बढ़ा, किन्तु १९१५ ई० में अखिल भारतीय शस्त्र-क्रांति की योजना के विफल होने के साथ ही राजस्थान के सभी प्रमुख क्रांतिकारी गिरफ्तार कर लिये गये और इसके साथ ही राजस्थान में सशस्त्र क्रांति के प्रयासों का एक प्रकार से अन्त हो गया। चूंकि एक तो इन क्रांतिकारियों की संख्या काफी कम रही एवं द्वितीय, उनकी कार्य-प्रणाली सर्वथा गुप्त एवं प्रच्छन्न रूप से संपादित होती थी, अतः यहां के जनसाधारण पर उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता, फिर भी 'चेतावणी रा चूंगट्यां'[1] जैसे इतिहासप्रसिद्ध दोहों के सर्जन का श्रेय क्रांतिकारियों के इस प्रभाव को ही दिया जा सकता है।

सशस्त्र क्रान्ति के इन प्रयासों की अपेक्षा इन तीस वर्षों की अवधि में राजस्थान के जन-जीवन को प्रभावित करने वाली दो अन्य महत्वपूर्ण घटनाएँ रही हैं—वे हैं बिजोलिया एवं बेगूं के किसानों के

---

१. उदयपुर के महाराणा फतहसिंह जब १९०३ ई० में दिल्ली दरबार में भाग लेने जा रहे थे, तब राजस्थान के स्वाभिमानी बारहठ केसरीसिंह ने 'चेतावणी रा चूंगट्या' नाम से तेरह दोहे कहकर महाराणा फतहसिंह को अपने वंश की शौर्य एवं स्वाभिमान की परम्पराओं का स्मरण कराते हुए, दरबार में सम्मिलित होने से रोक लिया था। उन्हीं सोरठों में से एक उदाहरणार्थ यहां प्रस्तुत हैं :—

ओरां ने आसान, हाथां हरवळ हालणो।
किम हालै कुळ राण, हरवळ साहां हांकिया॥
नरियंद सह नजराण, झुक करसी सरसी जिका।
पसरेलो किम पाण, पाण छतां थारो फता॥
सबळ चढावै सीस, दान धरम जिण रो दियो।
रळणो पगत राह, फाबे किम तोने फता॥

आधुनिक राजस्थानी साहित्य : भूपतिराम साकरिया, पृ० सं० ४५

जागीरदारी अत्याचारो एव शोषण के विरुद्ध किये गये लम्बे संघर्ष । इतिहास को नयी दिशा प्रदान करने वाले इन आन्दोलनो की भी बड़ी करुण कहानी रही है । राजस्थान में राजाओं के निरंकुश शासन से जनता जितनी परेशान नहीं थी उससे कहीं अधिक वह स्थानीय जागीरदारों के दमन एवं अत्याचारों से पीड़ित थी । यहाँ किसान अकल्पनीय गरीबी और अपमान, प्रताड़ना एव तिरस्कार की जिस भीषण आग मे जलता रहता था, उसके लिए भूमि का भारी लगान, सूदखोर बनियों का जोंक की तरह उन्हें चूसते रहना और बेगारी तथा लाग-बाग की प्रथाएँ जिम्मेदार थीं । उन पर यह अत्याचार इस सीमा तक बढ़ गया था कि किसान लोग खून-पसीना एक कर जिस फसल को उगाते थे, उसका कुल १३ प्रतिशत ही उनके हाथ लगता था, शेष सब राजकोष या जागीरदारों के हाथों मे चला जाता था ।[1] इस प्रकार की स्थिति मे किसानों के लिए निर्वाह करना कितना कठिन था, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । राजस्थान के सभी रजवाड़ो मे किसान की स्थिति आमतौर पर ऐसी ही थी । ऐसी स्थिति में बिजोलिया में (मेवाड़-राज्य) भूख और बेगारी के मारे किसानों ने विवश होकर ठिकाने के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया । सौभाग्य से उसी समय भूपसिंह, विजयसिंह पथिक का नाम धारण कर यहाँ आकर इस आन्दोलन का नेतृत्व करने लगे । लम्बे समय तक यह संघर्ष चलता रहा । विजयसिंह पथिक के नेतृत्व एवं प्रयासों के कारण ही देश के समाचार-पत्रो में स्थान पा सकने में सफल होकर इस आन्दोलन ने सर्वप्रथम राजस्थान की देशी रियासतों की ओर लोगों का ध्यान खींचा । फलस्वरूप आन्दोलनकारियों की संगठित शक्ति और बढ़ते हुए जन समर्थन ने अन्ततोगत्वा १९२२-२३ ई० मे आन्दोलनकारियो की बहुत सी मांगें मानने को सत्ताधारियों को विवश किया ।

इस आन्दोलन मे जहाँ एक ओर स्थानीय लोगों की दृढ़ता एव जातीय-व्यवस्था ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, वहाँ दूसरी ओर मेवाड़ी में लिखे गये ओजस्वी गीतों ने जन-जागृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया । इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर 'ऊपर माळ को डंको'[2] नामक मेवाड़ी की एक हस्तलिखित पत्रिका निकाली गयी । इस प्रकार जन-जागृति के लिए साहित्य को एक माध्यम के रूप में अपनाया गया । साहित्य और राजनीति का यह सम्बन्ध आगे तो और भी घनिष्ठ होता गया । इसके पश्चात् राजस्थान में जहाँ-जहाँ भी राजशाही के विरुद्ध आन्दोलन हुए, वहाँ-वहाँ लोक-चेतना को उद्बुद्ध करने की दृष्टि से सामयिक गीतों का विशेष रूप मे प्रयोग हुआ । बिजोलिया के इस आन्दोलन का असर अन्य पड़ौसी हलकों पर भी पड़ा और परिणामस्वरूप 'भोमट' एवं 'बेगूं' में वहाँ के स्थानीय लोगों ने जागीरी अत्याचारों एव शोषण के विरुद्ध आवाज बुलन्द की । इस क्षेत्र में नेतृत्व का भार भील नेता

---

१. "हिसाब लगाने पर पता चला था कि बिजोलिया के किसान को लगान और लागतें चुकाने के बाद जमीन की पैदावर में सिर्फ १३ फी सदी के करीब बचता था ।"
वर्तमान राजस्थान (सार्वजनिक जीवन के संस्मरण), श्री रामनारायण चौधरी, पृ० स ८१

२. "बिजोलिया के रचनात्मक काल में मेरे निकट के सहायक साधु सीतारामदास जी थे । इन्होंने मेवाड़ी भाषा मे एक हाथ का लिखा साप्ताहिक पत्र भी निकाला, जिसका नाम 'ऊपर माळ को डंको' रखा गया । उसकी हर चोट की गूंज भी सभी सत्याग्रही क्षेत्रों मे होने लगी ।"
वर्तमान राजस्थान : रामनारायण चौधरी, पृ० स० ९८-९९,

मोतीलाल तेजावत नामक एक वणिक् युवक ने सम्भाला, जो अनेक कष्ट सहते हुए भी इस आन्दोलन को निरन्तर गति प्रदान करता रहा।

बिजोलिया, बेगूं और भोमट के इन संगठित आन्दोलनों के अतिरिक्त भी इस अवधि में राजस्थान में राजनैतिक जागरूकता लाने की दृष्टि से कई कार्य हुए। उनमें 'राजस्थान सेवा संघ' की स्थापना (१६२१ ई०), 'राजस्थान केसरी', 'तरुण राजस्थान', 'राजस्थान संदेश', 'त्यागभूमि' आदि पत्रों का प्रकाशन एवं 'राजस्थान चर्खा-संघ' की स्थापना आदि उल्लेखनीय बातें हैं।

१६०० ई० से १६३० ई० तक की राजस्थान की राजनैतिक स्थिति की चर्चा में अर्जुनलाल सेठी की चर्चा न करना अधूरा विवेचन होगा। अपने सात्विक एवं कठोर परिश्रमी जीवन के साथ उनमें जो उत्कट देशभक्ति की भावना थी, उसने रामनारायण चौधरी जैसे बहुत से युवकों को आजादी के संघर्ष में कूद पड़ने को तैयार किया।

इस प्रकार १६०० ई० से १६३० ई० के मध्य राजस्थान के राजनैतिक जीवन में कई आन्दोलन गुजरे और वैयक्तिक-स्तर पर या कि भिन्न-भिन्न माध्यमों से जन-जागृति एवं राजनैतिक चेतना उत्पन्न करने की दृष्टि से कई प्रयास हुए, किन्तु ऐसे प्रयासों में आपसी तालमेल न बैठ पाने और प्रान्त-स्तरीय किसी एक प्रभावी नेता के न पनपने के कारण उनका अपेक्षित प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता।

यह तो हुआ १६३० ई० तक की राजनैतिक हलचलों और उनका जीवन तथा साहित्य पर पड़े प्रभावों का अंकन। अब एक दूसरे क्षेत्र की ओर दृष्टिपात करते हैं, जिसने इन राजनैतिक आंदोलनों की अपेक्षा जनसाधारण को अधिक दूर तक प्रभावित किया। वह था दयानन्द, विवेकानन्द प्रभृति मनीषियों का धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों से सम्बन्धित आन्दोलन। इनमें भी स्वामी दयानन्द के आन्दोलन का प्रभाव कुछ अधिक स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है, क्योंकि उन्होंने राजस्थान की विभिन्न रियासतों में घूम-घूम कर समाज-सुधार और धार्मिक पाखण्डों के परित्याग के लिए काफी प्रयत्न किया था। स्वामीजी के इन प्रयासों का परिणाम जानने से पूर्व यहाँ के धार्मिक एवं सामाजिक जगत् की तात्कालिक परिस्थितियों पर विहंगम दृष्टिपात करना आवश्यक है।

राजस्थान के धार्मिक जगत् में वर्षों से किसी प्रेरक व्यक्तित्व के आविर्भाव के अभाव में एक ऐसी स्थिरता आ गई थी जो युगानुकूल परिवर्तन के अभाव में कुछ-कुछ सड़ांध उत्पन्न करने लगी थी। बाह्य आडम्बरों का तो प्राधान्य था ही किन्तु धर्म के ध्वजाधारी कहलाने वाले साधुओं के आचरण में भी शिथिलता एवं स्खलन का जो दौरदौरा चल रहा था—वह सामाजिक जीवन को और अधिक विकृत किये दे रहा था। ऐसी स्थिति में स्वामी दयानन्द ने लोगों को अपने धर्म का सही मर्म समझाने का प्रयास किया और फलस्वरूप ऊमरदान लालस जैसे साहित्यकारों ने वस्तुस्थिति से साक्षात्कार कर बड़ी निर्भीकता से धर्म के नाम पर पाखण्ड फैलाने वाले लोगों का पर्दाफाश किया।[1]

धार्मिक जीवन की भांति यहाँ का सामाजिक जीवन भी अनेकानेक रूढ़ परम्पराओं एवं कुरीतियों का शिकार बनकर पंगु बन चुका था। बाल-विवाह, कन्या-विक्रय, पर्दा-प्रथा, अशिक्षा जैसी

१. इस दृष्टि से श्री ऊमरदान लालस कृत 'ओरे संता री गुमासी' और 'मतवालां री मारगी' नामक कविताएँ (ऊमर काव्य, पृ० सं० १११ एवं ११३, तृतीय संस्करण) द्रष्टव्य हैं।

अनेक व्याधियों से यहां का सामाजिक जीवन ग्रस्त था। शासकों की विलासी और ऐय्याशी प्रवृत्ति के अनुरूप ही यहां का सामान्यजन भी वासना के पंक में डूबा, विश्व की प्रगति से अनभिज्ञ बना, अज्ञान और विलासिता के क्षय से ग्रस्त था। ऐसी स्थिति में एक ओर तो यहां के कतिपय शिक्षित लोगों ने अपने समाज की तात्कालिक दुर्दशा पर मनन कर उसे दूर करने का व्रत लिया और दूसरी ओर स्वामी दयानन्द जैसे सुधारकों के प्रबल प्रयासों से जनसाधारण ने भी अपनी स्थिति पर सोचना शुरू किया। उधर नवयुग की रोशनी से परिचित प्रवासी राजस्थानी बन्धुओं ने भी अपने प्रान्त के लोगों को इस दृष्टि से सजग करने हेतु धर्म-प्रचारकों और समाज–सुधारकों को यहां प्रचार हेतु भेजना प्रारंभ किया। इन सब प्रयासों का असर धीरे-धीरे दृष्टिगत होने लगा और जातीय पंचायतों के माध्यम से सुधारवादी विचारों का प्रसार किया जाने लगा। तात्कालिक साहित्य में भी हमें ऐसे प्रयत्नों के बढ़ते हुए प्रभाव के दर्शन स्पष्ट रूप से होते हैं। 'सीठणों' (अश्लील गालियों) के स्थान पर 'शुभ' और 'चोखे' गीतों के संग्रह निकलने लगे और 'गाली-संग्रहों' का स्थान 'सभ्य गाली सग्रह' लेने लगे।[1] नाटक एवं एकांकी के सहारे भी तात्कालिक सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करने की प्रवृत्ति इस काल के अंतिम चरण में पनपने लगी।[2]

कुल मिलाकर राजस्थान में १६०० ई० से १६३० ई० तक का समय नवयुग से साक्षात्कार का समय था। शताब्दियों से चली आ रही राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं की परिवर्तित कालचक्र के सन्दर्भ में प्रमाणित हुई व्यर्थता की ओर लोगों का ध्यान इस अवधि में पहली बार आकर्षित हुआ। फलस्वरूप उनके हृदय में भी परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन के भाव जगने लगे।

२. १६३१ ई० से १६५० ई० के मध्य राजस्थान के राजनैतिक जीवन की हलचल काफी तेज हो गयी।[3] अब राजशाही के विरुद्ध संघर्ष का क्षेत्र अजमेर–मेरवाड़ा या मेवाड़ की कतिपय जागीरों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा आदि प्रमुख शहरों में भी स्थानीय नेताओं के उदय के साथ-साथ फैल चुका था। राजस्थान की भिन्न-भिन्न रियासतों में जहाँ क्षेत्रीय नेताओं के नेतृत्व में सुधारों की मांग जोर पकड़ने लगी, वहीं देश के राजनैतिक आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली कांग्रेस पार्टी ने भी देशी रियासतों को अपने कार्यक्षेत्र में लेकर, यहां भी अपनी सरगर्मियाँ तेज करदी।

इसी अवधि में सन् १६३८ के हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में देशी राज्यों के सम्बन्ध में उसने अपनी एक निश्चित नीति निर्धारित की, फलस्वरूप राजस्थान के राजनैतिक जीवन में काफी तेजी आयी एवं शेष भारत के साथ उसका सम्बन्ध और घनिष्ठ हुआ। विभिन्न रियासतों में प्रजा-मण्डलों का गठन हुआ और अखिल भारतीय देशी राज्य-लोक-परिषद् के अध्यक्ष पद पर पंडित जवाहरलाल नेहरू का चयन कर देशी राज्यों को कांग्रेस के और अधिक निकट लाया गया। इन सब बातों का अवश्यम्भावी परिणाम

---

१. सभ्य गाली संग्रह, जिसको सामाजिक सुधारार्थ जोधपुर निवासी बिस्सा जेठमल ने········ कुलीन·········· स्त्री-पुरुषों के लिए छपाकर प्रसिद्ध किया। प्रकाशन काल – १६१५ ई०

२. जयपुर की ज्योणार (प्रथम खण्ड) : पंडित मदनमोहन सिद्ध।
प्रकाशन काल वि० सं० १६८५ (१६२८ ई०)

३. यद्यपि अपने देश को अगस्त १६४७ ई० में ही अंग्रेजों की दासता से मुक्ति मिल गयी थी, किन्तु राजस्थान में देशी राज्यों से सत्ता हस्तान्तरण का कार्य अप्रेल १६४६ ई० से पूर्व पूरी तरह सम्भव नहीं हो सका, अतः यहां हमने इस द्वितीय काल की सीमा १६४७ की बजाय १६५० ई० मान रखी है।

यह निकला कि अब यहां राजशाही के विरुद्ध संघर्ष का धरातल व्यापक हो चला और साथ-ही-साथ प्रतिक्रिया स्वरूप दमन-चक्र की गति भी बढ़ चली। एक ओर वैयक्तिक गिरफ्तारियों, प्रताड़नाएँ और राजनीति प्रेरित हत्याओं का दौरदौरा चला[1] और दूसरी ओर नृशंस सामूहिक हत्याकाण्ड भी हुए।[2] इन सब दमनकारी प्रयासों से जन-चेतना को दबाया नहीं जा सका, इसके विपरीत आन्दोलन को और अधिक गति मिली। १६३० ई० तक जहां इस क्षेत्र में इने-गिने नेता लोग थे, वहां इस अवधि में जयनारायण व्यास, हीरालाल शास्त्री, माणिक्यलाल वर्मा, हरिभाऊ उपाध्याय, सागरमल गोपा, रघुवीरदयाल गोयल, नयनूमल, लाधूराम, गोकुललाल असावा, बाबा नृसिंहदास जैसे पचासों आन्दोलनकारियों (नेताओं) ने पत्र-पत्रिकाओं, सामूहिक-प्रदर्शनों, निषेधाज्ञाओं के उल्लंघन एवं अन्य कारगर उपायों से परतंत्रता के विरुद्ध संघर्ष की ज्योति को प्रज्वलित किये रखा।

जनतंत्र की स्थापना हेतु चल रहे इस संघर्ष को विद्रोही प्रवृत्ति के साहित्यकारों ने भी पूर्वापेक्षा काफी अधिक सहयोग प्रदान किया। जयनारायण व्यास, गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद', माणिक्यलाल वर्मा, हीरालाल शास्त्री, सुमनेश जोशी जैसे कवि और गीतकारों ने अपनी ओजस्वी रचनाओं से जन–जागृति

---

१. इन राजनीति प्रेरित हत्याओं के जो व्यक्ति शिकार बने उनमें जोधपुर के श्री बालमुकन्द बिस्सा, कोटा के श्री नयनूराम एवं जैसलमेर के श्री सागरमल गोपा के नाम उल्लेखनीय हैं।

२. १६३० ई० से १६५० ई० की अवधि में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में जन-आन्दोलनों को दबाने के लिए जिस क्रूर हिंसा का सहारा लिया गया, उसके फलस्वरूप सैकड़ों निरीह व्यक्तियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। इनमें कतिपय अति प्रसिद्ध काण्डों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) चेहड़कला (लोहारू रियासत) में ऊंट टैक्स के विरोध में इकट्ठी हुई नि:शस्त्र जनता पर जिस निर्ममता से प्रहार हुआ उसका अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस काण्ड में कुल २२ व्यक्तियों की गोली लगने से मृत्यु हुई एवं अनेकों घायल हुए।

(ख) नीमुचाणा (अलवर रियासत) में लगान वृद्धि के विरोध में १६३५ ई० में किसानों और छोटे जागीरदारों ने जिस सभा का आयोजन किया उसे फौज ने चारों ओर से घेर कर तीन घण्टे तक अन्धा-धुन्ध गोली वर्षा की फलस्वरूप सैकड़ों स्त्री-पुरुष और बच्चे तथा पशु हताहत हुए।

गौरवमय अतीत, राजस्थान स्वतंत्रता के पहले और बाद में : प्रमुख संपादक श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, पृ० सं० ७०

(ग) २८ मार्च १६४२ को चंडावल में उत्तरदायी शासन दिवस मनाने के उद्देश्य से एकत्रित कार्यकर्ताओं पर निर्ममतापूर्वक प्रहार हुए जिनमें अनेक कार्यकर्ता घायल हुए।

वही, पृ० सं० ८६

का महती कार्य किया। ये लोग गाँव-गाँव मे पहुँच कर अपने ओजस्वी गीतो और कविताओं के माध्यम संघर्ष का माहौल बनाते, बुझे हुए मनो में चेतना की रागिनी फूंकते। यहाँ इस संदर्भ में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उस समय में लिखे गये ये अधिकांश उद्बोधनात्मक एवं प्रेरणास्पद गीत अप्रकाशित ही रहे, फलस्वरूप उपलब्धि के अभाव में आज उनका सम्यक् मूल्यांकन संभव नही है। क्योंकि उस समय भी प्रेस-नियन्त्रण की कठोरता में कोई कमी नही आई थी और इस पूरी अवधि मे १९४६ ई० तक 'आगीवाण'[1] के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा का अन्य कोई पत्र नही निकला था। इसके अतिरिक्त ये सभी साहित्यकार राजनैतिक जागृति के संदेशवाहक पहले थे साहित्यकार बाद मे। अतः इन्ही सब कारणों से यहाँ के राजनैतिक जीवन को गति प्रदान करने वाले इन गीतों एवं कविताओं का आज कोई संकलन उपलब्ध नहीं है।

इस अवधि (१९३१-१९५० ई०) मे यहाँ के राजनैतिक जीवन मे जो गति दिखायी पडती है, वह सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में उतनी तेज नही रही। यद्यपि, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, दहेज, मृत्युभोज, अशिक्षा आदि सामाजिक समस्याओं का निराकरण नहीं हुआ था, फिर भी बदलते हुये समय के अनुसार उनकी विकटता मे कमी अवश्य आई। इसके साथ ही स्वामी दयानन्द के राजस्थान प्रवास के साथ सामाजिक जीवन में सुधारो की जो एक तेज लहर आयी थी उसका भी प्रभाव कुछ कम हो गया। उधर प्रवासी राजस्थानी भी अब राजस्थान के मामले मे उतने सक्रिय नही रहे, किन्तु इन सब के बावजूद भी समाज-सुधार का जो एक क्रम चला था वह एकदम रुका नहीऔर समाज-सुधार के कार्यक्रम चलते रहे। इन प्रयासों की झलक उस अवधि मे लिखे गये सुधारवादी गीतों[2], एकांकियों[3] आदि में देखने को मिलता है।

यहाँ तक जिन परिस्थितियो और उनसे प्रेरित साहित्य की चर्चा हुई है—वह अधिकांश में प्रचार-पक्ष की प्रबलता और उपयोगितावादी दृष्टि की प्रधानता के कारण साहित्यिक दृष्टि से कोई उपलब्धि नही बन पाया और विशेष रूप से कविता के क्षेत्र में ऐसा कोई प्रतिमान स्थापित नही कर पाया जो कालजयी कहा जा सके या कि जिसने अपने परवर्ती काव्य एवं काव्यकारों को दूर एवं देर तक बान्धे रखा हो। इस दृष्टि से आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में १९३१-५० ई० की अवधि विशेष रूप से उल्लेखनीय बन पडी है। जहा इस अवधि मे एक ओर प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों का योगदान घटता चला गया है, वहां दूसरी ओर राजस्थान मे यहा के कतिपय प्रबुद्ध साहित्यिकों ने अपनी मातृ-भाषा के प्रति जो उत्साह प्रदर्शित किया—उसने राजस्थानी के आधुनिक साहित्य को एक क्रांतिकारी मोड़ प्रदान किया। इन विद्वानों ने एक ओर राजस्थानी के प्राचीन साहित्य की खोज और प्रकाशन का महती कार्य अपने हाथो में लिया तो दूसरी ओर समसामयिक सर्जन-परानार से उसे जोड़ने के लिए गद्य और पद्य मे नूतन प्रयोगों को प्रोत्साहित किया तथा राजस्थानी साहित्य के सन्दर्भ मे नवीन परम्पराओं

१. सं० बालकृष्ण उपाध्याय, प्र० का० ई० सन् १९३२.

२. (क) बूढ़े का ब्याह बनाम बाल विधवा : श्री श्यामलाल पाबरा, ई० सन् १९३९.

(ख) कन्या विक्रय : श्री श्यामलाल पाबरा, वि० सं० १९९३.

३. गाव सुधार या गोमा जाट : श्रीनाथ मोदी, प्र० का० १९३१ ई०.

को श्रीगणेश किया। इस दृष्टि से स्व० सूर्यकरण पारीक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वस्तुतः उनकी ही प्रेरणा और मार्ग दर्शन में राजस्थान के ठाकुर रामसिंह, श्री नरोत्तमदास स्वामी, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री कन्हैयालाल सहल प्रभृति विद्वानों और इन विद्वानों के संपर्क और प्रोत्साहन के फलस्वरूप सर्व श्री मुरलीधर व्यास, चन्द्रसिंह, कन्हैयालाल सेठिया, मेघराज 'मुकुल' प्रभृति सर्जन-धर्मी साहित्यकारों ने प्राचीन साहित्य के शोध और खोज तथा नवीन साहित्य के सर्जन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

इस दृष्टि से जो प्रथम साहित्यिक कृति चर्चित रही वह थी स्व० सूर्यकरण पारीक की "बोळावण या प्रतिज्ञा पूर्ति"[1] नामक एकांकी रचना, जिसने राजस्थानेतर हिन्दी विद्वानों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया।

इस दृष्टि से दूसरी उल्लेखनीय रचना है श्री चन्द्रसिंह कृत 'बादली'[2]। पारम्परिक छन्द में लिखे होने के बावजूद भी इस कृति ने राजस्थानी पद्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आज तक राजस्थानी काव्य-क्षेत्र में या तो पारम्परिक शैली और पुरातन विषयों पर काव्य रचना करने वाले कवियों का ही प्राधान्य था या फिर जनसाधारण की बोली में जो सहज-सम्प्रेष्य काव्य रचा जा रहा था, वह उपयोगी अधिक था, कला एवं कवित्वपूर्ण कम। वैसे भरतिया-जी के समय से ही बोलचाल की राजस्थानी भाषा में काव्य-रचना होने लगी थी, किन्तु उन्हें काव्य की अपेक्षा तुक बन्दियाँ कहें तो ज्यादा अच्छा होगा। क्योंकि उनमें न भावों की रमणीयता के ही दर्शन होते हैं न कल्पना का चामत्कारिक और रंगीन रूप ही दीख पड़ता है और न ही कलागत सौष्ठव एवं संजाव ही दृष्टिगत होता है। वस्तुतः उन अधिकांश पद्यात्मक रचनाओं में या तो समाज-सुधार के विविध पहलुओं पर सीधे-सादे रूप में प्रकाश डाला गया है या फिर जन-जागृति के लिए सहज उद्बोधनात्मक गीत ही लिखे गये हैं और छुट्टे-बिछुड़े प्रभु-भक्ति के गीत गुन-गुनाये गये हैं। किन्तु इन सभी प्रकार की रचनाओं में अधिकांशतः हृदयगत अनुभूतियों की तीव्रता का अहसास कम होता है एवं उपदेशवृत्ति का प्राधान्य अधिक लगता है।

इन सबके मध्य 'बादली' ही उस काव्य रचना के रूप में सामने आयी, जिसमें नूतन विषय-चयन के साथ-ही-साथ बोलचाल की भाषा का सांगोपांग और सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसमें कवि का न तो 'वयण सगाई' के प्रति ही कोई आग्रह रहा है और न ही वह भाषा की प्राचीनता का लबादा ओढ़ाने के मोह से ग्रस्त है। राजस्थान की यह प्रथम कृति है जिसमें प्रकृति का इतने विस्तार से आलम्बन रूप में अंकन हुआ है। चित्रात्मकता एवं प्रकृति का लोक-जीवन-सापेक्ष अंकन, इसे जहां एक ओर अपने पूर्ववर्ती काव्यों से सर्वथा एक नवीन, परम्परा से हटी हुई कृति बना देता है; वहां कवि की लोक-हृदय की अनुभूतियों की गहरी पहिचान और स्थानीयता या आंचलिकता के परिवेश में कथ्य को प्रस्तुत करने का गरूर इसे हिन्दी या अन्य भाषाओं की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी प्रसिद्ध रचनाओं के प्रभाव से मुक्त रखता है। फलतः अपनी मिट्टी की गन्ध से सुगन्धित यह काव्य कृति केवल राजस्थानी जगत् में ही नहीं, अपितु

१. प्रकाशन काल—ई० सन् १९३५
२. प्रकाशन काल—वि० सं० १९९८

हिन्दी जगत् में भी समुचित रूप से चर्चित एवं समादृत हुई है।[१] 'बादली' ही आधुनिक राजस्थानी काव्य की वह प्रथम कृति है जिसे जनसामान्य और विशिष्ट साहित्यिक-रुचि-सम्पन्न जनों ने समान रूप से पसन्द किया और सराहा। इस प्रकार 'बादली' की इस लोक-प्रियता ने अन्य सम-सामयिक कवियों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। फलस्वरूप एक ओर राजस्थानी के कवि उससे प्रेरित होकर अन्य-अन्य प्रकृति काव्यों की रचना को प्रवृत्त हुए तो दूसरी ओर हिन्दी में रचना करने वाले राजस्थान के कई एक समर्थ कवियों ने इसमें उजागर मातृभाषा के माधुर्य और सामर्थ्य से उत्साहित होकर हिन्दी के साथ-साथ राजस्थानी में लिखना प्रारंभ किया।

'बादली' के पश्चात् इस क्षेत्र में जिस रचना का नाम उल्लेखनीय है—वह है श्री मेघराज 'मुकुल' कृत 'सैनाणी'[२] नामक पद्यकथा। राजस्थानी इतिहास के एक भास्वर पृष्ठ पर आधारित इस ओजपूर्ण कविता ने कवि 'मुकुल' के मीठे और प्रभावी गले के बल पर सहस्र-सहस्र जनों को आह्लादित एवं उद्वेलित किया। अपनी मातृभाषा को विस्मृत किये हुए लक्ष-लक्ष जनों को पहली बार अपनी मातृभाषा में मां के दूध का सा मिठास अनुभव हुआ। इस कविता ने जहां कवि 'मुकुल' को विपुल ख्याति दिलवायी, वहा राजस्थानी भाषा की ओर एक बहुत बड़े वर्ग का ध्यान आकर्षित किया, जो आज भी राजस्थानी कवि सम्मेलनों में भारी संख्या में उपस्थित देखा जा सकता है। इस प्रकार इस कविता ने एक ओर श्रोताओं के एक बहुत बड़े वर्ग में राजस्थानी-काव्य के प्रति रुचि जागृत की तो दूसरी ओर कवि एवं कविता को अकल्पनीय ख्याति ने अनेक नये-पुराने कवियों को पद्य-कथा-लेखन की ओर आकृष्ट किया। बदलते हुए समय के साथ पद्य-कथाओं की मंचीय लोक-प्रियता का स्थान क्रमशः शृंगार-गीत या कि लोकधुनों की तर्ज पर लिखे गये अन्य गीतों और हास्य-कविताओं ने ले लिया, किन्तु राजस्थानी का यह मंच मय अपने कवियों और श्रोताओं के आज भी विद्यमान है। 'सैनाणी' का उल्लेख एक अन्य दृष्टि से भी अनिवार्य है। 'बादली' ने कथ्य की नवीनता एवं ताजगी के बावजूद छन्द की दृष्टि से प्राचीनता का दामन नहीं छोड़ा था, किन्तु 'सैनाणी' ने यहाँ भी परम्परा को नकारते हुए एक नयी दिशा में कदम बढ़ाया।

इस अवधि में राजस्थानी के विद्वानों और सर्जकों का ध्यान अपनी मातृभाषा की ओर निरन्तर बढ़ता जा रहा था, इसकी ओर पहले भी इंगित किया जा चुका है। यह इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि इस अवधि में 'राजस्थानी'[३], 'राजस्थान-भारती'[४] 'मारवाड़ी'[५] एवं 'जागती जोत'[६] जैसे

१. श्री चन्द्रसिंह की प्रस्तुत कृति को नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर से 'रत्नाकर पुरस्कार' तथा 'बलदेव दास पदक' से सम्मानित किया गया। आज तक इस कृति के पांच संस्करण निकल चुके हैं।
२. रचना काल : ई० सन् १९५४
३. सं० : नरोत्तमदास स्वामी, प्र० का०-१९४६ ई०
४. सं०-डा० दशरथ शर्मा, अगरचन्द नाहटा, एवं नरोत्तमदास स्वामी, प्र० का०-१९४६ ई० (समय-समय पर इस पत्र के सम्पादक बदलते रहे हैं)
५. सं०-श्रीमन्तकुमार व्यास, प्र० का०-१९४७ ई०
६. सं०-श्री सुमन, प्र० का०-वि० सं० २००४

हिन्दी, राजस्थानी के पत्रों ने राजस्थानी गद्य-पद्य के क्षेत्र मे नवीन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। इन पत्रिकाओं का प्रकाशन तो १९४६ में ही संभव हुआ, किन्तु नवीन साहित्य के प्रति जो ललक जगी थी, उसकी अभिव्यक्ति इन पत्रों के प्रकाशन से पूर्व होने वाली विभिन्न साहित्यिक गोष्ठियों के रूप में हो रही थी।[1] यह भी इन्हीं प्रयासों का परिणाम समझा जाना चाहिए कि आगे १९५० ई० के पश्चात् साहित्य-सर्जन के क्षेत्र में जो उत्साह दिखलायी पड़ा, उसके लिए प्रेरक वातावरण का निर्माण यही हो रहा था।

३. वस्तुतः १९५० ई० के पश्चात् ही राजस्थानी साहित्य में नवीन सर्जन की दृष्टि से परवर्ती काल की अपेक्षा काफी तेजी से कार्य हुआ। इस समय के पश्चात् ही साहित्य-सर्जन की गति तेज हुई और साथ-ही-साथ गद्य और पद्य उभय-क्षेत्रों में विविध-रूपा कार्य सम्पादित हुआ। इसके अतिरिक्त जीवन से और अधिक नैकट्य स्थापित करने की ललक तथा हल्के-फुल्के प्रचारात्मक साहित्य के स्थान पर ठोस एवं गंभीर साहित्य सर्जन की रुचि भी इसी अवधि में बढ़ी। साहित्य में आ रहे इन परिवर्तनों का कारण सामयिक-परिस्थितियों में ही निहित है, अतः आगे उन्हीं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के राजनैतिक, आर्थिक और फलस्वरूप सामाजिक ढांचे मे बड़ी तेजी से परिवर्तन आया। परिवर्तन की इस तेज गति के कारण बहुत सी घटनाओं का सापेक्ष महत्त्व इतना अधिक नहीं रहा कि उनका तात्कालिक प्रभाव जन-जीवन पर प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो। इसके विपरीत इस अवधि के राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र के भारी परिवर्तन एक दूसरे को प्रभावित करते; व्यक्ति के चिन्तन, फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्थाओं को तेजी से प्रभावित करने लगे। जिसकी स्पष्ट प्रतिध्वनि आधुनिक साहित्य मे निरन्तर गूंज रही है। वस्तुतः गत बीस वर्षों के साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन के वे निरन्तर परिवर्तनशील क्षण रहे हैं—जो सरकार की विकासगामी नीतियों, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की प्रमुख हलचलों और तज्जन्य व्यापक सामाजिक परिवर्तनों के परिणाम हैं। यहाँ हम विशेष रूप से इन परिस्थितियों के राजस्थानी जन-जीवन पर पड़े प्रभाव और उस प्रभाव की राजस्थानी साहित्य में हुई अभिव्यक्ति तक ही स्वयं को सीमित रखेंगे।

१५ अगस्त १९४७ई० को विदेशी दासता से मुक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्ति (राजस्थान के सन्दर्भ में अप्रेल १९४९ ई० में राजस्थान-संघ की स्थापना) तथा ब्रिटिश शासकों या कि राजाओं और सामन्तों के हाथों से जन-प्रतिनिधियों के हाथों राज्य-सत्ता का हस्तान्तरण—ये दो ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस

१. इस दृष्टि से बीकानेर क्षेत्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वहां, जहां, वि० स० १९८१ में ही श्री नरोत्तमदास स्वामी एवं श्री विद्याधर शास्त्री के सम्पादकत्व एवं सहयोग से 'राजस्थानी' नामक हस्त-लिखित पत्रिका निकलने लगी थी, वहां उसके कुछ समय पश्चात् स्थानीय साहित्यकारों ने गोष्ठियों में अपनी राजस्थानी रचनाओं का पाठ एवं उन पर अन्य साहित्य मर्मज्ञों के मध्य चर्चाओं का आयोजन प्रारंभ कर दिया था। इनमें सर्वश्री मुरलीधर व्यास, श्रीचन्द्रराय माथुर, भंवरलाल नाहटा प्रभृति सर्जक साहित्यकार बड़े उत्साह से भाग लिया करते थे।

सदी के मध्य घटे जिन्होंने यहां की शताब्दियों की परम्पराओं और चिन्तन-प्रक्रिया को एकदम बदल दिया। अब राज्य किसी की बपौती या शारीरिक शक्ति से अर्जित वैयक्तिक सम्पत्ति भर नहीं रह गया और न ही राज्य का उद्देश्य कर वसूली और जन रक्षा के दायित्व तक ही सीमित रह गया। प्रजातांत्रिक-व्यवस्था ने जनता और शासन-संचालन करने वाले उभय वर्ग के चिन्तन में आमूल परिवर्तन ला दिया। राज्य का लक्ष्य जन-साधारण का सर्वतोमुखी विकास होने के नाते आर्थिक क्षेत्र मे अनेक नयी योजनाओं का प्रारम्भ हुआ और प्रजातांत्रिक आदर्शों के अनुरूप शासन के ढांचे मे मूलभूत परिवर्तन किया गया। फलस्वरूप एक और वयस्क मताधिकार प्रणाली के आधार पर १९५२ ई० में देश भर में प्रथम आम चुनाव सम्पन्न हुआ। उसके पश्चात् प्रत्येक पांच वर्षों के बाद आम चुनावों के माध्यम से सरकार के कार्यों का मूल्यांकन और उसके आधार पर अगले पांच वर्षों के लिए पुन शासन-सम्पादन का उत्तर-दायित्व चुने हुए नेताओं के हाथ सौंपकर शासन पर जनता का नियन्त्रण स्थापित हुआ है। उधर आर्थिक दृष्टि से देश की प्रगति और समाज के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से १९५१ ई० में पंचवर्षीय योजनाओं का श्री गणेश हुआ। फलस्वरूप इन बीस वर्षों की अवधि में चार पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से सामाजिक और आर्थिक जीवन मे अनेक लक्ष्यों को पाने का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त जनता के हाथों मे वास्तविक अधिकार सौंपने के भाव से प्रेरित होकर सत्ता के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर देश मे पंचायती राज की व्यवस्था की गयी। इस दृष्टि से राजस्थान को सौभाग्यशाली समझा जाना चाहिए कि देश में सर्वप्रथम इस प्रणाली को यहीं लागू किया गया।[1]

इन सब नीतियों और कार्यों का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि राजस्थान शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, सिंचाई, यातायात, सहकारिता, उद्योग-धन्धे आदि क्षेत्रों में बहुत आगे बढ़ा।[2] विभिन्न क्षेत्रों की उसकी उन्नति ने यहां के सामाजिक जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया, जिससे यहां का साहित्य भी अछूता नहीं रहा।

---

१. २ अक्टूबर, १९५९ ई० में पं० जवाहरलाल नेहरू ने नागौर (राजस्थान) में पंचायती राज-व्यवस्था का श्री गणेश किया।

२. (क) १९५०-५१ ई० में राजस्थान में शिक्षण संस्थाओं की संख्या ६०२६ थी जो कि १९६५-६६ ई० मे बढ़कर ३२,८२६ तक पहुंच गयी। इसी प्रकार राजस्थान में १९५०-५१ में छात्रों की संख्या साढ़े छः लाख थी वह १९६२-६३ ई० में बढ़कर १९ लाख तक पहुंच गयी। स्त्री शिक्षा की दृष्टि से अच्छी प्रगति हुई। जहां १९५०-५१ ई० में छात्राओं की कुल संख्या ६७,००० थी, वहां १९६३-६४ ई० में यह ४ लाख ३० हजार तक पहुंच गयी।

(ख) १९५०-५१ ई० मे राजस्थान में चिकित्सालयों एवं डिस्पेन्सरियों की संख्या ३९६ थी जो कि १९६५-६६ ई० में बढ़कर ५३५ तक पहुंच गयी। इसके अतिरिक्त परिवार नियोजन की दृष्टि से ५५ परिवार नियोजन केन्द्र नगरों में एवं २३२ ग्रामीण क्षेत्रों में १९६५ ई० तक कार्यरत थे। इसी प्रकार राजस्थान निर्माण के समय रोगी शैयाओं की संख्या जो ४७८८ थी वह १९६५ ई० तक बढ़कर ११,६६५ तक पहुंच गयी।

(ग) राजस्थान एकीकरण के समय यहां सड़कों की कुल लम्बाई ८,४१८ मील थी जो कि १९६६ ई० तक १८,६५४ मील तक पहुंच गयी।

इस प्रकार शिक्षा के बढ़ते जा रहे दायरे, यातायात के विस्तृत होते जा रहे साधनों, संचार-साधनों के फैलते हुए क्षेत्र, प्रेस की स्वतन्त्रता, पत्र-पत्रिकाओं के बढ़ते हुए प्रभाव और इन सब कारणों से स्वतंत्र चिन्तन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने लोगों के सोचने के ढंग को काफी कुछ बदल दिया। आम आदमी की तरह यहां के साहित्यकार को भी अन्य भारतीय प्रान्तों की तुलना में अपने पिछड़ेपन का अहसास तेजी से हुआ और परिवर्तित अनुकूल परिस्थितियों में उसने यह भी महसूसा कि अभी सुधार का कार्य सुगमता और तीव्रता के साथ किया जा सकता है। फलतः वह सुधारवादी साहित्य की ओर प्रवृत्त हुआ। भिन्न-भिन्न साहित्यकारों ने अपने-अपने ढंग से इस पहलू को उठाया। जहां कतिपय साहित्यकार किसी एक सामाजिक विकृति को अपने भयंकरतम रूप में चित्रित कर एकदम परे हट जाते हैं, वहां दूसरे साहित्यकार अपनी ओर से आदर्श व्यवस्था की ओर इंगित करते चले गये हैं। पद्य साहित्य की अपेक्षा कहानी एवं एकांकी के क्षेत्र में इस प्रकार के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा है।[1]

इस प्रकार एक ओर साहित्यकारों ने समाज-सुधार की आवश्यकता महसूस की तो दूसरी ओर यह भी तेजी से महसूसा जाने लगा कि सर्वतोमुखी उन्नति के लिए जन-जागृति और विकास तथा निर्माण सम्बन्धी कार्यों में तेजी लाना आवश्यक है। फलतः एक ओर ऐसे बहुत से गीतों की रचना हुई जिसमें युगों से कुचले आम-आदमी के आत्म-विश्वास को पुनः जागृत करने का प्रयास किया गया।

(घ) राजस्थान के एकीकरण के समय राजस्थान को बाहर से ५० हजार से १ लाख टन तक अनाज मंगाना पड़ता था, किन्तु आज स्थिति यह है कि राजस्थान अनाज का अतिरिक्त उत्पादन करने लगा है।

(ङ) सिंचाई के क्षेत्र में जहां १९५०-५१ ई० में २६ लाख एकड़ सिंचित भूमि थी वह १९६२-६३ ई० में बढ़कर ४६·६४ लाख एकड़ तक पहुंच चुकी थी।

(च) १९५०-५१ ई० में राजस्थान में ३२ बिजलीघर एवं ४२ विद्युतीकृत बस्तियां थी, अब १९६५-६६ ई० तक उनकी संख्या क्रमशः ४८ एवं १२०४ तक पहुंच गयी। इसी प्रकार उत्पादन क्षमता ७००·२० लाख किलोवाट से बढ़कर ४२३०·२६ लाख किलोवाट तक पहुंच गयी।

(छ) १९५२ ई० में राजस्थान में पंजीकृत कारखानों की संख्या २४० थी जो कि १९५४ ई० में बढ़कर १४६४ हो गयी। इस प्रकार औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में राजस्थान ने अच्छी उन्नति की है।

उपर्युक्त सभी आंकड़ों के मुख्य स्रोत हैं :—

(क) भारत में आर्थिक नियोजन : सिंह, शर्मा, मेहता प्र० सं०-१९७० ई०

(ख) राजस्थान : स्वतन्त्रता के पहले और बाद : सं० श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय एवं अन्य, प्र० का० १९६६ ई०

१. श्री गोविन्द लाल माथुर कृत 'सतरंगिणी,' श्री नागराज शर्मा कृत 'इकतो पेंतो,' श्री निरंजननाथ आचार्य कृत 'लहरी भाखड़ो' आदि एकांकी संग्रह एवं श्री नानूराम संस्कर्ता कृत 'ग्योंरास' श्री मुरलीधर व्यास कृत 'बरसगांठ' आदि कहानी-संग्रह एवं अन्य अनेक स्फुट कहानियां इस दृष्टि से उल्लेखनीय बन पड़ी हैं।

उसमें आत्म-गौरव के भाव जगाने की दृष्टि से उसे गौरवपूर्ण अतीत की ओर अभिमुख किया गया, ताकि वह शताब्दियों की दासता जन्य हीनता के भावों को त्याग कर पूरे विश्वास के साथ अपने सुनहले भविष्य के निर्माण में लग सके।[1]

दूसरी ओर क्रांतिकारी विचारों के समर्थक साहित्यकारों ने इतिहास के उजले पन्नों में खोये रहकर सुनहरे भविष्य निर्माण की बात को गलत समझा और उन्होंने आम आमदी को स्वय ही भाग्य-विधाता बतलाते हुए, उससे यह अपेक्षा की कि वह जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं एवं व्यवस्थाओं को एकदम ध्वस्त कर सर्वथा नये समाज के निर्माण को कटिबद्ध हो। इस विचारधारा से प्रेरित कवियों ने उसमें युगों से चले आ रहे सामन्ती-शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध प्रतिशोध के भाव जगाने में भी किसी प्रकार की हिचकिचाहट का अनुभव नहीं किया।[2]

वैसे देखा जाये तो दोनों प्रकार के चिन्तक, दो भिन्न आदर्शों से प्रेरित थे। प्रथम प्रकार के साहित्यकारों का गांधी के रामराज्य-स्वप्न के साकार होने मे विश्वास था और उन्हें यह भी विश्वास था कि मौजूदा प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे कार्यभार संभाले शासकों के साथ हम पूरा सहयोग कर उस स्वप्न को साकार कर सकते हैं; किन्तु दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा प्रेरित साहित्यकारों का हृय सोचना था कि रामराज्य की प्राप्ति का यह चिन्तन ही सर्वथा गलत है। उनकी दृष्टि में यह सब समझौतावादी मनोवृत्ति की ही उपज है, जिससे कही कुछ नही बनता।

समय के परिवर्तन के साथ दोनों ही प्रकार के चिन्तन सही नही उतरे। नेताओं और शासकों की नेकनीयती में विश्वास रखने वाले और उनके हाथों रामराज्य का स्वप्न साकार होते देखने वालों को उस समय बडा आघात पहुंचा, जबकि उन्होंने देखा कि ये तथाकथित नेता ही 'जनसेवक' से 'जनशोषक' बन गये हैं और वैयक्तिक हित-साधन ही उनका प्रमुख लक्ष्य बन गया है। उधर साम्यवादी विचारधारा प्रेरित साहित्यकारों को भी इस बात से निराशा ही हुई कि उनके भरपूर आह्वान के पश्चात् भी क्रांति का संवाहक सर्वहारा वर्ग सामने नही आ रहा है, अपितु प्राय. सभी लोग धीरे-धीरे अपने स्वार्थों मे लिप्त होते जा रहे हैं। अत उसने जिस साधारण जनता की ओर इतनी आशा भरी नजरों से निहारा था, उसकी स्वार्थपरता और कायरता को देखकर धीरे-धीरे उसमें निराश होकर अपने तक ही सिमट गया या कि उसकी वाणी एकदम चुप हो गई। ऐसी व्यवस्था में आदमी का विश्वास ऊंचे आदर्शों और मधुर स्वप्नों की साकारता मे समाप्त हो गया। मौजूदा व्यवस्था में वैयक्तिक स्तर पर अपनी स्थिति दृढ़ करने और सामूहिक स्तर पर इस सारी व्यवस्था की कटु आलोचना करने में उसे विशेष परेशानी नही होती। इस प्रकार की सिद्धान्तहीन स्वार्थमयी जीवनचर्या ने व्यंग्य-प्रधान साहित्य को तो प्रोत्साहित

---

१. 'सेनाणी' (श्री मेघराज 'मुकुल') 'पातल अर पीथळ' (श्री कन्हैयालाल सेठिया) आदि प्रसिद्ध पद्य कथाएँ जहां गौरवपूर्ण विगत का स्मरण कराने के उद्देश्य से लिखी गयी, वहां 'धरती री धुन' (गजानन वर्मा), 'सोनो निपजै रेत मे' (गजानन वर्मा), 'रूंखी रागिणी' (श्री सुमनेश जोशी) जैसे कविता संग्रहों की अधिकांश कविताएं राष्ट्र-निर्माण हेतु जनसाधारण को प्रेरित करने के उद्देश्य से लिखी गयी।

२. 'अमरजोत' (सं० श्री श्रीमन्तकुमार व्यास) एवं 'मेर मांनखा' (श्री रेवतदान चारण कल्पित) काव्य-संग्रहों की अधिकांश कविताओं के स्वर क्रान्ति के उद्घोषक रहे हैं।

किया ही किन्तु साथ-साथ ही आदर्शों के प्रति आस्था के क्षीण होते जा रहे स्वरों ने साहित्यकार को अधिकाधिक यथार्थोन्मुखी बनाया है।

इन सारे परिवर्तनों का सामाजिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। ग्रामों एवं शहरों में समान रूप से नवीन परिवर्तनों एवं नवीन व्यवस्थाओं के फलस्वरूप सामाजिक मान्यताओं एवं व्यवस्थाओं पर जबरदस्त चोट पहुंची। गांवों में आपसी सौहार्द और ममत्व के स्थान पर अविश्वास और कुटिल राजनीति प्रेरित स्तरहीन गुटबाजी अपना रंग दिखाने लगी। साथ-ही-साथ शहरी सभ्यता से तेजी से बढ़ते हुए संपर्क ने उनके जीवन को भौतिक युग की अच्छाईयों की अपेक्षा कुटिलताओं का ही शिकार बनाया। फलतः सहकारिता, भ्रातृत्व, पारस्परिक प्रेम और विश्वास पर टिका शताब्दियों का ग्रामीण परिवार एवं समाज लड़खड़ाने लगा है। युगों पुरानी मान्यताओं एवं आस्थाओं के आगे प्रश्नचिह्न उपस्थित होने लगे हैं और आपसी सम्बन्धों में स्वार्थ प्रेरित आचरण के कारण भारी दरार पड़ने लगी है। यद्यपि ये सब परिवर्तन ऐसी निःशब्द स्थितियों में घटित हो रहे हैं—जहां उसे महसूस सभी रहे हैं किन्तु समझ एवं अभिव्यक्त बहुत कम कर पा रहे हैं। राजस्थानी कथा-साहित्य एवं नयी कविता दोनों में ग्रामीण अंचल के इस बदलते स्वरूप की झांकी देखी जा सकती है।[1]

गांवों की तरह शहरी जीवन में भी औद्योगिकरण के बढ़ने चरण, शिक्षितों में फैलती बेकारी, भौतिक सभ्यता के विस्तार के साथ-ही-साथ उसकी आवश्यक बुराइयों के सामाजिक जीवन में बढ़ते प्रभाव ने स्थिति को बहुत कुछ बदल दिया है। यान्त्रिक सभ्यता के बढ़ते प्रभाव के साथ व्यक्ति में बौनेपन, एकाकीपन और अजनबीपन का भाव बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में स्थापित मूल्य, युगों पुरानी परम्पराएँ एवं व्यवस्थाएँ अर्थहीन होती जा रही हैं और शाश्वत मानव-मूल्यों के प्रति भी सन्देह के भाव उभरते जा रहे हैं। फलस्वरूप आपसी सम्बन्धों में जो दरार पड़ गई है, सामाजिक व्यवस्थाएँ जिस प्रकार लड़खड़ाकर गिर रही हैं और इन सबके कारण घुटघुट की जो स्थिति बनी जा रही है उन सबकी अभिव्यक्ति सम-सामयिक साहित्य में मिलती है। राजस्थान में चूंकि इन सब परिवर्तनों की गति अपेक्षया धीमी और प्रभाव क्षीण है, अतः यहां के साहित्य में भी इस परिवर्तन का शोर-शराबा कम सुनायी पड़ता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि राजस्थानी साहित्य इन सबसे अछूता है। गत पांच-चार वर्षों में नई पीढ़ी द्वारा सर्जित साहित्य में परिवर्तन की इस वाणी का स्वर काफी मुखर रहा है जिसे पारम्परिक स्वरों से भिन्न अलग से पहिचाना जा सकता है।

देश के और विशेषरूप से राजस्थान के इन गत सत्तर वर्षों के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक आन्दोलनों और परिवर्तनों ने यहां के सामान्य-जन के जीवन को किस कदर प्रभावित किया तथा वह प्रभाव साहित्य में किस रूप में व्यक्त हुआ इसकी चर्चा ऊपर कर चुके हैं। अब आगे कतिपय उन बिन्दुओं पर भी विचार करते चलते हैं जो आधुनिक राजस्थानी साहित्य को किसी-न-किसी रूप में प्रेरित करते रहे हैं और जिनका न्यूनाधिक प्रभाव परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में आधुनिक साहित्य पर स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

---

१. श्री नानूराम संस्कर्ता की 'मिरचोरी कुड़ी' श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'मानव भाग विधाता' नामक कहानियां एवं श्री तेजसिंह जोधा की 'कठैई की व्हेगो है,' श्री मोहनसिंह सेंगावत की 'गोव' आदि कविताएँ इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम राजस्थान की प्राकृतिक स्थिति पर विचार करते हैं। यहाँ की प्रकृति ने अपने कठोर और रूखे रूप के बावजूद भी यहाँ के सामान्य व्यक्ति को अपने आकर्षण-पाश में बड़ी मजबूती से बांध रखा है। संचार के सीमित साधनों और प्राकृतिक बीहड़ताओं के कारण अधिकांश में यहाँ का सामान्य व्यक्ति एक क्षेत्र विशेष की परिधि में अपना सारा जीवन काट देता है और पीढ़ियों का उसका प्रकृति के रूप विशेष का साहचर्य उसके मन में प्रकृति के उसी रूप के प्रति विशेष ममत्व के भाव उत्पन्न करता है। फलस्वरूप वह सूखे बालू के टीबों, तप्त लूओं तथा भीषण आंधियों में भी एक आनन्द की अनुभूति करने लगता है। पेयजल जैसी जीवन की नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किये जाने वाले श्रम से और अनावृष्टि के कारण आये वर्ष बिन बुलाये मेहमान की तरह आ टपकने वाले अकाल के विरुद्ध चल रहे अनवरत संघर्ष से भी वह प्रकृति के प्रति खीझ या आक्रोश से नहीं भरता; अपितु इन विपदाओं के सहन करने की अपनी क्षमता पर उसे एक प्रकार का अहं सदैव संतुष्ट किये रखता है। उसके लिए प्रकृति का यही रूप सामान्य बन चुका है और वह बड़े सहज भाव से इन सबको झेलता है, परिणाम स्वरूप 'लू' की विभिन्न कष्टदायी स्थितियों के चित्रांकन में भी यहाँ के साहित्यकार ने उसी उत्साह का परिचय दिया है, जिस उत्साह से उसने 'जीवनदाता बादली' का गुणगान किया है।

यहाँ के आम व्यक्ति का जीवन प्रकृति के साथ इतना घुला-मिला है कि प्रकृति उसके लिए खाली क्षणों में बैठकर उपभोग की या अपनी सौन्दर्य-लिप्सा शांत करने की वस्तु नहीं है, अपितु वह तो उसके जीवन का पर्याय या अनिवार्यता बनी हुई है। प्रकृति और मानव का यह नैकट्य और सीधे प्रकृति पर ही उसके जीवन के आश्रित होने के कारण हम यहाँ के आम आदमी के प्रकृति से दूर और पृथक् जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते। इस सबका ही परिणाम यह हुआ है कि यहाँ के साहित्यकार ने प्रकृति को लेकर बहुत कुछ लिखा है। 'लू', 'कळायण', 'दस देव', 'बादली', 'मेघमाळ' जैसी कृतियों और प्रकृति चित्रण सम्बन्धी अनेकों स्फुट कविताओं में यहाँ के सामान्य-जन का प्रकृति के प्रति जो उल्लास, उत्साह, कृतज्ञता एवं तादात्म्य का भाव रहा है—उसकी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। आधुनिक काल के प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी काव्य की दो अन्य उल्लेखनीय बातें भी रही हैं—प्रथम तो यहाँ अधिकांश में प्रकृति का जीवन-सापेक्ष अंकन हुआ है और द्वितीय, प्रकृति को लेकर जिन नाना भावों की अभिव्यक्ति हुई है वह समूह-मन की भावनाओं का ही प्रतिरूप है। समष्टि-चेतना ही वहाँ प्रभावी रही है।

प्रकृति-चित्रण की भांति ही समूह-मन की भावनाओं का, समष्टि-चेतना का जबरदस्त प्रभाव लोक-जीवन एवं लोक-साहित्य से प्रेरित रचनाओं में देखा जा सकता है। स्वतंत्रता से पूर्व के राजनैतिक कवियों ने तो केवल लोक-धुनों को ही उनकी मधुरता, सरसता और लोकप्रियता के कारण स्वीकार किया था, किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् तो राजस्थानी गीतकारों ने भाव, भाषा, शिल्प सभी कुछ लोक-जीवन और लोक-साहित्य से ही उसकी अनगढ़ता और अति सरलीकरण की प्रवृत्ति से बिना परहेज किये ही ज्यों-का-त्यों अपना लिया। इससे यह लाभ तो अवश्य हुआ कि साहित्य को आम आदमी से तादात्म्य स्थापित करने में कोई परेशानी नहीं हुई, किन्तु युग की आवश्यकताओं से विरत और भविष्य की राह निर्दिष्ट करने की शक्ति से वंचित, लोक-प्रेरित इस काव्य का प्रभाव जन-जीवन पर उलटा ही पड़ा। उसने सामान्य जन को अपने वर्तमान में संघर्ष की प्रेरणा और भविष्य के रूप निर्धारण की सचेष्ट विचारशीलता से विमुख कर एक प्रकार की अतीतोपजीवी मूढ़ता की स्थिति में पहुँचा दिया। यही नहीं

जन-साधारण के साथ-साथ उसने स्वयं अपना भी अहित किया। क्योंकि लोक-साहित्य का अति की सीमा तक किया गया अनुकरण स्वयं शिष्ट-साहित्य के स्वरूप को धुंधलाने लगा।

जो भी हो, यह तो निश्चित है कि एक समय राजस्थानी साहित्य-जगत् के एक बहुत बड़े वर्ग का प्रेरणा-स्रोत यहां का लोक-काव्य रहा और कतिपय जागरूक और समर्थ कवियों ने उसकी भाषा और अभिव्यक्ति सामर्थ्य से लाभ उठाते हुए राजस्थानी साहित्य की अभिव्यक्तिगत एवं भाषागत क्षमता में निश्चित रूप से वृद्धि की। यह राजस्थानी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि इस समझ-बूझ का परिचय जिन दो-एक कवियों ने दिया, उनके अन्य सम-सामयिक और परवर्ती कवियों ने उनके अनुभव से लाभ नहीं उठाया।

प्रकृति और लोक-साहित्य के पश्चात् आधुनिककाल का राजस्थानी साहित्यकार यहां की ऐतिहासिक उपलब्धियों से काफी प्रभावित हुआ है। पूर्व उल्लिखित श्री 'मुकुल' की बहुचर्चित 'सेनाणी' का आधार राजस्थानी इतिहास का ही एक जाना माना यशस्वी पृष्ठ रहा और उसके पश्चात् श्री कन्हैयालाल सेठिया की लोकप्रिय 'पातल अर पीथळ' तथा अन्य पद्यकथाकारों की अनेकों पद्यकथाओं का मुख्य आधार राजस्थान का गौरवपूर्ण इतिहास ही रहा। इन पद्यकथाओं के अतिरिक्त भी कई प्रबन्धकाव्यों,[१] प्रशस्ति-प्रधान लम्बी कविताओं[२] दसों एकांकियों[३] और बीसों कहानियों[४] में भी मुख्य रूप से राजस्थानी इतिहास के उन्हीं प्रसंगों को आधार बनाया गया है, जिसकी एक झलक कर्नल टॉड निर्मित राजपूताना के इतिहास में मिलती है। राजस्थान के इतिहास पर आधारित इन रचनाओं के सम्बन्ध में दो एक बातें उल्लेखनीय है। प्रथम, इन रचनाओं में प्रस्तुत पात्र या चरित्र के सम्बन्ध में प्रचलित लोक-प्रवादों को अपनाने में इन साहित्यकारों को कोई विशेष हिचकिचाहट महसूस नहीं हुई है और द्वितीय, इतिहास के विस्तृत अध्ययन के अभाव में अधिकांशतः कतिपय बहु प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रसंगों के इर्द-गिर्द ही ये रचनाकार घूमते दृष्टिगत होते है। इसके अतिरिक्त भी इन इतिहास प्रसंगों के चयन के पीछे किसी विशेष दृष्टिकोण के सक्रिय न होने के कारण, युगानुकूल उनकी नवीन व्याख्या या कि बदली हुई परिस्थितियों के संदर्भ में उन्हें नवीन अर्थ देने का प्रयास नहीं हुआ है। यहां के जन-जीवन के साथ निकट से जुड़े होने के कारण या कि उस वातावरण में पले हुए होने के कारण इन ऐतिहासिक रचनाओं

---

१. क. ढेलूंघा रो दिवलो : श्री घनश्यामनाथ मिश्र 'सुमन'
   ख. मरुमयंक : श्री कान्ह महर्षि
२. क. दुर्गादास : श्री नारायणसिंह भाटी
   ख. हाडी राणी : श्री रामेश्वरदयाल श्रीमाली
३. पन्नाधाय (डा० प्रकाश चन्द भण्डारी), वीरमदे (शक्तिदान कविया), 'ममायरला माजी' (लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत), 'उमादे' (डा० मनोहर शर्मा), 'राजदण्ड' (डा० मनोहर शर्मा) आदि एकांकी इस दृष्टि से उल्लेखनीय बन पड़े है।
४. 'अमर चूंनड़ी' (नृसिंह राजपुरोहित)', 'मां रो बोरलो' (नृसिंह राजपुरोहित), 'रजपूताणी' (लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत), 'बाटू रो गंठो (श्री सौभाग्य सिंह शेखावत) आदि कहानियां इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

में राजस्थान की सांस्कृतिक झांकियां विकृत तो नहीं हुई है, किन्तु अपनी पैनी-दृष्टि, कल्पनाजन्य गहरी सूझ-बूझ और गम्भीर अध्ययन के परिणाम स्वरूप प्रस्तुत युग के सम्पूर्ण परिवेश को ही मुखरित कर देने की क्षमता का परिचय इन ऐतिहासिक रचनाओं में नही मिलता।

यहां तक राजस्थानी साहित्य की उन विशिष्ट परिस्थितियों (राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और प्राकृतिक) के सन्दर्भ में उस पर विचार हुआ है, जो उसकी वर्तमान दशा और दिशा की उत्तरदायी रही है। आगे कतिपय ऐसी परिस्थितियों पर भी विचार करते चलते हैं—जिनको लेखन का मूल प्रेरणा-स्रोत तो नही माना जा सकता किन्तु जो अपनी भौतिक शक्तियो और आर्थिक आकर्षण के कारण साहित्य को एक सीमा तक प्रभावित अवश्य करती है और तदनुरूप जनरुचि के निर्माण मे भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इस दृष्टि से तीन बातें मुख्य हैं—१. रेडियो-प्रसारण, २. प्रकाशन-व्यवसाय और ३. पत्रकारिता।

१. जहां तक राजस्थानी साहित्य का सम्बन्ध है यह स्वीकारने मे किसी प्रकार का संकोच नही होना चाहिए कि आधुनिक राजस्थानी साहित्य के सन्दर्भ में रेडियो ने उसके स्तर और क्षेत्र (विषय प्रतिपादन) को काफी दूर तक प्रभावित किया है। रेडियो से प्रसारण का आकर्षण तो लेखकों को अपनी ओर आकर्षित करता ही है किन्तु उससे भी अधिक उसका तत्काल आर्थिक प्रतिफल भी लेखकों के लिए कम आकर्षक नहीं रहा है, फलतः बहुत बड़े परिमाण मे रेडियो की रीति-नीति के अनुकूल साहित्य की सर्जना राजस्थानी में हुई है। चूंकि रेडियो की अपनी कुछ नीतियां एवं सीमाएँ होती है, अतः उसके निर्देशन पर लिखे गये साहित्य का स्वरूप भी उसी के अनुरूप होगा। इस सम्बन्ध मे श्री ओंकारनाथ श्रीवास्तव के हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ मे व्यक्त हुए विचार लगभग ज्यों-के-त्यों आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर भी लागू होते हैं। उन्होंने भारतीय रेडियो की चर्चा करते हुए लिखा है—"रेडियो एक साधन सम्पन्न सरकारी माध्यम है और इस अर्थ में सशक्त भी है कि वह लेखक को उसकी रचनाओं के लिए नकद अदायगी करता है। उसने प्रसारणीय रचनाओं के बारे में अपनी नीति भले ही बाकायदा घोषित न की हो, फिर भी उसमें सर्वत्र एक हल्के-फुल्केपन के प्रति आग्रह पाया जाता है। प्रसारण अधिकारी श्रेष्ठ रचनाओं को रेडियो के अनुकूल कर लेने की अपेक्षा लेखक को ही अनुकूलित कर लेना सुगम पाते हैं। इस दिशा मे उन्हें लेखक की ओर से आतुर तत्परता ही मिलती है। परिणाम यह है कि बहुत बड़ी मात्रा मे एक विशेष प्रकार के शिल्पिक ढांचे मे ढली हुई घटिया और बनावटी लिखित सामग्री का निर्माण हो गया है और होता जा रहा है।"[1] राजस्थानी साहित्य के संकड़ो विकास और निर्माण तथा सरकारी रीति-नीति के समर्थक गीत, वार्ताएँ, रेडियो-रूपक, देशभक्ति पूर्ण स्तुतियां और वैयक्तिक तथा विज्ञापन परिचयात्मक समीक्षाएँ इसी आकाशवाणी अनुकम्पा का ही परिणाम कहा जाना चाहिए।

२. रेडियो के पश्चात् प्रकाशन-व्यवसाय आज के युग मे उस शक्ति के रूप मे उभर रहा है जो कि पाठकों की रुचि के अनुरूप लेखकों को लिखने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। प्रकाशन-व्यवसाय का सीधा सम्बन्ध चूंकि व्यावसायिकता से है, अतः वहां आर्थिक हिताहित प्रमुख है और स्वस्थ जनरुचि का निर्माण गौण। राजस्थानी साहित्य के सन्दर्भ मे तो स्थिति यह है कि पाठकों के अभाव और

---

१. हिन्दी साहित्य परिवर्तन के सौ वर्ष : श्री ओंकारनाथ श्रीवास्तव, पृ० सं० ४१

पाठ्यक्रम में राजस्थानी को स्थान नहीं मिले होने के कारण अभी तक राजस्थानी पुस्तकों का व्यावसायिक स्तर पर प्रकाशन सम्भव नहीं हुआ है। फलतः अधिकांश में जो भी साहित्य प्रकाश में आ रहा है, वह स्वयं लेखकों और उनके सहयोगियों के त्याग और सहयोग तथा कतिपय संस्थाओं के उद्योग से ही सम्भव हुआ है। चूंकि वैयक्तिक प्रयासों से प्रकाशित होने वाले साहित्य में मुख्यतः साहित्यकार का उद्देश्य अपने सर्जन को जनसाधारण के समक्ष रखना होता है, और वह अपनी रुचि, सामर्थ्य और इच्छानुरूप साहित्य की सर्जना करता है, अतः उसके स्तर में गिरावट या कि सस्तेपन से ग्रस्त होने का अभियोग उसके विरुद्ध नहीं लगाया जा सकता।

संस्थाओं के सहयोग से साहित्य प्रकाशन की दृष्टि से विचार करते हैं तो पाते हैं कि राजस्थानी साहित्य-क्षेत्र में जो संस्थाएँ सक्रिय हैं उनमें अधिकांश का ध्यान विशेष रूप से प्राचीन साहित्य के प्रकाशन की ओर ही लगा हुआ है या फिर वे लोक-साहित्य के प्रकाशन में ही विशेष क्रियाशील हैं, अतः उनके माध्यम से नवसर्जित मौलिक साहित्य का प्रकाशन बहुत सीमित रूप में हुआ है। इस दृष्टि से 'सादूल-राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट,' बीकानेर, 'राजस्थान भाषा-प्रचार सभा' जयपुर और 'राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम)' उदयपुर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किन्तु इन सब संस्थाओं ने अपने साधनों के अनुरूप कोई अनुकरणीय उदाहरण इस दिशा में अभी तक प्रस्तुत नहीं किया है।

३. पत्रकारिता और सामयिक साहित्य का सीधा और घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। राजस्थानी पत्रकारिता का इतिहास वैसे तो काफी पुराना है, किन्तु बहुत से कारणों से उसमें गति नहीं आ पायी है। समाचार-पत्रों के प्रकाशन की दृष्टि से तो कोई उल्लेखनीय कार्य अभी तक हुआ ही नहीं है;[1] हाँ, अलबत्ता साहित्यिक पत्रों का इतिहास अवश्य ही वैयक्तिक उत्साह और प्रयासों का इतिहास रहा है। राजस्थानी भाषा का प्रथम-पत्र 'मारवाड़ी-भास्कर'[2] वि० सं० १९६४ में प्रकाशित हुआ और पश्चात् वि० सं० १९६४ में ही 'मारवाड़ी'[3] नामक पत्र निकला। इन पत्रों के प्रकाशन के काफी समय पश्चात् 'मारवाड़ी हित-

---

१. 'आगीवाण' (सं० बालकृष्ण उपाध्याय) राजस्थानी भाषा का यह प्रथम पत्र था, जिसे आंशिक रूप से समाचार-पत्र भी कहा जा सकता है। इसमें राजस्थान की राजनैतिक गतिविधियों से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य समाचार प्रकाशित होते रहे हैं। इस पत्र के पश्चात् जयपुर से 'जागती जोत' नामक दैनिक समाचार-पत्र कुछ समय तक निकला। इस पत्र के वर्षों बाद 'विशाल मरुधर' ने पुनः इस दिशा में प्रयास किया किन्तु उसका भी हश्र वही हुआ जो कि पहले वाले पत्रों का हुआ। इन पत्रों की असफलताओं ने राजस्थानी पत्रकार को दैनिक की अपेक्षा पाक्षिक समाचार-पत्र प्रकाशित करने को प्रोत्साहित किया, फलस्वरूप, 'नाडेसर' (जसरासर), 'ऐलो' (रतनगढ़) एवं 'म्हारो देस' (कलकत्ता) का प्रकाशन हुआ किन्तु ये पत्र भी अधिक समय तक नहीं टिक सके। सम्प्रति 'ओळमो' (साहित्यिक-मासिक) पाक्षिक समाचार पत्र के रूप में गत दो वर्षों से निकल रहा है, यद्यपि नियमित यह भी नहीं हो पाता है।

२. सं०-[illegible], प्रकाशन स्थान-सोलापुर

३. सं०-श्री [illegible], प्रकाशन स्थान-[illegible]
(यह पत्र फाल्गुन १९६६ (वि० सं०) तक प्रकाशित होता रहा है।)

कारक'[1] नामक पत्र वि० सं० १९७६ में निकलने लगा। ये सभी पत्र प्रवासी राजस्थानियों द्वारा निकाले गये थे और इनका मुख्य उद्देश्य मारवाड़ी समाज में व्याप्त कुरीतियों का निवारण, उनका सर्वतोमुखी विकास एवं राजस्थानी भाषा-साहित्य का उत्थान था। इन पत्रों की पूरी फाइलें और इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाने की स्थिति में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन पत्रों की उपलब्धि क्या रही ?

इन पत्रों के प्रकाशन के काफी समय पश्चात् राजस्थान से ही 'आगीवाण' नामक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ, किन्तु यह पत्र दीर्घजीवी नहीं बन सका। 'आगीवाण' की तरह ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के आसपास प्रकाशित होने वाले 'मारवाड़ी'[2] एवं 'जागती जोत'[3] भी अल्पायु ही सिद्ध हुए। इस प्रकार ये तीनों ही अल्पजीवी पत्र इसी कारण साहित्य क्षेत्र में अपने किसी साहित्यिक ग्रुप के निर्माण में तो असफल रहे ही, किन्तु साथ-ही-साथ किसी विधा विशेष को गति प्रदान करने में भी इनका कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं रहा। इन पत्रों की अपेक्षा १९५३ ई० से ही व्यवधानों के साथ प्रकाशित हो रहे 'मरुवाणी'[4] एवं 'ओळमों'[5] नामक साहित्यिक पत्रों ने आधुनिक साहित्य के विकास की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। एक ओर इन पत्रों के प्रयासों से जहाँ राजस्थानी साहित्य-सर्जकों का एक पूरा वर्ग उभर कर सामने आया है, वहां दूसरी ओर इनमें गद्य और पद्य उभय क्षेत्रों की सभी विधाओं में कुछ-न-कुछ बराबर लिखा जाता रहा है। वैसे इन पत्रों का कथा-साहित्य की दृष्टि से जो योगदान रहा है, वह अन्य क्षेत्रों में सम्पादकीय सहानुभूति एवं प्रयासों के अभाव में उसकी तुलना में न्यून ही कहा जायेगा। "मरुवाणी" और "ओळमों" की इस परम्परा को बाद में प्रकाशित होने वाले 'कुरजां'[6] 'जनम भोम'[7] एवं 'जाणकारी'[8] जैसे पत्रों ने युगानुकूल आगे बढ़ाया है।

---

१. सं० राधाकृष्ण विसावा, प्रकाशन स्थान-धामण गांव
   यह पत्र वि० सं० १९७८ तक तो निश्चित रूप से प्रकाशित होता रहा, बाद की कोई सूचना अभी तक प्राप्त नहीं है।
२. सं०—श्रीमन्तकुमार व्यास प्रकाशन स्थान—जोधपुर, प्रकाशन काल-१९४७ ई०
३. सं०—श्री मुगन्, प्रकाशन स्थान—पहले कलकत्ता एवं बाद में जयपुर, प्रकाशन काल—वि० सं० २००४
४. सं०—रावत सारस्वत, प्रकाशन स्थान—जयपुर, प्रकाशन काल—वि० सं०—२०१०। यह अब भी श्री रावत सारस्वत के सम्पादकत्व में जयपुर से मासिक पत्र के रूप में प्रकाशित हो रहा है।
५. सं०—किशोर कल्पना 'कान्त', प्रकाशन काल—१९५४ ई०, प्रकाशन स्थान—रतनगढ़
६. सं०—अद्भुत शास्त्री, प्रकाशन-काल—१९६० ई०, प्रकाशन स्थान-रतनगढ़। यह पत्र दो वर्ष निकलने के पश्चात् बन्द हो गया।
७. सं०—मूलचन्द "प्राणेश", प्रकाशन काल-वि०सं० २०२४, प्रकाशन स्थान—बीकानेर, यह पत्र भी एक वर्ष नियमित रहने के बाद अब काफी अनियमित हो गया है।
८. सं०—पारस अरोड़ा एवं हनुमन चौहान, प्रकाशन स्थान—जोधपुर, प्रकाशन काल—१९६७ ई०। यह पत्र भी पांच अंकों तक ही निकल कर बन्द हो गया।

राजस्थानी पत्रों के इस विकासक्रम में दो अन्य पत्रों का नाम भी उल्लेखनीय बन पड़ा है। इनमें प्रथम है बम्बई से प्रकाशित होने वाला 'हरावळ'[1] एवं द्वितीय, 'राजस्थानी ग्रेक'[2] इनमें प्रथम पत्र 'ड्राइंग रूम मेगजीन' रूप में लोकप्रिय होने के लिए प्रयत्नरत है और अपने इस प्रयास में वह राजस्थानी भाषा-साहित्य को जन-साधारण के मध्य अधिक से अधिक प्रचारित कर, लोकप्रिय बनाना चाहता है। दूसरा पत्र 'राजस्थानी ग्रेक' एक विशुद्ध साहित्यिक प्रयास है और यह राजस्थानी का पहला पत्र है जिसने साहित्य की एक विधा-विशेष (नयी कविता) तक ही अपना दायरा सीमित रखा है, ताकि वह अपने क्षेत्र में जो कुछ भी दे वह आधिकारिक एवं अति महत्त्वपूर्ण बन सके।

इन सब पत्रों के अतिरिक्त राजस्थानी पत्रकारिता के क्षेत्र में 'लाडेसर', 'हेलो', 'विणजारा', 'म्हारो देस', एवं 'मूमल' आदि अन्य कुछ पत्र भी भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को लेकर सामने आये, किन्तु कुछ करने या देने से पूर्व ही बन्द हो गये।

यहां तक आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर पड़ने वाले उन विभिन्न प्रभावों की चर्चा हुई है, जो युगीन परिस्थितियों की उपज रही है, या कि उन स्थितियों पर विचार हुआ है जिन्होंने लेखकों को भिन्न-भिन्न दिशाओं में लिखने को प्रेरित किया। आगे एक सर्वेक्षण[3] के दौरान साहित्यकारों द्वारा अपने लेखन के मूल प्रेरणा-स्रोत के सम्बन्ध में व्यक्त किये गए विचारों के आधार पर जो निष्कर्ष सामने आये हैं, उनकी संक्षेप में चर्चा की जा रही है—

(१) अधिकांश साहित्यकारों ने सम-सामयिक सामाजिक जीवन को अपने लेखन का मूल प्रेरणा-स्रोत बतलाया है। उनके अनुसार—

(क) सामाजिक जीवन का वैषम्य

(ख) आम आदमी का दर्द एवं उसकी दुर्दशा तथा

(ग) समाज-सुधार की भावना।

उनके लेखन के मूल प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

२ अन्तर्मन की उमंग एवं पीड़ा से प्रेरित होकर या फिर स्वान्तः सुखाय लिखने वाले साहित्यकारों की संख्या सीमित ही है।

३. कतिपय साहित्यकार लोक-जीवन एवं लोक-साहित्य के समृद्ध भण्डार से प्रेरित होकर लिखते रहे हैं या लिख रहे हैं।

४. कुछ साहित्यकारों ने पारिवारिक एवं परिवेशगत साहित्यिक वातावरण से प्रेरित होकर लिखना शुरू किया।

---

१. सं०—सत्यप्रकाश जोशी, प्रकाशन स्थान—बम्बई, प्रकाशन काल—१९५९ ई०। यह पत्र अब भी बम्बई से प्रकाशित हो रहा है।

२. सं०—श्री तेजसिंह जोधा, प्रकाशन स्थान—जयपुर, प्रकाशन काल—१९७१ ई०। इस पत्र का दूसरा अंक अभी तक सामने नहीं आया है।

३. इस शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुतकर्ता ने अपने इस शोध कार्य के सम्बन्ध में एक सामान्य प्रश्नावली बनाकर लगभग सौ साहित्यकारों से भरवाकर मंगवाई थी। उपर्युक्त बातें उसी सर्वेक्षण के आधार पर लिखी गई हैं।

५. इसके अतिरिक्त राजस्थानी साहित्य के भण्डार को समृद्ध करने की भावना से प्रेरित होकर, व्यक्ति विशेष के प्रोत्साहन से प्रेरित होकर एवं समृद्ध ऐतिहासिक परम्परा से उत्साहित होकर कतिपय साहित्यकार लेखन की ओर प्रवृत्त हुए हैं।

उपर्युक्त मुख्य कारणों के अतिरिक्त दो-एक साहित्यकारों ने वैयक्तिक कारणों से प्रेरित होकर लिखते रहने की बात कही है। इस प्रकार इस सर्वेक्षण में भी मुख्यतः सामयिक परिस्थितियों एवं युगीन परिवेश को ही लेखन का मूल प्रेरक माना गया है।

निष्कर्षतः १६वीं सदी में पाश्चात्य जगत् से सम्पर्क के कारण भारतीय जीवन में नव जागरण की जो एक तीव्र लहर संचारित हुई उसके फलस्वरूप हमारे चिन्तन, रहन-सहन तथा विचारों में जो भारी परिवर्तन आया; उससे यहां का साहित्य भी अछूता नहीं रहा। यही नहीं, यदि यह कह दें कि उन परिवर्तनों को लाने में साहित्य की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण रही है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। राजस्थानी भाषा का साहित्य, जो विभिन्न कारणों से सम-सामयिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ आगे नहीं बढ़ पाया था, २०वीं शती के प्रारम्भ में ही प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों के प्रयासों के फलस्वरूप स्वयं को उस रूप में ढालने लगा, जिससे कि वह अपने समाज की आशा-आकांक्षाओं का प्रतिरूप बन सके तथा भविष्य की दृष्टि से उसके लिए सही राह निर्दिष्ट कर सके। इस प्रक्रिया में उसने आजादी से पूर्व परतन्त्रता के विरुद्ध जन-चेतना को उद्वेलित करने के अपने महत्त उत्तरदायित्व का एक सीमा तक निर्वाह किया तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् निर्माण एवं विकास के अनुकूल वातावरण तैयार करने की अपनी भूमिका को बखूबी निभाया और सम्प्रति तेजी से बदलती हुई सामाजिक व्यवस्थाओं, आस्थाओं एवं मान्यताओं को वाणी देने में सचेष्ट है।

❁

तृतीय खण्ड

गद्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ

राजस्थानी गद्य साहित्य का सामान्य परिचय

उपन्यास

कहानी

नाटक

एकांकी

निबन्ध

रेखाचित्र और संस्मरण

गद्य काव्य

निष्कर्ष

3 गद्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ

चौदहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ही राजस्थानी गद्य साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा रही है। मौलिक साहित्य सर्जन के समान ही, व्याकरण, इतिहास, ज्योतिष, वैद्यक आदि उपयोगी साहित्य में भी गद्य का बराबर उपयोग होता रहा। साहित्य सर्जन के अतिरिक्त शासन-संचालन, धर्म-प्रचार एवं सामान्य व्यक्ति के दैनन्दिन जीवन में भी गद्य समान रूप से व्यवहृत होता रहा। साहित्येतर गद्य—पत्र, ताम्रपत्र, शिलालेख, वंशावली, पट्टावली, गुर्वावली आदि नाना रूपों में उपलब्ध है एवं साहित्यिक गद्य की भी वचनिका, वात, ख्यात आदि नाना विधाओं वाली अति समृद्ध परम्परा रही है।[1]

'वचनिका' शब्द सामान्यतः गद्य-पद्य मिश्रित रचना के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु आदर्श वचनिका उसे ही कहेंगे जिसमें गद्य भाग लगभग आधे के बराबर हो और उसे पढ़ने में यह लगे कि वहां प्रधानता गद्य की ही है, पद्य प्रयोग तो केवल कृति की सरसता वृद्धि की दृष्टि से ही हुआ है। अनिवार्यतः तुकान्त गद्य का प्रयोग वचनिका की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता कही जा सकती है।[2] वैसे तो राजस्थानी में वचनिका संज्ञक काफी रचनाएं उपलब्ध हैं, किन्तु अपने साहित्यिक सौष्ठव के कारण 'अचलदास खीची री वचनिका गाडण सिवदास री कही'[3] और 'वचनिका राठौड़ रतनसिंहजीरी महेसदासोत री खड़िया जगारी कही'[4] ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

वात प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य की सर्वाधिक समृद्ध विधा रही है। राजस्थानी में नाना प्रकार की वातें प्रचुर मात्रा में लिखी गई हैं, जिनमें लौकिक जीवन के साथ-ही-साथ, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं पौराणिक प्रसंगों से समान रूप से कथानक का चयन हुआ है। इन वातों में जीवन के विविध पक्षों पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। इनका विस्तार कुछ ही पृष्ठों से लेकर सैकड़ों पृष्ठों में हुआ है। गद्य के साथ-साथ इनमें पद्य का प्रयोग भी होता रहा है। रोचकता और वर्णनों की प्रधानता इनकी

---

१. राजस्थानी गद्य साहित्य पर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन हो चुका है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय कृतियां हैं।
   (क) राजस्थानी गद्य साहित्य - उद्भव और विकास - डा० शिवस्वरूप शर्मा 'अचल'
   (ख) राजस्थानी गद्य शैली का विकास - डा० रामकुमार शर्मा, राज० वि० वि० पुस्तकालय जयपुर, (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध)
२. वचनिका राठोड़ रतनसिंहजी री महेसदासोत री खड़िया जगा री कही, सं: काशीनाथ एवं रघुवीरसिंह (भूमिका पृ० सं० २८)
३. रचना काल-वि० सं० १५०० के आस पास
४. रचना काल-वि० सं० १७१५

उल्लेखनीय विशेषताएँ कही जा सकती हैं। इनकी रचना पढ़ने हेतु नहीं अपितु सुनने हेतु होती थी। प्राचीन राजस्थानी साहित्य में विविध विषयों को लेकर इतनी अधिक वातें लिखी गई कि इनमें प्रतिनिधि रचना के रूप में किन्हीं दो चार वातों का उदाहरण दे पाना बड़ा कठिन है।

ख्यात 'ख्याति' से व्युत्पन्न है। राजस्थानी में वातों की तरह ख्यातों की संख्या भी पर्याप्त रही है। ख्यातों में ऐतिहासिक दृष्टि की प्रधानता रही है, किन्तु इतिहास तत्त्व की प्रधानता के कारण इनका साहित्यिक महत्त्व कम नहीं हुआ है। राजस्थानी ख्यातों में तात्कालिक सामाजिक जीवन एवं सांस्कृतिक जगत् का बड़ा प्रभावी एवं प्रामाणिक अंकन हुआ है। इन ख्यातों में 'मुहता नैणसी री ख्यात'[1] सर्वाधिक प्रसिद्ध रही है। यह ऐतिहासिक, साहित्यिक, भाषा-वैज्ञानिक एवं समाज-शास्त्रीय दृष्टि से समान महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। इस ख्यात के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय ख्यात हैं—'दयालदास री ख्यात',[2] और 'बांकीदास री ख्यात'[3]।

वचनिका, वात और ख्यात के अतिरिक्त प्राचीन राजस्थानी गद्य की दवावैत, सिलोका, वर्णक ग्रन्थ आदि अन्य रचनाएं भी कलात्मक गद्य की दृष्टि से उल्लेखनीय बन पड़ी है।

समग्र रूप से प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य की निम्नलिखित उल्लेखनीय विशेषताएँ रही हैं–

१. प्राचीन राजस्थानी गद्य में इतिहास-तत्त्व की प्रधानता रही है। मध्यकालीन इतिहास की दृष्टि से राजस्थानी की इन गद्य रचनाओं का महत्त्व बहुत अधिक है।

२. राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन की भव्य झांकी की इन गद्य रचनाओं में देखने को मिलती है।

३. तात्कालिक सामाजिक जीवन, लोक-विश्वासों, रीति-रिवाजों और परम्पराओं की सशक्त अभिव्यक्ति इन गद्य रचनाओं में हुई है।

संक्षेप में प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य अपने प्रौढ़, परिष्कृत एवं कलात्मक रूप के कारण ही नहीं, अपितु अपने विपुल भंडार के कारण भी प्राचीन उत्तर भारतीय भाषाओं में संस्कृत के अतिरिक्त साहित्य के गद्य क्षेत्र का अकेला भास्वर नक्षत्र है।

इस प्रकार की समृद्ध गद्य-परम्परा वाली राजस्थानी भाषा का आधुनिक गद्य साहित्य यदि अपनी पूर्व परम्परा से भिन्न एक सर्वथा नये रूप में ही प्रकाश में आये तो यह कुछ आश्चर्यजनक अवश्य प्रतीत होगा, किन्तु यह नहीं है। चूंकि आधुनिक राजस्थानी साहित्य में ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय साहित्य के गद्य क्षेत्र में उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण आदि विधाओं का आज जो रूप स्वीकृत है, वह सब पाश्चात्य साहित्य से गृहीत है, अतः राजस्थानी गद्य क्षेत्र में भी इन विधाओं का अपनी पूर्व परम्पराओं से सर्वथा अलग, नवीन रूप में प्रकट होना कोई अनहोनी बात नहीं है।

१. रचना काल—सं० १७०७-१७२२
२. रचना काल—सं० १८९५-१९४८
३. रचना काल—सं० १८३८-१८९०

आगे इस खण्ड के अध्यायों में आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य की निम्नलिखित विधाओं का प्रवृत्यात्मक अध्ययन विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. उपन्यास
२. कहानी
३. नाटक
४. एकांकी
५. निबन्ध
६. रेखाचित्र और संस्मरण
७. गद्य काव्य

❀

उपन्यास

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह राजस्थानी में भी उपन्यास-लेखन का प्रारम्भ पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के पश्चात् ही सम्भव हुआ। वैसे राजस्थानी का प्राचीन कथा-साहित्य काफी समृद्ध रहा है और उस की लिखित एवं मौखिक बातों की भव्य परम्परा रही है। इन बातों में जहां एक ओर सैकड़ों पृष्ठ लम्बी बातें उपलब्ध है, वहां दूसरी ओर कुछ ही पृष्ठों की सीमा में समा जाने वाली बातों की संख्या तो बहुत अधिक रही है। ये बातें अतिमानवीय पात्रों और अलौकिक प्रसंगों के बावजूद भी सामयिक लोक-जीवन एवं लोक-विश्वासों को बड़े सशक्त ढंग से और प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करती है, किन्तु जन-जीवन एवं लोक-विश्वासों से सीधे सम्पृक्त होते हुए भी कलेवर की लघुता या दीर्घता के आधार पर इन बातों को कहानी या उपन्यास संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता है।[1] क्योंकि वर्तमान में पाश्चात्य साहित्य से प्रेरित जिन कहानियों एवं उपन्यासों की सर्जना भारतीय भाषाओं के साहित्य में होने लगी है—उनके शिल्प एवं लेखन के पीछे सजग रहने वाली जीवन-दृष्टि का इन बातों में अभाव रहा है, अतः ऐसी स्थिति में राजस्थानी उपन्यास या कहानी का विकास इन बातों से मानना या फिर आधुनिक उपन्यास और कहानी के सम्पर्क-सूत्र इनसे जोड़ना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं कहा जा सकता।

राजस्थानी में उपन्यास-लेखन का आरम्भ श्री शिवचन्द्र भरतिया के 'कनक सुन्दर' के साथ होता है।[2] यहां यह भी द्रष्टव्य है कि राजस्थानी के इस प्रथम उपन्यास लेखक ने अपनी इस कृति के लिये 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु उसने इसके स्थान पर गुजराती में प्रचलित

---

१. 'कुंवरसी सांखलो' (प्र० का० १९७० ई०, राज० भाषा प्रचार सभा, जयपुर) नामक राजस्थानी की एक प्राचीन एवं लम्बी बात को उसके सम्पादक डा० मनोहर शर्मा ने उपन्यास संज्ञा से अभिहित किया है। फलस्वरूप सहज ही यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि राजस्थानी में मध्यकाल में ही उपन्यास लिखे जाते रहे है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। 'कुंवरसी सांखलो' उपन्यास के पाठ के स्वीकृत मानों में किसी भी दृष्टि से उपन्यास नहीं ठहर पाता। यही बात 'वरदा' में प्रकाशित एवं डाक्टर मनोहर शर्मा द्वारा संपादित '[illegible]' नामक राजस्थानी के तथाकथित मध्यकालीन उपन्यास के सम्बन्ध में लागू होती है।

२. प्रकाशन काल-वि० सं० १९६०

'नवल कथा' शब्द को अपनाया है। श्री भरतिया द्वारा व्यवहृत यह शब्द आगे नहीं चल पाया और उनके परवर्ती उपन्यास लेखकों ने उपन्यास शब्द को ही स्वीकार किया। कालक्रम की दृष्टि से 'कनक-सुन्दर' के पश्चात् 'चम्पा'[1] का स्थान आता है और उसके प्रकाशन के दशाब्दियों बाद तक राजस्थानी में उपन्यास नहीं लिखे गये। इस प्रकार राजस्थानी में उपन्यास के क्षेत्र में मिलने वाले वर्षों के इस अन्तराल का प्रभाव सम्पूर्ण राजस्थानी उपन्यास साहित्य पर पड़ा और कालावधि की दृष्टि से सात दशाब्दियाँ पार करने के पश्चात् भी राजस्थानी उपन्यासों की सख्या १० से अधिक नहीं बढ़ पायी। उपन्यास के क्षेत्र में आये इस व्यवधान को समाप्त कर पुनः नये युग का सूत्रपात करने का श्रेय श्री श्रीलाल नथमल जोशी के 'आभै पटकी'[2] उपन्यास को है। इसके पश्चात् एक ओर 'मैकती काया मुळकती धरती'[3], 'हूं गोरी किण पीव री'[4], 'धोरां री धोरी'[5] जैसे सामाजिक जीवन पर आधारित उपन्यास प्रकाश में आये तो दूसरी ओर लोकवार्ताओं पर आधारित 'तीडो राव'[6], 'मा रो बदळो'[7] एवं 'आठ राजकुंवर'[8] जैसे लोक उपन्यास भी सामने आये। उपन्यासों के इस विकास-क्रम में उन उपन्यासों का उल्लेख भी असगत नहीं होगा जो क्रमिक रूप से किसी मासिक या पाक्षिक पत्र में प्रकाशित होने लगे थे, किन्तु उनमें अधिकांश विभिन्न कारणों से कुछ ही अंशों तक प्रकाशित होकर बन्द हो गये। ऐसे उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं—श्री किशोर कल्पनाकान्त कृत 'धाडवी'[9], श्री रामदत्त सांकृत्य कृत 'आभळदे'[10] श्री पारस अरोड़ा कृत 'जाण्या अणजाण्या'[11] श्री दीनदयाल कुन्दन कृत 'गुंवार पाठो'[12] एवं श्री लक्ष्मीनिवास बिरला कृत 'पदमणी री सराप'।[13]

ऊपर राजस्थानी उपन्यास साहित्य की विकास यात्रा का जो एक संक्षिप्त परिचय दिया गया है, उससे यह बात स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है कि सीमित संख्या में प्रकाशित होने वाले राजस्थानी उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ भी सीमित ही रही हैं। सामाजिक, ऐतिहासिक, आंचलिक, रोमांटिक आदि

---

१. श्री नारायण अग्रवाल, प्र० का०-वि० सं० १९८२, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मण्डल, धामणगांव।
२. प्र० का०-१९५६ ई०, प्र०-सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर
३. अन्नाराम 'सुदामा', प्र० का०-१९६६ ई०, प्र०—धरती प्रकाशन, उदयरामसर
४. श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', प्र० का०-१९७० ई०, प्र०-राजस्थान भाषा-प्रचार सभा, जयपुर।
५. श्रीलाल नथमल जोशी, प्र० का०-ई० सन् १९६८, प्र०—राजस्थान साहित्य-अकादमी (संगम), उदयपुर
६. श्री विजयदान 'देथा', प्र० का०-वि० सं० २०२२, रूपायन संस्थान, बोरूंदा
७. श्री विजयदान 'देथा', प्र० का०—१९६६ ई० (द्वितीय संस्करण), प्र० रूपायन संस्थान, बोरूंदा।
८. बातां री फुलवारी भाग—३, पृ० सं० ७३, श्री विजयदान 'देथा', प्र० का०-वि० सं० २०२१ (द्वितीय संस्करण), प्र०-रूपायन संस्थान बोरूंदा।
९. ओळमो, वर्ष १, अंक—१, माघ २०११ विक्रम
१० हेलो (पाक्षिक)। इस उपन्यास का हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो चुका है।
११. माझेगर, (कलकत्ता)
१२. हरावळ (बंबई)। प्रस्तुत उपन्यास अब पूरा हो चुका है।
१३. प्रस्तुत उपन्यास सम्प्रति 'ओळमो' (मासिक) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा है।

उपन्यासों के नाना भेदों (विषय-वस्तु के आधार पर किये गये) में जहां राजस्थानी उपन्यासों का क्षेत्र केवल सामाजिक उपन्यासों तक ही सीमित रहा है, वहां उनमें प्रतिपादित विचारधारा एवं लेखकीय दृष्टिकोण के आधार पर भी उन्हें अधिक वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता। उनकी प्रमुख प्रवृत्ति तो आदर्शवाद की स्थापना ही रही है, किन्तु साथ ही उनमें वर्तमान जीवन का यथातथ्य अंकन होने के कारण उनमें यथार्थवादी तत्वों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। स्वतन्त्र रूप से भी दो एक उपन्यासों में आदर्श की अपेक्षा, यथार्थ को अधिक महत्व दिया गया है, अतः उनकी प्रमुख प्रवृत्ति यथार्थवाद और गौण प्रवृत्ति आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद की ओर रही है।

राजस्थानी में सामयिक सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में लिखे गये आदर्शवादी उपन्यासों का प्राधान्य रहा है। राजस्थानी का प्रथम उपन्यास 'कनक सुन्दर' पूर्णतः एक आदर्शवादी उपन्यास है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने जहा एक ओर तात्कालिक समाज की अनेक समस्याओं एवं कुप्रथाओं पर स्थान-स्थान पर स्वतंत्र रूप से प्रकाश डाला है, वहा दूसरी ओर उसने दो भिन्न आचार-विचार वाले परिवारों की कहानी के माध्यम से अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इसमें एक ओर बड़े भाई हजारीमल के परिवार की कहानी है—जो कि उन बहुत सारे मारवाड़ी परिवारों में से एक है—जहा अशिक्षा, फिजूलखर्ची, एवं व्यर्थ के सामाजिक आडम्बर पारिवारिक सुख में घुन की तरह लगे हैं—तो दूसरी ओर उसके छोटे भाई मुरलीधर के परिवार की कहानी है—जो इन सामाजिक कुरीतियों को छोड़ चुका है एवं युगानुकूल बदलने को तत्पर है। फलस्वरूप सुख एवं शांति में डूबा उसका परिवार सबके लिए एक अनुकरणीय आदर्श बन जाता है और उपन्यासकार का अभीष्ट भी यही है। यह उसकी हार्दिक चाह है कि हजारीमल जैसा पारिवारिक जीवन बीताने वाले मारवाड़ी अपने रूढ़िवादी दृष्टिकोण को त्यागकर मुरलीधर के अनुरूप अपने पारिवारिक जीवन को ढालें।[1] 'चम्पा' में उपन्यासकार श्रीनारायण अग्रवाल ने विभिन्न सामाजिक समस्याओं को न उठाकर केवल 'वृद्ध-विवाह' की समस्या को उठाया है, यद्यपि उसका अभीष्ट भी समाज-सुधार ही है। इस प्रकार 'कनक सुन्दर' एवं 'चम्पा' दोनों ही उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य तत्कालीन मारवाड़ी-समाज की कुरीतियों से जन-साधारण को विरत करने का रहा है किन्तु दोनों में एक उद्देश्य होने हुए भी एक अन्तर स्पष्ट है। 'कनक सुन्दर' में जहां लेखक तत्कालीन सामाजिक जीवन की विकृतियों का पर्दाफाश करता है, वहां वह एक आदर्श एवं अनुकरणीय चरित्र एवं परिवार की सृष्टि भी करता है, किन्तु 'चम्पा' में केवल विकृतियों को उभारा गया है।

'कनक सुन्दर' और 'चम्पा' का यह आदर्शवादी दृष्टिकोण 'आभैपटकी' में भी लगभग ज्यों-का-त्यों स्वीकृत हुआ है। इस उपन्यास के लेखक ने भी इसमें वर्तमान समाज की एक प्रमुख समस्या —'विधवा-विवाह' को मुख्य रूप से उठाया है और प्रासंगिक रूप से अंधविश्वास (भूत-प्रेत आदि में विश्वास) एवं कुरीतियों (जातीय पंचायतों का रूढ़िवादी दृष्टिकोण, अनमेल-विवाह, नारी-अशिक्षा) आदि

---

1. "मानां छां के कोई भी सरदार इण ग्रन्थ नूं बांचकर कुछ-न-कुछ बोध प्राप्त कर लेसी और थोड़ो घणो भी मुरलीधर जी को अनुकरण करबा को विचार कर लेसी तो ग्रन्थकर्ता आपरा श्रम सफल जाणसी।"

अन्य-अन्य समस्याओं का अंकन भी किया है। यहाँ भी 'कनक सुन्दर' की तरह एक ओर कुरीतियों के दुष्परिणामों का अंकन हुआ है और दूसरी ओर एक आदर्श परिवार (मोवन एवं किमना के रूप में) की सृष्टि की गयी है। यह उपन्यास 'कनक सुन्दर' से यदि किसी रूप में भिन्न पड़ता है तो केवल उन्हीं अर्थों में कि लेखक प्रस्तुत कृति में जहाँ-तहाँ स्वयं आकर उपस्थित नहीं होता और न ही 'कनक सुन्दर' की तरह सामयिक समस्याओं पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त कर[1], मुख्य कथा में व्यवधान उपस्थित करता है।

'कनक सुन्दर' से चला आदर्शवाद का यह प्रवाह 'मैकती काया-मुळकती धरती' में आकर भी कम नहीं हुआ है हाँ उसका स्वरूप अवश्य ही थोड़ा परिवर्तित हो गया है। जहाँ प्रथम तीनों कृतियों में यह आदर्शवाद बड़े स्थूल रूप में उभर कर सामने आया है, वहाँ 'मैकती काया मुळकती धरती' का लेखक बड़ी कुशलता से इस स्थूलता को बचा गया है। वैसे तो भारत-चीन और भारत-पाक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रस्तुत कृति के रोम-रोम से फूटता 'धरती-प्यार' और 'जातीय एकता' का सन्देश-देश की तात्कालिक आवश्यकता की ही उपज कहा जायेगा, किन्तु यह सन्देश अपने सार्वजनीन रूप में कुछ ऐसा है कि उसे देशकाल की सीमाओं में नहीं बाधा जा सकता।

'आभै पटकी' के लेखक श्री श्रीलाल नथमल जोशी का ही एक अन्य उपन्यास 'धोरां री धोरी' यद्यपि पूर्णतः एक व्यक्ति की जीवनी पर आधारित है, तथापि उसमें भी मुख्य पात्र के चरित्र को आदर्श रूप में संजोने में लगा सम्पूर्ण लेखकीय कौशल उसे आदर्शवादी विचारधारा से अनुप्राणित रचना ही सिद्ध करता है। राजस्थानी उपन्यासकारों का आदर्श के प्रति यह मोह उस स्थिति में और अधिक स्पष्ट हो जाता है जबकि ऊपरी तौर पर पूर्णतः यथार्थवादी प्रतीत होने वाला श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' कृत 'हूँ गोरी किण पीव री' नामक उपन्यास भी प्रच्छन्न रूप में ईश्वर के अस्तित्व एवं उसकी सर्वशक्तिमता की वकालत करता हुआ दृष्टिगत होता है।[2]

---

१. (क) "विद्या बिना आप दुखी, कुल दुखी, गांव दुखी और देश दुखी। विद्या बिना आदमी सींग-पूंछ बिना को पशु जाणणो। घास चरै नहीं, जो पशु को मोटो भाग छै, नहीं तो पशु बापड़ा भूखा मर जाता"।

'कनक सुन्दर', पृ० सं० ५

(ख) "कागला ज्यूं मर्‌या ढोर नै तक बोकरे त्यूं-का-त्यूं ब्राह्मण, ब्याह, ओसर-मोसर री खबरां लेता फिरे। पण आ बात समझै नहीं के दुनियां माहे मनुष्य देही घणी दुर्लभ छै। जिका माहे ब्राह्मण री देही तो घणी घणी दुर्लभ छै"।

'कनक सुन्दर', पृ०सं० ७८

(इसी भांति देश की पराधीनता, मारवाड़ी समाज की दुर्दशा, शिक्षा की महत्ता, औरतों की आभूषण-प्रियता आदि नाना प्रसंगों पर 'कनक सुन्दर' का लेखक स्वतंत्र रूप में अपने विचार व्यक्त करता चला गया है)

२. "..................इण अवस्था रै जुग नै जद नास्तिकता रो जोर है, जिकण एक कूड़ी सूंठी रै लारै गेलो हो रैयो है। ....निरमोही रै नाद नै सुणी [illegible]। उणरो मन्दोदै मांई रो हारो कर दियो। इणी सगत मोव [illegible] अनुभव है, इण गुनगान रै नर रो निचोड़ है—कै एक [illegible], [illegible] है, जिको [illegible] री [illegible] रै [illegible] में है, जिको [illegible] रै [illegible]

राजस्थानी उपन्यासकारों की आदर्श के प्रति रुझान उनके उपन्यासों के उद्देश्य में निहित भावनाओं से तो स्पष्ट हो जाती है, किन्तु उससे भी अधिक पात्रों के चरित्र-निर्माण में की गयी उनकी रुचि आदर्श के प्रति उनके आकर्षण को और अधिक स्पष्ट करती है। 'कनक सुन्दर' में तो लेखक ने 'कनक' और 'सुन्दर' को पूर्ण आदर्श रूप में प्रस्तुत कर देने की घोषणा अपनी भूमिका में ही स्पष्ट कर दी है, अतः उसका हर घटना के पीछे अपने आदर्श चरित्र को संवारने का प्रयास अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। 'चम्पा' में यद्यपि लेखक ने ऐसे किन्हीं घोषित आदर्श पात्रों की सर्जना नहीं की है, तथापि पात्रों का 'सत्' एव 'असत्' की श्रेणियों में विभाजन एवं 'असत्' पात्रों की बड़ी ही कारुणिक एवं दयनीय परिस्थितियों में की गयी समाप्ति,[1] लेखक की 'सत्' के प्रति गहरी आस्था को प्रकट करती है। इन दो उपन्यासों के अतिरिक्त 'आभैपटकी' में भी पात्रों का 'सत्' और 'असत्' रूप में ही चित्रण हुआ है। एक ओर 'मोवन' एवं 'किसना' जैसे पात्र हैं, जिनके चरित्र में लेखक ने हर अच्छाई को भरने का प्रयास किया है, तो दूसरी ओर 'फूला' एवं 'तीजां' जैसे पात्र हैं, जिनके चरित्र में अच्छाई का एकान्तिक अभाव रहा है। 'सत्' और 'असत्' श्रेणी के इन दो रूपों के अतिरिक्त उन पात्रों को भी जो अपनी सहज मानवीय कमजोरियों के साथ उपस्थित हुए हैं, अन्त में 'हृदय-परिवर्तन' वाली नीति का सहारा लेकर नेकनीयत वाले आदर्शपात्रों के रूप में ढाल दिया गया है। पंचायत के प्रधान रामनाथजी और किसना के भाई श्रीवल्लभ इसी श्रेणी के पात्र हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि इनमें पात्रों के चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप में न होकर लेखकीय आदर्श के अनुरूप ही हुआ है।

पात्रों को अपने आदर्श के अनुरूप (नैतिकतावादी के रूप में) प्रस्तुत करने की यह परम्परा 'मैकती काया मुळकती धरती' एवं 'धोरां रो धोरी' में भी लगभग उसी रूप में चली आई है। 'मैकती काया मुळकती धरती' में जितने भी असत् प्रवृत्ति वाले पात्र आये हैं, उन सबको सड़-सड़ कर मौत का शिकार हुआ चित्रित कर, लेखक ऐसे कर्मों से जनसाधारण को विरत करने में विशेष प्रयत्नरत दिखाई देता है। असत् प्रवृत्ति वाले पात्रों में दुराचारी ठाकुर और उसके सहायक तथा भ्रष्ट वाममार्गी साधक और उनकी सहयोगिनी को तो लेखक ने तत्काल एक आदर्श पात्र 'बापू' के हाथों यमलोक का रास्ता दिखला दिया है। इसके अतिरिक्त भी जीवन भर विषय-विकारों में फंसे रहने वाले 'पो थाने बाबा' और 'विधवा दारोगण' जैसे पात्रों को अपने अन्त समय में सड़-सड़ कर मरते हुए चित्रित कर यह संकेत करने का प्रयास किया गया है कि असत् कार्य करने वालों का अन्त सदैव बुरी स्थिति में ही होता है। 'धोरां रो धोरी' में यद्यपि 'सत्' और 'असत्' की श्रेणी में पात्रों का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी सभी प्रमुख पात्रों पर लेखक ने अपने आदर्श-वादी दृष्टिकोण को थोपा है। उपन्यास का

जीवण माय पुचमादुयां करै है, आछी पगरे है। या सगली पुराणी है? बहोत दिनां री पोदाई-गयाई पर्दा म्हैं समझायो है—दो है ईश्वर, कुदरत पर आगम-मगती। पण म्हैं उणनें ईश्वर ईम पंतू'सा।" 'हूं गोरी किण पीवरी', पृ० सं० २ एवं ३

1. 'चम्पा' में सभी असत् पात्रों का अन्त बड़ी ही दयनीय स्थिति में हुआ है। वृद्धावस्था में विवाह करने वाले सेठ मोंडुलाल को न केवल अपनी युवा पत्नी एवं ५० हजार रुपयों से ही हाथ धोना पड़ता है, परन्तु बड़े भारी अपयश का भागी भी बनना पड़ता है। इसी भांति उपन्यास के पाखण्डी साधु स्वामी मत्संगानन्द एवं उनके शिष्य बाबामदास जेल में पड़े सड़ते हैं और कुरालाल, चम्पालाल और नापूमाल जैसे धूर्त भी बुरी मौत मरते हैं।

नायक टैस्सीटोरी केवल नैतिकता की दुहाई देकर रात्रि के नीरव एकान्त में समर्पण के लिये आगे बढ़ती अपनी प्रेयसी को रोक देता है और अंतिम समय में केवल एक आलिंगन भर देने की भी उसकी याचना को ठुकरा देता है, तो यूरोपीय संस्कृति में पली उसकी प्रेयसी डोरोथी इस सबके बावजूद भी अपनी करोड़ों की सम्पत्ति टैस्सी के चरणों में (सच्चे प्यार की दुहाई देकर) समर्पित करना चाहती है और यही नहीं वह अन्त में उसके वियोग में तिल-तिल कर अपने प्राण होम देती है। इस प्रकार 'कनक सुन्दर' से लेकर 'धोरां री धोरी' तक सभी उपन्यासों में पात्रों के चरित्रांकन में लेखकों का आदर्शवादी दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है।

लेखकों के इस आदर्शवादी दृष्टिकोण ने न केवल चरित्रांकन को ही प्रभावित किया है, अपितु घटना-संयोजन भी उससे प्रभावित हुआ है। 'कनक सुन्दर' में जहां हजारीमल की लोभी वृत्ति एवं मुरलीधर के ईमानदार स्वभाव को प्रकट करने के लिये, अंग्रेजी साहब से कपड़े के पैसे जानबूझ कर अधिक लगाने और मुरलीधर द्वारा अपने भाई की उस गलती का सुधार करते हुए क्षमायाचना करने की घटना गढ़ी गयी है, वहां 'आभैपटकी' में मोवन और किसना के चरित्र की उज्जवल झांकी प्रस्तुत करने के ही उद्देश्य से रेल के डिब्बे में केवल दो आदमियों के ही 'कूपे' के मिलने और इसीलिए दोनों के घर लौट आने की घटना का संयोजन हुआ है। 'धोरां री धोरी' में टैस्सीटोरी के उच्चादर्शों को व्यंजित करने के लिये डोरोथी के प्रणय-प्रसंग की सर्जना की गयी है, और 'भंकती काया मुळकती धरती' में तो राष्ट्र-प्रेम एवं सांप्रदायिक एकता का आदर्श प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही 'कीमा बावो' के लगभग ४० पृष्ठों के प्रसंग का अनावश्यक विस्तार हुआ है। कहने का तात्पर्य यही है कि इन उपन्यासों में क्या घटना-संयोजन और क्या चरित्रांकन, सभी लेखकों के आदर्शवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित हैं।

ऊपर के विवेचन में राजस्थानी उपन्यासों में व्यंजित आदर्शवाद का जो व्यापक प्रभाव दिखलाया गया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन कृतियों में यथार्थ की उपेक्षा की गयी है। वस्तुतः इनके लेखकों ने अपनी बात को अधिक विश्वसनीय एवं स्वाभाविक बनाने की दृष्टि से यथासंभव यथार्थ का सहारा लिया है। यह सही है कि वे किसी एक आदर्श स्थिति की ओर अपने पाठकों को प्रेरित करना चाहते हैं, किन्तु उसकी व्यावहारिकता प्रमाणित करने के लिये उन्होंने यथार्थ प्रसंगों एवं स्वाभाविक घटनाओं का ही सहारा लिया है। 'कनक सुन्दर' से लेकर 'धोरां री धोरी' तक में जिन सामाजिक स्थितियों का अंकन हुआ है उनकी यथार्थता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। 'कनक सुन्दर' में तो जहां तक सामयिक सामाजिक स्थितियों का प्रश्न है, लेखक ने बड़ी निर्ममता से कटु-से-कटु सत्य (यथार्थ) को भी अपने प्रकृत रूप में प्रस्तुत करने में किंचित भी संकोच नहीं किया है।[1] 'चम्पा' में भी असत् प्रवृत्तियों के दयनीय अन्त के अतिरिक्त यथार्थ की उपेक्षा नहीं की गयी है। सेठ धोकलचन्द जैसे धन-लिप्सु व्यक्तियों का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें लेखक की यथार्थवादी दृष्टि का परिचय मिलता।

---

१. "निरा ब्राह्मण-स्नान, संध्या, गायत्री, वेदहीन होयर आचार-विचार सब दूर करने फाकता के ज्यूं मरया मुरदा ने पूंदता फिरै। हर हर !! म्हा दुःख की बात छै इसा श्रेष्ठ धर्म का लोग पेला-पेला के ताईं भनती-भनती जगां, भनता-भनता के वास्ते भगतो-भगतो धन धर्म करया ......गाल्या मोर धरम गमाने जावे।" 'कनक सुन्दर,' पृ० सं० ७८

है। 'आभै पटकी' में चित्रित समाज अपनी कुछ प्रतिवादी स्थितियों के अतिरिक्त कहां अविश्वसनीय रहा है? 'मैकती काया मुळकती धरती' में तो कथा का विकास ही इस ढंग से हुआ है कि 'धींसी बाबा' के प्रसंग से पूर्व तो पाठक कहानी में ही इस कदर खोया रहता है कि उसे कहीं भी यह प्रतीत नहीं होता कि कोई कल्पित कहानी उसे कही जा रही है। घटनाएँ स्वाभाविक रूप से एक के पश्चात् एक घटित होती चलती हैं और उनके माध्यम से राजस्थानी समाज का जो एक चित्र उभरता है, वह अपनी प्रामाणिकता के लिये किसी इतर साक्षी की अपेक्षा नहीं रखता। 'धोरां रो धोरी' में पता और उसके परिवार की कहानी कही गयी और उससे सम्बन्धित पात्रों का चारित्रिक विकास जिन स्वाभाविक स्थितियों में हुआ है—उसमें उभरे यथार्थ तत्व के कारण ही यह गौण कथा पाठकों को मुख्य कथा की अपेक्षा अधिक प्रभावित करती है। 'हूं गोरी किण पीवरी' उपन्यास तो अपने यथार्थवादी स्वरूप के कारण ही राजस्थानी के शेष अन्य उपन्यासों से अलग अस्तित्व बनाये खड़ा है। उसमें न तो पात्रों का 'सत्' और 'असत्' रूप में विभाजन किया गया है और न उसके घटना-संयोजन के प्रति यह कहा जा सकता है कि उनकी सर्जना किन्हीं विशेष बिन्दुओं को उजागर करने की दृष्टि से हुई है। उपन्यास के सभी पात्र अपनी समस्त अच्छाइयों-बुराइयों को लिए हुए अत्यन्त विश्वसनीय रूप में चित्रित हुए हैं। फलतः वे अपनी समस्त मानवीय कमजोरियों के बावजूद भी एकदम पाठकों की घृणा या वितृष्णा के पात्र नहीं बन गये हैं। 'माधो' जैसे पात्र के चारित्रिक पतन का अंकन जिन परिस्थितियों के मध्य दिखाया गया है, उसके कारण वह अपने पतित रूप में भी पाठकों की घृणा या आक्रोश का भाजन नहीं बनता है, सहानुभूति का भाजन वह भले ही बने।

राजस्थानी के सामाजिक उपन्यासों में जहां क्रमशः आदर्शवादी, आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी, एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा है, वहां राजस्थानी के लोक उपन्यासों में एक भिन्न ही प्रवृत्ति प्रस्फुटित हुई है, और वह है—'व्यंग्य' की। 'तीडोराव' और 'मां रो बदळो' इस दृष्टि से विशेष उल्लेख्य हैं। प्रतीकवादी शैली में लिखा गया 'तीडोराव' उपन्यास वस्तुतः 'तीडोराव' से सम्बन्धित विभिन्न लोक घटनाओं का ही समुच्चय नहीं है, अपितु यह ऐसे लोगों का प्रतीक है जो बिना किसी प्रकार की योग्यता के केवल तिकड़म एवं संयोग की सीढ़ियों के सहारे ही प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचते हैं। प्रस्तुत कृति के माध्यम से लेखक ने ऐसे तत्वों को प्रोत्साहित करने वाले समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था पर ही तीखा व्यंग्य-प्रहार किया है। साथ-ही-साथ लेखक ने धार्मिक आडम्बरों, अलौकिक तत्वों की स्थिति एवं अवतारों के आधार पर भी कड़ी चोट की है। 'मां रो बदळो' के सर्जन का तो मुख्य उद्देश्य ही सामन्ती समाज की दुर्व्यवस्था के एक-एक पहलू को निर्ममता से प्रकट करना रहा है।[1] अतः लेखक

---

१. " 'मां रो बदळो' नामक लोक कथा भी ऐसी ही (एकांगीय शासन व्यवस्था पर चोट प्रहार करने वाली) कथाओं की परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। लेखक ने कथा को मौखिक रूप में सुनते ही यह निर्णय लिया कि वह इस कथा को राजस्थान के सामन्ती समाज की दुर्व्यवस्था का एक उपन्यास बनाना चाहता है। लोक कथा के सम्पूर्ण तत्वों को ज्यों-का-त्यों बरकरार और सशक्त बनाये रखते हुए भी, वह कथा को निश्चित रूप से कुछ ऐसे तत्वों की ओर भी संकेत करना चाहेगा जो सामन्ती समाज की विकृतियों और राजस्थान में हाल ही समाप्त हुए राज-सत्ता की परिस्थितियों पर प्रकाश डाल सके।"
मां रो बदळो—एक विवेचन - कोमल कोठारी,
'मां रो बदळो' भाग—२, पृ० सं० ६

उस व्यवस्था के किसी भी कमजोर बिन्दु पर तीखा व्यंग्य-प्रहार करने से नही चुका है। श्री कोमल कोठारी के अनुसार तो प्रस्तुत कृति "सामन्ती-व्यवस्था का एक व्यंग्यपूर्ण महाकाव्य है।"[1] यह बात सही है कि प्रस्तुत उपन्यास मे लेखक को जहा कही भी अवसर मिला है, उसने भरपूर चुटकिया ली हैं, किन्तु सम्पूर्ण कृति को पढ़ने के पश्चात् यह भी स्वीकारने मे किसी को आपत्ति नहीं होगी कि उपन्यास की सर्जना एक विशेष राजनैतिक विचारधारा (मार्क्सवाद) से प्रेरित-प्रोत्साहित होकर की गयी है। फलतः कई स्थलों पर वर्णन अतिवादी रूपो एवं लेखक के विशेष राजनैतिक विचारों के आग्रह के कारण अस्वाभाविक बन गये है। विशेष रूप से राजाओ की मूर्खता और चापलूसों की चाटुकारिता का जो वर्णन हुआ है, वह काफी अतिरंजनापूर्ण लगता है।

राजस्थानी उपन्यासों में जो एक अन्य प्रवृत्ति उभरी है, वह है—आंचलिकता की। वैसे तो सोद्देश्य आंचलिकता के अंकन में कोई भी लेखक प्रवृत्त नही हुआ है, किन्तु अधिकांश उपन्यासों के कथानक का सीधा सम्बन्ध राजस्थान के किसी विशेष अंचल से होने के कारण उनमें स्वतः आंचलिक प्रभाव उभर आया है। 'मैकती काया मुळकती धरती' मे 'रोही रा भोमिया' से अहर्निश जगलों में घूमने 'बापू' के जीवन पृष्ठों को अंकित करने में स्वतः ही मरु-भू और मरु-प्रकृति का अच्छा-खासा चित्रण हो गया है। इसके अतिरिक्त घटनाओं के प्रवाह में जिन लोक-मान्यताओं एव लोक-विश्वासों का अंकन सहज ही हुआ है—उनमे झाकते स्थानीयता के तत्वो को अलगाया नही जा सकता। ऐसे प्रसंग 'हूँ गोरी किण पीव री' एवं 'धोरा रो धोरी' मे भी आये है जहां स्थानीय रीति-रिवाजो एव परम्पराओं का अंकन किंचित् विस्तार से हुआ। 'हूँ गोरी किण पीवरी' मे तो लेखक फिर भी गीत की दो चार कड़ियां[2] ही गुनगुनाकर मूल कथा मे खो गया है, किन्तु 'धोरा रो धोरी' मे तो 'पन्ना' के विवाह के प्रकरण[3] मे विवाहोत्सव पर सम्पन्न की जाने वाली स्थानीय परम्पराओ का विस्तार से वर्णन हुआ है।

आंचलिकता की दृष्टि से 'आभळदे' की चर्चा सर्वाचित् विस्तार से करना असंगत न होगा। यद्यपि यह राजस्थान के दसवी शताब्दी के सांस्कृतिक जीवन के परिप्रेक्ष्य मे लिखा गया एक ऐतिहासिक उपन्यास है, किन्तु इसमें लेखक ने एक अंचल विशेष की प्राकृतिक स्थिति एवं वहां के लोक-जीवन के अंकन मे जो विशेष रुचि ली है, वह इसे आंचलिक उपन्यासो के धरातल पर ला खड़ा करता है। उपन्यास की मूल कथा से पूर्व जहा लेखक ने 'आंचलिकता एव ऐतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत वहा की भौगोलिक स्थिति का विस्तार से परिचय दिया है, वहा उपन्यास मे होली जैसे उत्सव को भी आंचलिक रंग से रंगकर प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्यत्र भी प्रसगानुकूल लोकगीतों आदि का समावेश किया गया है।

---

१. मा नै बद्ळो, पृ० स० १५

२. "बीकानेर राज। गरीब जान री बीनणी, मुगाया दरडीने गुर मे मोठ्ं गावे है:—
गायनी ही पावळ-डाळ
बाई सूरज। सपूं गयी पे।
इसरो बायोमा—री माइ
बाई सूरज—सपूं गयी पे" (हूँ गोरी किण पीवरी, पृ० सं० ३)

३. धोरां रो धोरी, पृ० स० ८०

लोक उपन्यासों का आंचलिकता से सहज ही गहरा लगाव होता है। क्षेत्र विशेष के लोक-विश्वासों एवं मान्यताओं के साथ-ही-साथ उस अंचल की परम्पराओं का भी विशेष प्रभाव उनमें स्पष्ट लक्षित किया जाता है। इस दृष्टि से 'गा री बदळी' विशेष उल्लेख्य बन पड़ा है। राजस्थान के सामन्ती समाज, विशेष रूप से राजदरबारों एवं सामन्तों से सम्बन्धित जीवन का बड़ा प्रभावी चित्र प्रस्तुत उपन्यास में उभरा है। लेखक ने उस व्यवस्था के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तन्तु को अपनी अन्तर्भेदिनी दृष्टि के सहारे बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। राजा के दैनन्दिन जीवन के आचरण, प्रजा और उसके सम्बन्धों एवं राज्य-संचालन-विधि में स्थानीयता का रंग विशेष रूप से उभर कर सामने आया है।

औपन्यासिक तत्वों की दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि राजस्थानी में चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यासों का ही प्राधान्य रहा है। कहीं-कहीं तो यह तत्व इतना अधिक उभर कर प्रकट हुआ है कि घटना और उसके बीच सन्तुलन ही बिगड़ गया है और कई घटनाएँ अस्वाभाविक एवं अतिरंजनापूर्ण लगने लगती हैं। 'धोरां री धोरी' में टैस्सीटोरी की अध्ययन-प्रियता और कुशाग्र बुद्धि की ओर इंगित करने के लिये लेखक ने समुद्रीय तूफान की जिस घटना का संयोजन किया है—वह अपनी अस्वाभाविकता के कारण पूरे उपन्यास का मजा किरकिरा कर देती है। ऐसे भयंकर तूफान में—जबकि जहाज के डूबने की नौबत आ गयी हो—टैस्सी का स्थिर होकर अध्ययन में लगा रहना कैसे सम्भव था? इसी प्रकार यात्रियों का जहाज को छोड़कर डोंगियों के सहारे उस तूफान से बचने का प्रयास करने को उद्यत होना और पश्चात् टैस्सी द्वारा समझाये जाने पर अपने इस प्रयास की व्यर्थता का भान उन्हें होना बिल्कुल अस्वाभाविक बात है। जहाज के कप्तान और अन्य यात्रियों को इतना स्थूल बुद्धि का कैसे माना जा सकता है कि वे उस भयंकर तूफान में (जबकि इतना बड़ा जहाज भी डूबने की स्थिति में पहुँच गया हो) जहाज को छोड़, मामूली डोंगियों के सहारे समुद्र पार करने का विचार करें। 'आभै पटकी' में आये ऐसे प्रसंग भी जिनकी योजना अपेक्षित पात्र के किसी विशेष गुण या अवगुण का अंकन करने की दृष्टि से हुई है—काफी खटकने वाले हैं।

पात्रों के चरित्रांकन में मुख्यतः दो शैलियों का उपयोग इन सभी उपन्यासों में हुआ है। एक ओर लेखक स्वयं अपनी ओर से पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं[1] और दूसरी ओर घटनाओं के स्वाभाविक विकास-क्रम में उनके चरित्र के प्रमुख बिन्दुओं को उजागर किया गया है। यहाँ भी, दो स्थितियाँ रही हैं—एक ओर 'कनक सुन्दर', 'चम्पा', 'आभै पटकी' एवं 'धोरा री धोरी' जैसे उपन्यासों में पात्रों के चरित्र की मोटी-मोटी रेखाओं को ही अंकित किया गया है, तो दूसरी ओर '[illegible] [illegible] मुळकती धरती' एवं 'हूँ गोरी किण पीवरी' में घटना-प्रवाह के साथ उठने-गिरने पात्रों की विभिन्न मन स्थितियों के अंकन और उनके अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने में विशेष ध्यान दिया गया है।

राजस्थानी के अधिकांश उपन्यासों में पात्रों को वर्ग-प्रतिनिधि (टाइप) रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रमुख रही है। 'आभै पटकी' की 'बिमला' अपने जैसी सहस्रों भारतीय विधवाओं के जीवन

1. "कुम्भेसर जी की भाभी को स्वभाव घणों तीख और [illegible] हो। घर मांहे रात दिन किट-किट राग बोलती ही। घर को धंधो बराबर करती नहीं, [illegible] रा दिन [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मजा लेती।" — कनक सुन्दर, पृ० सं० [illegible]

की दर्दभरी दास्तान कहती है तो उसी उपन्यास की एक अन्य पात्र 'फूलां'[1] भी किस समाज में कब और कहां नहीं मिल जायेगी ? 'मेंकती काया मुळकती धरती' के लेखक ने तो स्पष्टतः ही स्वीकार किया है कि उसके उपन्यास में आये पात्र गाव-गांव में देखने को मिल जायेंगे। ये नाम तो केवल प्रतीक भर हैं।[2] इसी प्रकार 'मां रो बदळो' के राजा, उसके दरबारी एवं अन्य सामान्यजन सामन्ती शासन-व्यवस्था के किस काल और किस देश मे नहीं मिलेंगे ? 'तीडोराव' का नायक 'तीडो' भी व्यष्टि रूप में नहीं अपितु अपने प्रतीक रूप मे ही महत्त्वपूर्ण बनता है। वह ऐसे पाखंडियो का प्रतीक है, जो केवल संयोगों के बल पर ही अपने क्षेत्र के सर्वोच्च आसन पर जा बैठते है। 'व्यष्टि' को प्रधानता देने में 'हूं गोरी किण पीव री' के लेखक ने ही विशेष उत्साह दिखाया है या फिर जीवनी-प्रधान उपन्यास 'धोरां रो धोरी' में नायक का व्यक्तिगत चरित्र उभरकर पाठकों के सामने आया है।

शैली की दृष्टि से अधिकांश उपन्यासों मे वर्णनात्मक शैली का ही सहारा लिया गया है। लेखक स्वयं सारी कथा को कहते चले गये हैं। 'मेंकती काया मुळकती धरती' ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें आत्मकथात्मक शैली को अपनाया गया है। उपन्यास की नायिका 'सुगनी' (नानी) अपनी सारी रामकहानी स्वयं सुनाती है। उपन्यास मे आई गौण कथाओं के पात्र—'बापू', 'मां' (पोवाली माजी) और 'कीमो बाबो' भी लगभग अपना सारा जीवन-वृतान्त स्वयं ही सुनाते हैं। लेखक स्वयं सारी कथा में एक श्रोता के रूप में उपस्थित रहा है और बीच-बीच मे प्रसगानुकूल अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कर, कहीं एकरसता को भंग करता है, तो कहीं कथा को कोई वांछित मोड़ देने में सहायक बनता है और कहीं कथा को गति प्रदान करने का निमित्त। प्रतीक शैली का उपयोग 'तीडोराव' मे विशेष रूप में हुआ है। 'तीडोराव' जो कि आज तक एक सामान्य लोककथा का नायक था, लेखकीय कौशल के कारण, 'मिथ्या-प्रतिष्ठा' का प्रतीक बन गया है। उसके सम्बन्ध में एक आलोचक ने तो यहा तक आशा प्रकट की है कि विजयदान का यह 'तीडोराव' शीघ्र ही विश्व-साहित्य के विशिष्ट प्रतीकों में अपना स्थान बना लेगा।[3]

---

१. 'फूलां' (मालण) राजस्थानी वार्तों का बहुपरिचित बदनाम चरित्र रहा है। इसका व्यवसाय दौत्यकर्म और शौक (हॉबी) दो सुखी परिवारों या व्यक्तियों में वैमनस्य पैदा करना रहा है। प्रस्तुत उपन्यास मे भी यह लगभग अपने उसी रूप में ही चित्रित हुई है।

२. "नानी तूं एक गाव में नी अर न एक घर में ही। तूं तो पूरा माळै जिसा धरती पर है। थारी आ वात एक थारे सगे ही को है नी सूंगी।........थारी नणद, थारो ठाकर, थारो पोमाळो बाबो अर थारी वार्तां ईं धरती स्यूं कदेई नी मरेनी।........छोटी स्यूं छोटी बस्ती में ही आ मायनो कोई न कोई साधनो ही अर लाधतो ही रैसी।"
मेंकती काया मुळकती धरती—पृ० सं० १४४

३. "प्राणघाती असीम स्वर्ण लिप्सा का प्रतीक 'राजा मिदास', हवाई महत्वाकांक्षा का प्रतीक 'शेख चिल्ली' भ्रामक ज्ञान की ओट में बेहद अज्ञानता का प्रतीक 'बुझागर', नृशंस मुस्कानों के बेहद लालच का प्रतीक 'शाइलाक', सामन्ती मुठभेड़ों व मयानी वीरता का प्रतीक 'डान क्विग्जोट', करुणा दया और परोपकार का प्रतीक 'हातिमताई' ये सभी इस क्षण-भंगुर संसार के अमर नायक है। मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले ये नायक चांद-सूरज की भांति हमेशा जगमगाते रहेंगे। इन नायकों के परिवार में मुझे 'तीडोराव' के रूप में एक नई वृद्धि दीखती है।"
'सम्मति'—'तीडोराव', कोमल कोठारी)

कहानी

राजस्थानी का प्राचीन कथा-साहित्य पर्याप्त समृद्ध रहा है। सत्तरहवीं शताब्दी से ही राजस्थानी में विभिन्न विषयों को लेकर वार्ताएँ लिखी जाने लगी, जिन्हें वात संज्ञा से अभिहित किया गया है। ये वार्तें गद्य, पद्य तथा मिश्रित रूप में, लिखित एव मौखिक दोनों ही रूपों मे प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। इनकी अपनी कुछ शिल्पगत विशेषताएँ हैं, जो इन्हें शेष भारतीय कथा-साहित्य से अलगाती हैं, किन्तु जिसे हम आज 'कहानी' नाम से जानते है, उसका इन वातों से कोई सीधा सम्बन्ध नही है, क्योंकि कहानी का जो एक विशिष्ट स्वरूप हमने स्वीकारा है वह पाश्चात्य साहित्य की देन है। अत. आज कहानी के नाम से जो कुछ लिखा जा रहा है, शिल्प-विधि की दृष्टि से उसका सीधा सम्बन्ध अंग्रेजी 'शार्ट स्टॉरी' से है, पुरानी राजस्थानी 'वात' से नही।

राजस्थानी मे कहानी लेखन का शुभपात सीधे पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर नही हुआ, अपितु बंगला, मराठी एवं हिन्दी साहित्य से प्रेरित होकर राजस्थानी साहित्यकार ने इस विधा को स्वीकारा। हिन्दी कहानी जहा मूलतः बंगला साहित्य से प्रेरित रही है वहां राजस्थानी कहानी के लिए बंगला के साथ-साथ मराठी साहित्य भी समान रूप से प्रेरणा स्रोत रहा है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य के प्रारम्भिक चरण के प्रायः सभी गद्य-लेखक प्रवासी राजस्थानी थे, जिनका सम्बन्ध बंगाल की अपेक्षा महाराष्ट्र से अधिक रहा।

राजस्थानी मे उपन्यास और नाटक की भांति पाश्चात्य शैली की कहानी लिखने का प्रथम प्रयास भी राजस्थानी के 'भारतेन्दु' श्रीयुत् शिवचन्द्र जी भरतिया ने ही किया। कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले हिन्दी मासिक 'वैश्योपकारक' मे आपकी प्रथम कहानी 'विश्रान्त प्रवासी'[1] नाम से वि० सं० १९६१ मे प्रकाशित हुई। भावपूर्ण सरस गद्य तथा संस्कृतनिष्ठ प्रवाहमयी शैली इस कहानी की उल्लेखनीय विशेषता है।[2] इसके पश्चात् श्री गुलाबचन्द नागौरी, श्री शिवनारायण

---

१. वैश्योपकारक, वर्ष १, अंक ३, पृ० सं० ५७

२. "या भावमयी मूर्ति पावनूं जमीन ऊपर भार दिखती हुई अश्रुधारा सूं नेत्र ने पखाली हुई, हृदय ने कपाती हुई, दृष्टि ने तिरोहित करती हुई, मुख ने आच्छादित करती हुई, कटाक्ष बाणांसूं रस्तो रोकती हुई, मनने हरण करती हुई, मधुर, आनन्दहीन, चंचल, उदास, गलित-वदना, प्रत्यक्ष करुणरस की नदी म्हारा निःसहाय हृदय ने बहा रही है, डुबो रही है और प्राण व्याकुल कर रही है। प्रेम भरी-नहीं नहीं विचित्र विरहभरी दृष्टि-कटाक्ष करीर म्हारे सर्वांग व्याप गई, मने उन्मन कर दूर हो गई और प्रभात कर ऊषा ने शून्य कर गई।"

वैश्योपकारक, वर्ष १, अंक-३, पृ० सं० ५७-५८

चाहे यह भविष्यवाणी सफल हो या न हो, किन्तु इतना तो सही है कि प्रस्तुत कृति ने राजस्थानी में प्रतीकवादी शैली में उपन्यास लेखन का सफल आरम्भ किया है।

कालावधि की दीर्घता (लगभग सत्तर वर्ष) में प्रकाशित सीमित राजस्थानी उपन्यासों के अध्ययन से कुछ एक बातें विशेष रूप से उभर कर सामने आयी हैं। एक ओर जहा सामाजिक उपन्यासों का ही प्राधान्य आधुनिक राजस्थानी साहित्य में रहा है, वहा दूसरी ओर राजस्थानी की सुदीर्घ बात परम्परा (मौखिक एवं लिखित दोनों ही रूप मे) के परिप्रेक्ष्य मे लोक-उपन्यास लेखन का कार्य भी लगभग समानान्तर रूप से गत दशक में चला है। सामाजिक उपन्यासों मे भी सामयिक समस्याओं के प्रतिपादन और युग-युग से प्रताड़ित नारी को महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से उभरी है। समाज को सही दिशा निर्देश देने की भावना से प्रेरित होने के कारण अधिकांश उपन्यासों में आदर्शवाद का प्राधान्य रहा है एवं साथ-ही-साथ अपने कथन को विश्वसनीय बनाने की दृष्टि से उन्हें यथार्थ ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास भी इनमें हुआ है। उपन्यास के विविध रूपों–ऐतिहासिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, जासूसी, रोमांटिक एवं साहसिक आदि–का राजस्थानी में अभी तक अभाव है। उसके शिल्प मे वह मंजाव एवं कसाव नही आया है जो आज के अच्छे हिन्दी उपन्यासों में सामान्यतः देखने को मिलता है। यही नही, पात्रो के चरित्रांकन मे भी अपेक्षित मनोवैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग भी एक-आध उपन्यास में ही हुआ है। यद्यपि उपन्यास विधा कहानी के समान ही वर्तमान समय में लोकप्रिय है, किन्तु प्रकाशन साधनो के अभाव में राजस्थानी में इसका समुचित रूप से विकास नहीं हो पाया। राजस्थानी कहानी की तुलना मे राजस्थानी उपन्यास के सीमित कलेवर को देखकर यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि राजस्थानी गद्य लेखक जीवन की युगानुकूल व्याख्या करने एवं उसके बदलते मानदण्डों को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करने की स्थिति तक नहीं पहुंच पाये हैं। वस्तुतः प्रकाशन की सीमाएं ही राजस्थानी उपन्यासों की सीमाएं बनी हुई हैं। दसो अर्ध-प्रकाशित एवं बीसों अप्रकाशित उपन्यास[1] जब प्रकाशित होकर सामने आयेंगे तो निश्चय ही राजस्थानी उपन्यास साहित्य और समृद्ध होगा।

---

१. अप्रकाशित उपन्यास –(१) धोरां री धरती–श्री सूर्यशंकर पारीक (२) काल भैरवी (ऐति० –श्री रामनिवास शर्मा (३) माटी रा मिनख–श्री दामोदरप्रसाद जलधारी (४) गली–राम प्रसाद चाकलान (५) मधुवंती–रामप्रसाद धाकलान (६) मोंम धन-हरमन चौहान (७) भोळियो–किशोर कल्पनाकान्त (८) आग मे मुळकै कमल–अन्नाराम 'सुदामा' (९) एक बीनणी दो बीन–श्रीलाल नथमल जोशी (१०) शरणागत पाल–श्रीलाल नथमल जोशी (११) धर्मी राजा–डा० नारायणदत्त श्रीमाली (१२) रावळै री रातां–श्री सुमेरसिंह शेखावत–आदि। लेखक ने पत्र-व्यवहार द्वारा जो जानकारी प्राप्त की है, उसके आधार पर।

कहानी

राजस्थानी का प्राचीन कथा-साहित्य पर्याप्त समृद्ध रहा है। सत्तरहवीं शताब्दी से ही राजस्थानी में विभिन्न विषयों को लेकर वार्ताएं लिखी जाने लगीं, जिन्हें बात संज्ञा से अभिहित किया गया है। ये बातें गद्य, पद्य तथा मिश्रित रूप में, लिखित एवं मौखिक दोनों ही रूपों में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। इनकी अपनी कुछ शिल्पगत विशेषताएं हैं, जो इन्हें शेष भारतीय कथा-साहित्य से अलगाती हैं, किन्तु जिसे हम आज 'कहानी' नाम से जानते है, उसका इन बातों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कहानी का जो एक विशिष्ट स्वरूप हमने स्वीकारा है वह पाश्चात्य साहित्य की देन है। अतः आज कहानी के नाम से जो कुछ लिखा जा रहा है, शिल्प-विधि की दृष्टि से उसका सीधा सम्बन्ध अंग्रेजी 'शार्ट स्टॉरी' से है, पुरानी राजस्थानी 'बात' से नहीं।

राजस्थानी में कहानी लेखन का सूत्रपात सीधे पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर नहीं हुआ, अपितु बंगला, मराठी एवं हिन्दी साहित्य से प्रेरित होकर राजस्थानी साहित्यकार ने इस विधा को स्वीकारा। हिन्दी कहानी जहा मूलतः बंगला साहित्य से प्रेरित रही है वहां राजस्थानी कहानी के लिए बंगला के साथ-साथ मराठी साहित्य भी समान रूप से प्रेरणा स्रोत रहा है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य के प्रारम्भिक चरण के प्रायः सभी गद्य-लेखक प्रवासी राजस्थानी थे, जिनका सम्बन्ध बंगाल की अपेक्षा महाराष्ट्र से अधिक रहा।

राजस्थानी में उपन्यास और नाटक की भांति पाश्चात्य शैली की कहानी लिखने का प्रथम प्रयास भी राजस्थानी के 'भारतेन्दु' श्रीयुत् शिवचन्द्र जी भरतिया ने ही किया। कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले हिन्दी मासिक 'वैश्योपकारक' में आपकी प्रथम कहानी 'विश्रान्त प्रवासी'[1] नाम से वि० सं० १९६१ में प्रकाशित हुई। भावपूर्ण सरस गद्य तथा संस्कृतनिष्ठ प्रवाहमयी शैली इस कहानी की उल्लेखनीय विशेषता है।[2] इसके पश्चात् श्री गुलाबचन्द नागोरी, श्री शिवनारायण

---

१. वैश्योपकारक, वर्ष १, अंक ३, पृ० सं० ५७

२. "या भावमयी मूर्ति पावन जमीन ऊपर भार लिगती हुई मधुधाम सूं नैनां ने वरसाती हुई, हृदय ने कंपाती हुई, दृष्टि ने तिरोहित करती हुई, मुख ने आच्छादित करती हुई, कटाक्ष बाणामृं रत्नां गोपती हुई, मनने हरण करती हुई, मधुर, आनन्दहीन, चंचल, उदास, मलिन-वदना, प्रत्यक्ष करुणरस की नदी म्हारा निःसहाय हृदय ने बहा रही है, दुखी रही है और प्राण व्याकुल कर रही है। प्रेम भरी-नहीं नहीं विचित्र विषभरी दृष्टि-म्हारा शरीर माथे नाखंर ... गई, मने उन्मत्त कर दूर हो गई और मसान बन जंगल में गुम कर गई।"

वैश्योपकारक, वर्ष १, अंक-३, पृ० सं० ५७-५८

तोशनीवाल, पंडित छोटेराम शुक्ल प्रभृति लेखकों की सामाजिक जीवन को आधार बनाकर लिखी गयी कहानियां मिलती हैं, जिनमें सुधार एवं उपदेश का स्वर सर्वोपरि रहा है। इस दृष्टि से श्री शिवनारायण तोशनीवाल की 'विद्यापरंदैवतम्'[1] 'स्त्री शिक्षण को ओनामा'[2], श्री गुलाबचन्द नागौरी की 'बड़ी-तीज'[3] एवं 'बेटी की बिक्री तथा बहू की खरीदी'[4] आदि कहानियां उल्लेखनीय बन पड़ी हैं। इन कहानियों में विशेष रूप से तात्कालिक मारवाड़ी समाज की किसी एक समस्या को आधार बनाया गया है। प्रारंभ में यथार्थवादी वातावरण की सृष्टि करते हुए अन्त में इन्हें लेखकीय आदर्श के अनुरूप ढाल दिया गया है। चूंकि इन लेखकों का उद्देश्य केवल मनोरंजन की दृष्टि से कहानी लिखना नहीं रहा, अतः उपदेश एवं सुधारवादी प्रवृत्ति को भी वे इन कहानियों में समान रूप से महत्त्व देते रहे हैं। तभी तो शिवनारायण तोशनीवाल जैसे कहानी लेखकों ने अपनी कहानियों के शीर्षक के नीचे 'एक मनोरंजक एवं बोध प्रद बात' या 'एक उपदेशप्रद और मनोरंजक' बात लिखकर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है।

उपदेश एवं सुधारवादी दृष्टिकोण के प्रमुख होते हुए भी ये कहानियां प्राचीन कहानियों से सर्वथा भिन्न पड़ती हैं, क्योंकि इनमें न तो कोई अतिमानवीय पात्र ही आया है और न ही किसी अलौकिक घटना-प्रसंग का समावेश इनमें हुआ है। इसके विपरीत इनका लघुकलेवर, इनमें उभरा सजीव वातावरण, इनके पात्रों का स्वाभाविक चरित्रांकन, अलंकरणहीन बोलचाल की भाषा का प्रयोग आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो कि इन्हें आधुनिक कहानी के ही अधिक निकट की सिद्ध करती हैं। यही नहीं अपने शिल्प में भी ये कहानियां आधुनिक कहानी के शिल्प से ही मिलती हैं। इस दृष्टि से श्रीयुत गुलाबचन्द नागौरी का 'बेटी की बिक्री और बहू की खरीदी' का प्रारम्भिक अंश द्रष्टव्य है, जिसमें एक ओर घरेलू जीवन का एक बहुत ही स्वाभाविक एवं सशक्त चित्र अंकित हुआ है, तो दूसरी ओर 'एक था राजा' वाली शैली को भी बहुत पीछे छोड़ दिया गया है—

"दिन भर बेपार में ही मगन रहशो के की घर की भी फिकर राखशो ? टाबरां की सगायां करणी है' क नहीं ? के ब्यांने कंवारा ही राखणा है ? दस पांच बार बात चलाई पण सुणी-अणसुणी कर गया, आ कांई बात !!" लिछमी की मां लिछमी का काकाजी अमरचन्दजी नें बोली।

"फिकर-विकर तो सब है पण संगायां कोई गेला में पड़ी है ? आज चार छ मीनाशूं बा ही वा फिकर लाग रही है, पण कुछ संगत लागे नहीं।" अमरचन्दजी जवाब दीनो।

"संगत नहीं लागवाने कांई हुयो मन मोटो कर्‌योर लागी संगत। हजार पांच सौ वता", सुन्दर बाई बोल्या।[5]

---

१. पंचराज, वर्ष २, अंक २ (वि० सं० १६७३), पृ० सं० ५४
२. वही, वर्ष २, अंक ४-५, पृ० सं० ११६
३. माहेश्वरी, वर्ष २, अंक ३-४ (वि० सं० १६६६), पृ० सं० ७७
४. पंचराज, वर्ष २, अंक ३, पृ० सं० ६०
५. बेटी की बिक्री और बहू की खरीदी : श्री गुलाबचन्द नागौरी
   पंचराज, वर्ष २, अंक ३, पृ०सं० ६०

इस प्रकार आधुनिक राजस्थानी कहानी के प्रारम्भिक चरण में सामाजिक धरातल पर लिखी गयी सुधारवादी कहानियों का बोलबाला रहा। राजस्थानी कहानी के इस प्रथम चरण के विषय में एक बात और भी उल्लेखनीय है। कतिपय आलोचकों ने श्री भगवतीप्रसाद दारूका की हिन्दी कहानियों—['एक मारवाड़ी की घटना' (वि०सं० १९७२) और 'एक मारवाड़ी की बात' (वि०सं० १९८५)] जिनमें राजस्थानी पात्रों का वार्तालाप भर राजस्थानी में हुआ है—को राजस्थानी कथा साहित्य में एक नया मोड़ प्रदान करने वाली रचनाएँ बतलाया है।[1] किन्तु इन कहानियों के संवाद भर राजस्थानी में होने से ही ये कथा-रचनाएँ राजस्थानी कहानी साहित्य को एक नया मोड़ प्रदान करने वाली रचनाएँ कैसे बन गयी ? जब कि राजस्थानी में स्वतंत्र रूप से आधुनिक शैली की कहानियां उनसे १०–११ वर्ष पूर्व ही लिखी जाने लगी थी और जहां तक हिन्दी कहानी में पात्रों के वार्तालाप में राजस्थानी भाषा के प्रयोग का प्रश्न है, तो श्री दारूका की उक्त कहानियों से काफी पहले प्रकाशित पंडित माधवप्रसाद मिश्र की 'लड़की की बहादुरी'[2] में इस प्रयोग को अपनाया जा चुका था।

इस प्रकार प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों ने कहानी के क्षेत्र में जिस युग का सूत्रपात किया, सामाजिक जीवन के आधार पर जिस धारा को प्रवाहित किया, वह अविकल रूप से प्रवाहित नहीं हो पाई है अपितु बीच में ही अवरुद्ध हो गई। विभिन्न कारणों से प्रवासी राजस्थानी साहित्यकार उस धारा को गतिमान बनाये रखने में समर्थ नहीं हुए और राजस्थान में रहने वाले साहित्यकारों से इस दिशा में किसी प्रकार का सहयोग न मिल पाने के कारण आधुनिक राजस्थानी कहानी का यह जीवन्त एवं पुष्ट प्रवाह असमय ही कुंठित होकर समाप्त हो गया।[3] लगभग बीस वर्ष के अन्तराल के बाद ही श्री मुरलीधर व्यास, श्री श्रीचन्दराय प्रभृति लेखकों के प्रयास से आधुनिक राजस्थानी में पुनः कहानी-लेखन प्रारम्भ हुआ। किन्तु हम इन्हें पूर्व परम्परा से किसी प्रकार सम्पृक्त नहीं कर पाते। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती राजस्थानी लेखकों से प्रेरणा न लेकर हिन्दी और बंगला कहानियों से प्रेरित होकर एवं श्री सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी प्रभृति विद्वानों से उद्बोधित होकर इस क्षेत्र में पदार्पण किया। वैसे तो

---

१. "सं० १९७२ वि० में जद श्री भगवती प्रसाद दारूका हिन्दी में 'एक मारवाड़ी की घटना' (करनी का फल) अर सं० १९८५ वि० में 'एक मारवाड़ी री बात' प्रकाशित करवाई (जिकारां सगळा संवाद राजस्थानी भाषा रा है) तद सूं राजस्थानी भाषा रै आधुनिक कथा साहित्य एक नूवों मोड़ लियो।"

जलमभोम, (राजस्थानी रा प्रतिनिधि कथाकार) वर्ष २, अंक १, पृ०सं० ५

२. वैश्योपकारक, वर्ष २ के विभिन्न अंकों में यह कहानी क्रमशः प्रकाशित हुई है।

३. श्री दीनदयाल ओझा राजस्थानी कथा-यात्रा में आये इस अवरोध की बात स्वीकार नहीं करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि—"कहानी साहित्य का सर्जन श्री नाहटा के पिछले २० वर्षों में अवरुद्ध नहीं रहा पूर्णवेग से गतिमान रहा।" (ननगार, वर्ष २३, अंक २२) अपने इस कथन के समर्थन में श्री ओझा ने जो तर्क दिये हैं वे किसी भी दृष्टि से स्वीकार्य नहीं हैं। प्रथम तो आधुनिक युग के साहित्य की विवेचना में अप्रकाशित सामग्री को आधार नहीं बनाया जा सकता। द्वितीय, यदि एक क्षण को श्री ओझा के आग्रह को मान भी लिया जावे तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बीकानेर जिले के इन उत्साही साहित्यकार बन्धुओं ने प्रवासी

व्यास जी का प्रथम राजस्थानी कहानी संग्रह 'वरसगांठ'[1] वि० सं० २०१३ में प्रकाशित हुआ है, किन्तु इन्होंने इस संग्रह के प्रकाशन से काफी पूर्व ही आधुनिक शैली में कहानियां लिखना प्रारम्भ कर दिया था और 'राजस्थान भारती' आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर उन्हें प्रकाशित करवाते रहे। तब से आज तक राजस्थानी में बड़ी संख्या में कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और दशाधिक कहानी संग्रह प्रकाश में आ चुके है।

आधुनिक राजस्थानी कहानी के प्रवृत्तिगत मूल्यांकन से पूर्व दो तीन बातों का स्पष्ट हो जाना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। आधुनिक राजस्थानी कहानियों की परस्थितियां एवं उनका विकासक्रम हिन्दी से भिन्न रहा है, अतः हम इसे हिन्दी की तरह न तो प्रेमचन्द-युग; जैनेन्द्र-युग या अज्ञेययुग का शीर्षक देकर (व्यक्ति विशेष के वर्चस्व को इस क्षेत्र मे स्वीकारते हुए) विभाजित कर सकते हैं और न ही प्रवृत्तियों की प्रबलता के आधार पर 'यथार्थवादी-युग,' 'मनोविश्लेषणवादी-युग'—आदि के रूप में ही विभाजित कर सकते हैं। अभी तक राजस्थानी में ऐसा कोई एक समर्थ कहानीकार नहीं हुआ है जो प्रेमचन्द की तरह अपने संपूर्ण युग पर छाया रहा हो और न ही कोई प्रवृत्ति विशेष ही इतनी प्रभावी हो पायी है कि वह अन्यान्य प्रवृत्तियों पर पूर्णतः छा गई हो। इसके विपरीत राजस्थानी में एक ही समय मे भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों वाली एवं भिन्न-भिन्न स्तरों की कहानियां साथ-साथ लिखी जाती रही हैं और आज भी लिखी जा रही हैं। अतः ऐसी स्थिति में राजस्थानी कहानी को युगों की सीमा में विभाजित कर या प्रवृत्ति विशेष को समय विशेष में सर्वोपरि मानकर मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः राजस्थानी के सम्पूर्ण कहानी साहित्य को ध्यान में रखकर एक ही समय में समान रूप से प्रभावी प्रवृत्तियों के आधार पर उसकी सम्यक् आलोचना एवं उचित मूल्यांकन हो सकता है।

आधुनिक राजस्थानी कहानी साहित्य मे सामाजिक जीवन को आधार बनाकर लिखी गयी कहानियों का प्राधान्य रहा है, जिनमें समूह-जीवन, पारिवारिक जीवन और वैयक्तिक जीवन अर्थात् समष्टि से लेकर व्यष्टि जीवन तक की परिस्थितियों और समस्याओं को भिन्न-भिन्न स्तरों पर छूआ गया है। इन सामाजिक कहानियों में लेखकीय दृष्टिकोण के अनुसार दो स्थितियां विशेष रूप से प्रभावी रही है। एक ओर सुधारवादी भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी कहानियां हैं, जिनमें तात्कालिक

राजस्थानियों की रचनाओं से प्रेरणा ली हो ऐसा कहीं प्रमाण नहीं मिलता। मैंने स्वयं श्री मुरलीधर व्यास से वार्ता की है—जिसमें उन्होंने स्पष्टतः स्वीकारा है कि श्री नरोत्तमदासजी के आग्रह एवं बंगला कथाकारों से प्रेरित होकर ही उन्होंने राजस्थानी में लिखना प्रारम्भ किया है। उनके प्रकाशित कहानी संग्रह मे भी लिखा गया है कि इस संग्रह के प्रकाशन के लगभग २० वर्ष पूर्व ही व्यास जी ने राजस्थानी में आधुनिक शिल्प की कहानियों का लेखन प्रारम्भ कर दिया था जो कि प्रकाशन के अभाव में सामने नहीं आ पायी। इसी बात को भी सही मानकर चलें तो भी व्यास जी ने कहानी लेखन का श्रीगणेश वि०सं० १९९७ के आसपास किया था जबकि प्रवासी राजस्थानियों की उक्त कहानियों का लेखनकाल वि०सं० १९९१ से १९७३ के मध्य रहा है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से श्री ओझा की इन आपत्तियों को स्वीकारा नहीं जा सकता।

१. प्रकाशक—सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर।

समाज की किसी एक कुरीति या समस्या का आदर्श समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है या फिर उनमें समाज के लिए अहितकर परम्पराओं का ऐसा कारुणिक अन्त चित्रित किया गया कि पाठक उससे प्रेरित होकर उस स्थिति के निवारण को उत्साहित हो। दूसरी ओर ऐसे किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखने की अपेक्षा कहानीकार का दृष्टिकोण सामाजिक या पारिवारिक जीवन के किसी एक पहलू को यथा-तथ्य रूप में अंकित करने या फिर बदलते सामाजिक जीवन और परिवर्तित होते मूल्यों को दर्शाने का रहा है। प्रथम प्रकार की कहानियों को आदर्शवादी एवं आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी एवं द्वितीय प्रकार की कहानियों को यथार्थवादी कहानियों की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

प्रथम प्रकार की कहानियों में मुरलीधर व्यास की 'करमां रो मोल'[1] 'नरमेध या समाज रो मौरो'[2] श्री नानूराम संस्कर्ता की 'दूधगिलोड़ी'[3] 'दायजो'[4] 'डाकरण-स्यारी'[5], 'बेडो'[6], श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'घरण बूठा करण हाणु',[7] श्री अन्नाराम 'सुदामा' की 'इळै डूंगर फळै चट्टान',[8] 'रोग रो निदान',[9] श्री बैजनाथ पवार की 'भूरी'[10] आदि पचासों कहानियों के नाम सहज ही गिनाये जा सकते हैं। इन कहानियों में दृष्टिकोण की लगभग समानता होते हुए भी प्रस्तुतीकरण के ढंग एवं उनमें व्यंजित विचारों को लेकर पर्याप्त भिन्नता रही है। व्यासजी में कुरीति का दुष्परिणाम अंकित करने की भावना प्रबल रही है और एक इसी बिन्दु पर कहानीकार का सारा ध्यान केन्द्रित हो जाने के कारण उनकी कहानियों में चरित्र-चित्रण, वातावरण आदि बातें गौण हो गई है। श्री संस्कर्ता में वर्णनात्मकता का प्राधान्य और बात को रोचक बनाने का आग्रह प्रमुख रहा है। श्री पवार ने चरित्र-चित्रण, वातावरण-संयोजन आदि बातों पर पर्याप्त ध्यान देने के बावजूद भी आदर्श के प्रति निरपेक्ष दुर्बलता के कारण अपनी अधिकांश यथार्थवादी कहानियों को अंत में आकस्मिक एवं अप्रत्याशित सुखद मोड़ प्रदान कर अस्वाभाविक बना दिया है। इन सभी कहानीकारों की अपेक्षा श्री नृसिंह राजपुरोहित ने अपेक्षित कुशलता एवं सतर्कता का परिचय दिया है। उन्होंने सामाजिक विकृतियों के प्रति अपना आक्रोश कहीं सीधे व्यक्त नहीं किया, अपितु धीरे से मीठी चुटकी भर ली है। इस दृष्टि से उनकी 'रूपाळी बीनणी'[11] एवं 'बीन म्हारी माछली'[12] नामक कहानियां द्रष्टव्य हैं। श्री अन्नाराम 'सुदामा' की

१. बरसगांठ : मुरलीधर व्यास, पृ० सं० ५०, प्रका० वि० सं० २०१३
२. वही, पृ० सं० ७०
३. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी) : सं० दीनदयाल ओझा, पृ० सं० १६, प्र० का०- १९६१ ई०
४. दसदोख : नानूराम संस्कर्ता, पृ० सं० १५, प्र० का०-वि० सं० २०२३
५. वही, पृ० सं० ६०
६. वही, पृ० सं० ६१
७. हरावळ : सं० सत्य प्रकाश जोशी, पृ० सं० १४, दिसम्बर १९६६
८. आंधे नै आंख्यां : श्री अन्नाराम 'सुदामा', पृ० सं० १, प्रका० १९७१ ई०
९. आंधे नै आंख्यां : श्री अन्नाराम 'सुदामा', पृ० सं० ५६
१०. नाटेसर : बैजनाथ पवार, पृ० सं० २८, १९७० ई०
११. अमरचूनड़ी : नृसिंह राजपुरोहित, पृ० सं० ७७
१२. वही, पृ० सं० ८३

स्थिति इन सब कहानीकारों से थोड़ी भिन्न रही है। उनकी कहानियों में चिन्तन की प्रधानता रही है और वर्तमान सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उनका एक विशेष दृष्टिकोण रहा है। फलत: उसी विचारधारा के समर्थन में उनकी कहानियों में घटना, पात्र आदि सभी की सरचना हुई हैं। जहां श्री व्यास एवं संस्कर्ता ने समष्टि-जीवन के चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया है, वहां श्री 'सुदामा' ने व्यष्टि को आधार बनाकर समष्टि जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों और समस्याओं को उठाने में विशेष रुचि प्रदर्शित की है।

इसके अतिरिक्त चिन्तन के स्तर पर भी श्री 'सुदामा' की कहानियाँ अन्य कहानीकारों से भिन्न पड़ती हैं। अन्य कहानीकार विशेष रूप से श्री व्यास एवं संस्कर्ता में जहां सांकेतिकता एवं वैचारिक ऊहापोह के स्थान पर प्रत्यक्ष चित्रों एवं वर्णनों का प्राधान्य रहा है, वहां श्री 'सुदामा' विचारों की ऊहापोह में अधिक रमे हैं, और उनकी कहानियों में समस्याओं का ऊपरी लेखा-जोखा भर प्रस्तुत नहीं हुआ है, अपितु उसके पीछे कार्यरत जीवन दर्शन एवं विचारधारा को टटोलने का प्रयास हुआ है। उदाहरण के लिए श्री मुरलीधर व्यास की 'मिनखापणों मन ढाडापणों'[1] एवं 'सुरेश'[2] तथा श्री 'सुदामा' की 'डर्ळ डूगर. फळै चट्टान' एवं 'रोगरो निदान' नामक कहानियों को लिया जा सकता है। यद्यपि दोनों ही कहानीकारों ने आज की फैशनपरस्ती एवं फिजूल खर्ची की विकृति को इन कहानियों में उठाया है, किन्तु दोनों ही कहानीकारों के चिन्तन-स्तर की भिन्नता ने कहानियों में बहुत अधिक फासला ला दिया है। जहां श्री व्यास ने समस्या को ऊपरी स्तर पर उठाया है वहां 'सुदामा' ने इस स्थिति के पीछे कार्यरत वर्तमान जीवन के 'झूठे स्टैण्डर्ड के मोह' एवं आत्म-प्रदर्शन के मूल बिन्दु को पकड़कर अपनी बात को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।। हां, यह बात दूसरी है कि अपने चिन्तन के प्रति कहानीकार की गहरी आसक्ति एवं उत्प्रेक्षा तथा उपमा के प्रति कहानीकार के अनावश्यक आकर्षण ने कहानियों को कई स्थलों पर विचार बोझिल एवं एक सीमा तक नीरस बना दिया है।

दूसरी ओर वे सामाजिक कहानियाँ आती हैं, जिनमें कहानीकार समाधान प्रस्तुत करने या किसी बुराई से विरत होने का सन्देश देने के मोह से मुक्त होकर बदलते सामाजिक जीवन के चित्र अंकित करने और समाज तथा व्यक्ति के चिन्तन में आ रहे परिवर्तन को अंकित करने में विशेष रूप से रमे हैं। ऐसी कहानियों में श्री राजपुरोहित की 'उतर भीखा म्हारी बारी',[3] 'कुवै भांग पड़ी', 'भारत भाग विधाता',[4] श्री बैजनाथ पंवार की 'कातिग म्हातम'[5], 'पासो'[6] श्री नानूराम संस्कर्ता की 'मिरचारी बुरकी'[7], 'माटी री हांडी',[8] श्री श्रीलाल नथमल जोशी की 'काल ले जाए'[9] आदि कहानियाँ उल्लेखनीय बन पड़ी हैं। इन

---

१. बरसगाठ, पृ०सं० ६८
२. वही, पृ०सं० १११
३. रातवासो : नृसिंह राजपुरोहित, पृ०सं० ५६, प्र०का०-१९६१ ई०
४. अमरचूनड़ी, नृसिंह राजपुरोहित, पृ०सं० ६४, प्र०का०-१९६६ ई०
५. लाडेसर : बैजनाथ पवार, पृ०सं० १४
६. जलमभोम, पृ०सं० ८४, वर्ष २, अंक १
७. ग्योथी : श्री नानूराम संस्कर्ता, पृ०सं० ६२
८. वही, पृ०सं० १४२
९. मरुवाणी, पृ०सं० ६, वर्ष ६, अंक ७-८

सभी कहानियों में मुख्यतः समष्टि जीवन एवं चिन्तन में आ रहे परिवर्तन को अंकित किया गया है। श्री संस्कर्ता की कहानियों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ग्राम्यजीवन में राजनीति के प्रवेश के कारण हो रही भारी उथल-पुथल को अंकित किया गया है, तो श्री राजपुरोहित की कहानी 'भारत भाग विधाता' में शहरी सभ्यता से सम्पर्क के कारण, शान्त-से दृष्टिगत होने वाले ग्राम्यजीवन के सरोवर में तनाव, मनमुटाव एवं संघर्ष की उठती लहरों को अंकित किया गया है। श्रीलाल नथमल जोशी की 'काल ले जाए' में सामाजिक व्यवस्था एवं जातीय सम्बन्धों मे आ रहे परिवर्तन को संकेतित किया गया है, तो 'उतर भीखा म्हारी वारी' एवं 'पासो' जैसी कहानियाँ शोषण और निठल्ला जीवन जीने की सामन्ती परम्पराओं की मिटती लकीरों एवं उनके स्थान पर उभरती समता तथा श्रम की नवीन रेखाओं को अंकित करती है। 'कुएँ भांग पड़ी' और 'फेट मे आयोड़ो'[1] जैसी कहानियाँ हमारे सामाजिक जीवन मे विष की तरह घुलते जा रहे भ्रष्टाचार और अनैतिक आचरण के बढ़ते कदमो की ओर ध्यान आकर्षित करती हैं।

ऊपर जिन कहानियों का उल्लेख हुआ है उनमे मुख्यतः समष्टि जीवन मे आ रहे परिवर्तन को अंकित किया गया है, किन्तु परिवर्तन के इस चक्र मे केवल समष्टि को ही प्रभावित किया हो ऐसी बात नही है, अपितु समष्टि से भी अधिक हमारा पारिवारिक एवं वैयक्तिक जीवन एव चिन्तन, इससे कहीं अधिक प्रभावित हुआ है। व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन में हमारे सोचने का ढंग कितना बदल चुका है और उसके कारण हमारे आपसी सम्बन्धो में कितना अन्तर आ गया है, इसकी झलक 'सुहागण भागण'[2] एवं 'बाप अर बेटो'[3] जैसी कहानियों मे तथा हमारा वैयक्तिक जीवन किस कदर जड़ता एवं ठहराव का शिकार बनता जा रहा है इसका चित्र 'लैम्प पोस्ट',[4] 'आतम बोध'[5] एवं 'सळवटां'[6] जैसी कहानियों में सहज ही देखने को मिल जाता है। 'सुहागण भागण' मे जहाँ, मां खुद ही अपनी बेटी को पातिव्रत-धर्म पालने के स्थान पर पति और प्रेमी दोनो के साथ निभाव करने का संकेत करती हुई एक ही 'खेळी' पर 'सान्ड' और 'बळद' दोनों को पानी पिलाने की बात करती है, तो 'बाप और बेटो' का युवा पुत्र प्रौढ़ पिता के प्रेम-व्यापार मे बाप को अपदस्थ कर स्वयं जाकर जमता ही नही, अपितु अपने बाप की तथाकथित प्रेमिका के सामने ही बाप को गालियाँ देकर खूब छकाता है। उधर 'आतम बोध' आज के भौतिक प्रगति के युग में मशीन के साथ मशीन बने मानवीय जीवन की विडम्बना पर प्रकाश डालती है, तो 'लैम्प पोस्ट' भी लगभग दूसरे शब्दों मे यंत्र बने मानव की ही कहानी कहता है।

आधुनिक राजस्थानी सामाजिक कहानियों के मुख्य उपजीव्य रहे हैं—पूंजीपति एवं सामन्ती-वर्ग के शोषण के शिकार बने दीन-हीन कृषक-मजदूर-वर्ग के प्राणी, सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ परम्पराओं के चक्र में पिसते हुए निम्नमध्यमवर्गीय-लोग और आए वर्ष मनचाहे मेहमान की तरह आ

---

१. आंधै नै आंख्यां, पृ०सं० २६
२. रामनिवास शर्मा, जन्मभोम, पृ० सं० ६६, वर्ष ७, अंक १
३. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', मूमल, स० रामनिवास शर्मा, पृ० सं० ८, नवम्बर १९७१ ई०
४. रामनिवास शर्मा, मूमल, पृ० स० १५, नवम्बर १९७१ ई०
५. रामनिवास शर्मा, हरावळ, पृ० सं० ३१, वर्ष १, अंक-६
६ रामेश्वरदयाल श्रीमाली, मधुमती, पृ० स० ४४, जुलाई १९७१

टपकाने वाले अकाल से संत्रस्त, अभावों से जूझते हुए मानवी कंकालों के समूह । इनमें भी शोषितों एवं रूढ़ि पीड़ितों का जहाँ तक प्रश्न है—हिन्दी और अन्य भाषाओं के साहित्य में भी इनकी समस्याओं को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है और इन समस्याओं पर आधारित राजस्थानी कहानियाँ भी विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उनसे कोई विशेष भिन्न नहीं पड़ती है । 'बरसगांठ'[1], 'करम री मार'[2], 'पीड्यो री मौर'[3], 'गंगली'[4], 'उतर भीखा म्हारी बारी' आदि कहानियों में जोंक की तरह गरीबों का खून चूसने वाले 'सूदखोरों' और 'दारू-मांस' में मस्त, अधिकारों के उन्माद में उन्मत बने सामन्तों की निर्ममता एवं निष्ठुरता का अंकन हुआ है । यहाँ प्रसंगवश इन विषयों की राजस्थानी कहानियों के सम्बन्ध में एक संकेत अवश्य करना चाहूँगा, वह यह कि विषय का द्वितीय पक्ष, यहाँ के कहानीकारों की नजर से ओझल नहीं रहा है । जहाँ पूंजीपति वर्ग के शोषण की बात कही गयी है वहाँ डाक्टर मनोहर शर्मा की अनेक कहानियों में इसके विपरीत उनकी सहृदयता एवं सदयता का भी अच्छा अंकन हुआ है और उधर सामन्ती क्रूरताओं के समानान्तर ही उस वर्ग की शरणागतवत्सलता, प्रण-पालनता और शूरवीरता का प्रभावी चित्रांकन भी कई कहानियों में बड़ी तन्मयता से हुआ है । इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहानियाँ बन पड़ी है—डा० शर्मा की 'चिलको'[5], 'कन्यादान'[6], श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'भोमजी ठाकर',[7] 'पेट री दाझ',[8] श्री मुन्नालाल राजपुरोहित की 'ऊंट रो भाड़ो'[9] आदि ।

अकाल की भीषणताओं को अंकित करने वाली कहानियाँ, हिन्दी और अन्यत्र भी मिल जायेंगी, किन्तु राजस्थानी की 'अकाल' विषयक कहानियाँ प्रामाणिकता एवं वातावरण के सजीव अंकन की दृष्टि से इन सबसे अलग-थलग दृष्टिगत होती है । यहाँ अकाल का जो वर्णन हुआ है वह अखबारी खबरों के आधार पर बनायी गयी अकाल सम्बन्धी एक विशेष भावुकतापूर्ण दृष्टि का अंकन नहीं है, अपितु यहाँ के सामान्य-जन की भांति ही यहाँ के कहानीकारों के रग-रग में समाये अकाल की पीड़ा का अंकन है । इस दृष्टि से कतिपय उल्लेखनीय कहानियाँ हैं—श्री मुरलीधर व्यास की 'मेह मामो',[10] 'पेट रो पाप',[11] श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'गांवरी हथाई',[12] श्री बैजनाथ पंवार की 'धापी भूवा'[13] एवं

---

१. बरसगांठ, पृ० स० १
२. रातवासो, पृ० सं० १३
३. करणीदान बारहठ, हरावळ, पृ० सं० २५, मार्च १९७१
४. रामदत्त सांकृत्य 'विमल', राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० सं० ८८
५. कन्यादान, डा० मनोहर शर्मा, पृ० सं० २०, प्र०का०-१९७१
६. वही, पृ० सं० १
७. रातवासो, पृ० सं० ३१
८. अमरचूंनड़ी, पृ० सं० ४१
९. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० सं० ११६
१०. बरसगांठ, पृ० सं० ६
११. वही, पृ० सं० ३१
१२. मरुवाणी, पृ० सं० ३३, वर्ष ६, अंक १२
१३. वही, पृ० सं० ३६, वर्ष ६, अंक १२

श्रीपुरुषोत्तम छंगाणी की 'पूरब-पिच्छम'[1]। इनमें व्यास जी की कहानियों में एक ओर अकाल की मार से पीड़ित प्राणियों के दयनीय एवं कारुणिक चित्र अंकित हुए है तो दूसरी ओर ऐसे दीन-हीनों के प्रति शहरी लोगों के कलुषित चिंतन एवं आचरण को अपने नग्न रूप मे प्रस्तुत किया गया है। 'धापी भूवा', 'गांव री हथाई' और 'पूरब पिच्छम' जैसी कहानियो मे अकाल की भीषणता के दारुण से दारुण चित्र अंकित होते हुए भी उनमे साथ-ही-साथ यहा के सामान्यजन की उस अदम्य जिजीविषा एव गहरी आस्था का भी अंकन हुआ है जिसके सहारे वह ऐसी विकट विपदा को भी हँसते-हँसते सहता है। 'गाव री हथाई' का बूढ़ा भूवर काका—जो कि अपने जीवन मे अनेक दुर्भिक्षो को झेल चुका है—अकाल की भीषणता के कारण एक क्षण को विकल होकर कल क्या होगा की चिंता मे डूब जाता है, किन्तु दूसरे ही क्षण सहज विश्वास से भर उठता है और आगामी वर्ष की भरपूर फसल की कल्पना मे खुशी में भरकर नये बैलों की जोड़ी खरीदने की चर्चा मे डूब जाता है। उधर, धापी भूवा अकाल, भूख और महामारी पीड़ित गांव में भी जिस उत्साह के साथ सेवा कार्य मे रत रहती है, वह उसके भावी मगल में दृढ़ विश्वास का परिणाम कहा जा सकता है। 'पूरब पिच्छम' का 'हरखू' देश के अन्य भागों मे सूखा पीडितों की सहायता में बहुत कुछ पहुँचने की बातें सुनता है और साथ ही अपने क्षेत्र की भीषण उपेक्षा भी देखता है, किन्तु वह फिर भी हताश नही होता, अपितु लोगों को उलटा यही समझाता है कि अपने लोगों के लिए तो यह प्रतिवर्ष का खेल है और उस क्षेत्र में चूंकि यह प्रथम अवसर है, अत. अपनी उपेक्षा परेशानी का विषय नही होना चाहिए। इस प्रकार भीषण विपदाओं में भी मुस्कराते इन चेहरों की यह अडिग आस्था उन चित्रों से कितनी भिन्न है जिनमे एक हाथ से औरत रोटी ले रही है और दूसरे हाथ से वह रोटी देने वाले के हाथों अपनी अस्मत बेच रही है।

सामाजिक कहानियो के पश्चात् ऐतिहासिक विषयों को लेकर कहानी लेखन मे राजस्थानी कहानीकारों ने अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की है। उन्होंने अपनी ऐतिहासिक एवं अर्द्ध ऐतिहासिक कहानियों में राजस्थान के गौरवपूर्ण इतिहास और यहा की गरिमामयी सांस्कृतिक परम्पराओं को अपने सम्पूर्ण परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इतिहास प्रसिद्ध लोकप्रिय और ख्यात बात आदि मे बहुचर्चित प्रसंगों को ही राजस्थानी ऐतिहासिक कहानीकारों ने मुख्यतः अपनी कहानियों का आधार बनाया है। फलतः अधिकाश मे उनकी कहानियों के विषय राजस्थान एवं राजपूती इतिहास से ही सम्बद्ध रहे हैं। इस दृष्टि से लिखी गयी कतिपय उल्लेखनीय कहानियाँ है लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत की 'राजपूताणी'[2], 'पिउसंधी'[3], 'हूंकार की कलंगी'[4], 'हाडीरानी'[5] श्री सौभाग्यसिंह शेखावत की 'सोहियाणा

---

१. मरुवाणी, पृ० सं० ५, वर्ष ६, अंक ४

२. पाबूजी री बात: रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत, पृ० स० २४, प्र० भाग-वि० सं० २०१८ (द्वितीय संस्करण)

३. वही, पृ० सं० ३३

४. वही, पृ० सं० ४४

५. वही, पृ० सं० ५५

को कंवर'[1], 'खादू रो खेटो'[2] श्री सवाईसिंह धमोरा की 'नकली आमेर असली कछवाह'[3] आदि। लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत की कहानियों में कहानी को सजीव बनाने और प्रभावी वातावरण की सर्जना की दृष्टि से प्रसंगानुकूल अनेक दोहे गीत आदि रखकर एक तरह से यहाँ की प्राचीन वात परम्परा का निर्वाह हुआ है। इसी कारण रानी साहिबा की कहानियों को नयी बोतल में पुरानी शराब भी कहा गया है। उधर श्री सौभाग्यसिंह शेखावत की ऐतिहासिक कहानियों में भी रोचकता एवं वर्णनात्मकता उनकी मुख्य विशेषताएं रही हैं, किन्तु इसके साथ-ही-साथ प्राचीन कथा शैली का उपयोग उनकी कहानियों की एक ऐसी विशेषता है जिसका निर्वाह अन्य किसी सम-सामयिक कहानीकार में देखने को नहीं मिलता। प्रायः इन कहानीकारों के साथ एक स्थिति समान रही है कि इन्होंने घटनाओं को सामयिक सदर्भों से जोड़ने एव कहानी को कलात्मक बनाने की दृष्टि से, उसे कल्पना की रंगीन तूलिका से सजाने संवारने का प्रयत्न न के बराबर किया है। इसकी अपेक्षा श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'अमर चूंनड़ी'[4] श्री मोहन लाल गुप्त की 'प्यासो प्रेम'[5] और श्री बद्रीदान गाडण की 'आंबेरी डाळ सरवर री पाळ'[6] आदि कहानियों में अपेक्षया प्राचीनता की ओर झुकाव कम रहा है और कहानीकारों ने कल्पना की रंगीन तूलिका से मोहक रंग-संयोजन कर कहानी को पर्याप्त आकर्षक बनाने का भरपूर प्रयास किया है।

सामाजिक एव ऐतिहासिक कहानियों की अपेक्षा धार्मिक एव पौराणिक प्रसंगों को लेकर लिखी गयी कहानियों की सख्या बहुत कम रही है। श्री सत्यनारायण गंगादास व्यास की 'देवी सुभद्रा'[7] एव 'कच देवयानी'[8] तथा श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'जोजन गंधा'[9] आदि गिनी-चुनी कहानियाँ ही पौराणिक एवं धार्मिक आख्यानों के आधार पर लिखी गयी हैं। इसमें भी 'जोजन गधा' में घटनाओं का प्राधान्य रहा है और कहानी को लगभग साधारण घटना के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। इसके विपरीत श्री सत्यनारायण गंगादास व्यास ने अवश्य ही अपनी इन कहानियों में कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय देते हुए उन्हें बदले हुए संदर्भ में प्रस्तुत किया है। विशेष रूप से इनमें पात्रों के चरित्र की मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में नूतन व्याख्या हुई है। 'कच देवयानी' में देवयानी का चरित्र एक ऐसी तिरस्कृता एवं अतृप्ता प्रेमिका के रूप में अंकित हुआ है जिसे उसका प्रिय कच अपनी कायरता एवं रूढ़ संस्कारिता के कारण प्रेयसी तक मानने को तैयार नहीं है। 'देवी सुभद्रा' में सुभद्रा का चरित्रांकन परम्परा से हटकर हुआ है। वह अपने बाह्याचरण में हरण के समय में अर्जुन के हर कदम को बड़ी तिरस्कृत दृष्टि से देखती है। चेतन रूप मे वह निरन्तर अर्जुन के प्यार को ठुकराती है और उसका विरोध

---

१. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० सं० २३
२. मरुवाणी, पृ० सं० ५३, वर्ष १, अंक ५-६
३. जनमभोम, पृ० सं० ६३, वर्ष २, अंक-१
४. अमरचूंनड़ी, पृ० सं० ६०
५. मरुवाणी, पृ० सं० ४६, वर्ष १, अंक ५-६
६. वही, पृ० सं० ३६, वर्ष १, अंक ५-६
७ हरावळ, पृ० सं० २, सितम्बर १६७०
८. वही, पृ० सं० ६, नवम्बर १६७१
९. वही, पृ० सं० १६, जनवरी १६७२

करती है किन्तु अवचेतन में–जहा कि वह अर्जुन से घनिष्ट प्रेम करती है–की प्रेरणा से बाह्य रूप से अपनी घृणा व्यक्त करते हुए भी निरन्तर ऐसे कदम उठाती है जो अन्ततोगत्वा अर्जुन के प्रति उसके प्रबल आकर्षण को व्यक्त करते हैं।

अचल विशेष की स्थानीय विशेषताओं को अपने सम्पूर्ण परिवेश में प्रस्तुत करने की ललक इधर में, कथाकारों मे, विशेषरूप से उपन्यासकारों में बढ़ी है। हिन्दी में तो 'रेणु' के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आंचल' के प्रकाशन के पश्चात् एक समय तो यह प्रवृत्ति काफी लोकप्रिय रही, किन्तु कहानी में उसके सीमित कलेवर एवं उसकी विशिष्ट संघटना के कारण इसके फैलाव के अधिक अवसर नहीं है। फिर भी कहानियाँ इसके प्रभाव से सर्वथा अछूती नही बची हैं। राजस्थानी में विशेषरूप से श्री सस्कर्ता की कहानियों में स्थानीयता का रंग काफी गाढ़ा रहा है। बीकानेर अंचल के एक क्षेत्र विशेष को आधार बनाकर लिखी गयी उनकी 'काछवो'[1], 'दूध गिलोडो',[2] 'रोही रो रीछ'[3] एवं 'धागे तथा गन्ध'[4] आदि कहानियों एवं डा० मनोहर शर्मा की 'सजी'[5] नामक कहानी मे आंचलिकता का स्वर काफी मुखर रहा है।

पौराणिक एवं आंचलिक कहानियों की तरह राजस्थानी में हास्य-व्यंग्य प्रधान कहानियों की संख्या भी सीमित ही रही है। उसमे भी हास्य-प्रधान कहानियो की संख्या तो और भी कम है। श्री सस्कर्ता की 'काछवो' जैसी गिनी-चुनी हास्य-प्रधान कहानियाँ ही इस क्षेत्र मे मिलती है और यह कहानी भी शिष्ट हास्य की अपेक्षा ग्राम्य-हास्य-प्रधान ही कही जा सकती है। इसकी अपेक्षा व्यग्य-प्रधान कहानियो की ओर कहानीकारो का ध्यान फिर भी गया है। श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'कुंमे भाग पडी,' श्रीलाल नथमल जोशी की 'अमर मिनख',[6] श्री रामदेव आचार्य की 'लिछमी रो लाडलो'[7] आदि प्रमुख व्यंग्य प्रधान कहानियाँ है। 'कुंमे भांग पडी' में आज की भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य प्रहार हुआ है, तो 'अमर मिनख' मे तथाकथित साहित्यकारों का अच्छा मजाक बनाया गया है और 'लिछमी रो लाडलो' मे धनवानों के कुकर्मो पर बड़ी मीठी चुटकी ली गयी है। उधर श्री नारायणदत्त श्रीमाली की 'सेवर'[8] एवं श्री भगवानदत्त गोस्वामी की 'अबार अन्नदाता नै अरज करू'[9] जैसी कहानियों मे हास्य-व्यग्य के समवेत स्वर सुने जा सकते हैं। 'अबार अन्नदाता नै अरज करू' में एक सामन्तकालीन अवशेष 'साहजी' के वर्तमान युग मे 'मिसफिट' आचरण का बड़ा रोचक वर्णन हुआ है। वैसे श्री राज-पुरोहित एवं श्री किशोर कल्पनाकान्त की कहानियों में भी प्रसंगानुकूल मीठी तीखी चुटकियां बराबर ली जाती रही हैं।

---

१ रोहीडो, पृ० स० १,
२. वही, पृ० स० ७८
३. वही, पृ० स० १८
४. दस-दोख : सांवर दइया, पृ० सं० १३
५. कन्यादान, पृ० सं० १३
६. मरवाणी, पृ० सं० ६, वर्ष ६, अंक–४
७. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० स० ६३
८. वही, पृ० सं० ६०
९. वही, पृ० सं० ४७

मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय आज के कथाकार के लिए लगभग अनिवार्यता बन चुका है। जीवन को सम्पूर्णता एवं समग्रता में प्रस्तुत करने के साथ-ही-साथ मानवीय चरित्र के विश्लेषण और उसे पूर्ण सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक सत्यों से कथाकार की घनिष्टता प्रथम अपेक्षा बन चुकी है। राजस्थानी में मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक कहानी लेखन की रुचि का विकास कहानीकारों में इधर के ही कुछ वर्षों में देखने को मिलता है। ज्यों-ज्यों उनका ध्यान समष्टि से व्यष्टि की ओर और स्थूल घटनावर्णन से चरित्र-चित्रण की ओर जाने लगा है त्यों-त्यों ही राजस्थानी में ऐसी कहानियों के सर्वथा अभाव की स्थिति समाप्त होती जा रही है। फिर भी, यह तो स्वीकारना ही होगा कि अभी भी राजस्थानी में मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ बहुत कम लिखी गयी हैं, विशेषरूप से मनोविश्लेषणात्मक कहानियों की संख्या तो बहुत ही सीमित है।

राजस्थानी की सफल मनोवैज्ञानिक कहानियों में श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'उडीक',[1] 'रूपाळी राजा',[2] श्री जगदीश माथुर 'कमल' की 'सन्नो भौजी',[3] श्री हणमानसिंह शेखावत की 'हूंसेर',[4] श्री श्रीलाल नथमल जोशी की 'आपरो सरूप'[5], 'मोलायोड़ी लाडी',[6] श्री रामेश्वरदयाल श्रीमाली की 'जमोदा',[7] 'मळवटो', एवं श्री रामनिवास शर्मा की 'आतम बोध' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय बन पड़ी हैं। 'उडीक' बालमनोविज्ञान की सशक्त अभिव्यक्ति है। वह एक ऐसे मातृहीन अबोध बालक की कहानी है—जिसे अभी यह ज्ञात नहीं है कि उसकी रुग्णा मां कभी की कालकवलित हो चुकी है। वह केवल इसी विश्वास पर जी रहा है कि उसकी मां शीघ्र लौटकर घर आजायेगी। उसके जीवन का हर क्षण मां कि स्मृति में किस प्रकार गुथा हुआ है और मातृ-स्नेह से वंचित उस बालक के आचरण में कितना अन्तर आगया है इसकी बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत कहानी में हुई है। यह निःसन्देह राजस्थानी की उन गिनी-चुनी कहानियों में में एक है जिसे किसी भी भाषा की श्रेष्ठ कथा के साथ रखा जा सकता है। 'सन्नोभौजी' एक ऐसी नारी की कथा है, जो युवावस्था में पति के आकस्मिक निधन से एकदम सहम-सिकुड़कर पूर्णतः आत्म-केन्द्रित हो जाती है। उसके आचरण से ऐसा लगता है कि जीवन के प्रति उसमें कोई उत्साह नहीं बचा है, किन्तु कालान्तर में वही सन्नोभौजी अधिकार पूर्वक जीवित रहने का जो साहस प्रकट करती है, वह उसके पूर्व आचरण से सर्वथा विपरीत होते हुए भी मनोविज्ञान सम्मत बन पड़ा है। 'हूंसेर' में इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन हुआ है कि बलपूर्वक दमित इच्छाएं एवं वासनाएँ सदा-सर्वदा के लिए समाप्त नहीं होतीं, अपितु व्यक्ति का कोई भी कमजोर क्षण देखकर उस पर हावी हो जाती है। पंडित जुंवारमलजी जीवन के तीसरे पहर में मन की ऊर्ध्वगमन की स्थिति में नालायक पुत्र की कारस्तानियों से दुःखी एवं संसार को असार समझ, घर

१. अमरचूनड़ी, पृ० सं० १६
२. वही, पृ० स० ६
३. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० सं० ४६
४. वही, पृ० सं० ७६
५. मरुवाणी, पृ० सं० १, वर्ष ६, अंक-१०
६. ओळमों, पृ० सं० ११, जून १९६४
७. मरुवाणी, पृ० सं० २०, वर्ष १०, अंक-१

को त्याग कर संन्यास धारण कर लेते हैं। वर्षों मोहमाया से मुक्ति का उपदेश देने वाले पंडित जी अपने अंतिम समय में पत्नी एवं पुत्र की याद मे विकल हो उठते है और अंतिम इच्छा प्रकट करते है कि भयंकर रुग्णावस्था में उन्हें अपने गांव ले जाया जाए। गांव की सीमा तक पहुंचते-पहुंचते पंडित जी एक क्षण के लिए पत्नी-पुत्र का स्मरण कर उनसे मिलने की अतृप्त लालसा लिये सदा-सदा के लिए इस दुनियां से प्रयाण कर जाते है।

'मोलायोड़ी न्हाडी' मे पुरुष की लोलुपता, नारी को उपभोग्य समझने की प्रवृत्ति और पत्नी के सौन्दर्य के कारण मन-ही-मन शकालु एवं दुःखी पति की मनस्थिति और पुरुष के व्यक्तित्व मे अपना व्यक्तित्व समाहित कर देने की पुरुष की इच्छा के विपरीत, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रखने की नारी इच्छा के आपसी दावपेच का रोचक एवं प्रभावी चित्रण हुआ है। इसी प्रकार अन्य मनोवैज्ञानिक कहानियों मे भी मानव मन की किसी एक दमित इच्छा या आकांक्षा या फिर किसी सहज मानवीय प्रवृत्ति को उद्घाटित करने का प्रयास हुआ है। इन सभी कहानियो के बारे मे एक बात लगभग समान रूप से सही है कि इनमे मानव मन के उन्ही कार्यकलापों या प्रवृत्तियो का अंकन हुआ है, जो प्रायः चेतन मस्तिष्क के स्तर पर गोचर रूप मे घटित होते है।

अर्द्ध-चेतन एव अवचेतन मन में चलने वाले कार्य-व्यापारो और अन्तर्जगत की उन अगोचर घटनाओं का—जो कि हमारे बाह्य जगत् की समस्त क्रियाओं का मूल प्रेरणा स्रोत होती है—उद्घाटन मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के सहारे बहुत ही कम कहानियो मे हुआ है। 'रात रै अंधियारै मे'[1] एवं 'प्रेरणा'[2] जैसी गिनी-चुनी कहानियां ही राजस्थानी मे लिखी गयी हैं, जहां मानव के उस भयावह एवं अन्धकार पूर्ण अन्तर्जगत् में झांकने का साहस सजोया गया है। 'रात रै अंधियारै मे' चेतन और अवचेतनमन, नैतिक-संस्कार और मूल-प्रवृत्तियो के संघर्ष की एक हल्की सी झांकी प्रस्तुत हुई है। 'मोती' ग्रामसेवक के रूप में ग्राम के सर्वोन्मुखी विकास को अपना दायित्व समझता है और ग्राम्य जीवन की सरलता एव अकलुषिता के प्रति उसका एक विशेष प्रकार का भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण है; किन्तु उसका यह स्वप्न तब टूटता सा लगता है जब ग्राम की एक बुढिया रातभर के लिए अच्छे माल की 'सप्लाई' का प्रस्ताव रखती है। आदर्शवादी मन इस प्रस्ताव को सुनकर एकदम चीखना चाहता है, किन्तु उसके अन्तर्मन मे कहीं बैठे शैतान को यह प्रस्ताव भाता है और वह चाहकर भी बुढ़िया के प्रस्ताव का प्रतिकार नही कर सकता। उसे स्वय अपनी इस स्थिति पर आश्चर्य होता है और उस क्षण तो वह हतप्रभ-सा रह जाता है, जब वह उस प्रस्ताव को ठुकराने के स्थान पर अनायास ही 'हां' कह बैठता है। इसी सारी प्रक्रिया मे उसके नैतिक संस्कारो एव स्वाभाविक भूख के मध्य जो संघर्ष चेतन एवं अर्द्ध-चेतन स्तर पर चलता है उसकी अच्छी अभिव्यक्ति प्रस्तुत कहानी मे हुई है। 'प्रेरणा' नारी-चरित्र की जटिलता की एक ऐसी कहानी है—जिसकी नायिका लीला 'अहं' भाव से प्रेरित है। अपने सौन्दर्य के प्रति सजग यह नारी पुरुषों की अपने शक्ति परीक्षण के लिए आजमा कर विशेष सुख की अनुभूति करती है। प्रेम उसके लिए एक मजाक है। उसका सम्पूर्ण ध्यान अपने अस्तित्व से लोगों को परिचित करवाये रखने मे लगा रहता है। जिस साधारण युवक को उसने अपने यौवन से एक बड़े व्यापारिक

---

१. जगदीशसिंह सीसोदिया, जनमंगल, पृ० सं० ५७, वर्ष २, अंक १

२. सत्यनारायण गंगादास व्यास, हरावल, पृ० सं० २, जुलाई १९७०

संस्थान का मैनेजर बना दिया था, और जिसके लिए अपने प्रत्यक्ष कार्यों में यह दर्शाती रही कि वह उसे चाहती है, किन्तु उसी युवक से शादी का प्रस्ताव सुन वह उसे दुत्कार देती है। इसी प्रकार जिस डाक्टर को कुछ क्षणों पूर्व वह एक बढ़िया नौकरी दिलवाने की पेशकश करती है, उसी डाक्टर को अपने अनुकूल न पाकर दूसरे ही क्षण सैंडिलों से पीटकर जन साधारण की निगाहों से गिराने में भी नहीं हिचकती। कहने का तात्पर्य यही है कि 'प्रेरणा' नारी के एक ऐसे जटिल चरित्र की अभिव्यक्ति है—जिसे सहज में समझ पाना कठिन है। राजस्थानी में सम्प्रति ऐसी उलझी हुई मनस्थितियों पर आधारित कहानी-लेखन की पृष्ठभूमि का निर्माण हो रहा है यही मानना ज्यादा समीचीन रहेगा।

मनोवैज्ञानिक कहानियों की तरह ही राजस्थानी में प्रतीकवादी कहानियों की संख्या भी बहुत सीमित है। इसका कारण भी स्पष्ट है, किसी भाषा के साहित्य में श्रेष्ठ प्रतीकवादी कहानियों की सर्जना, एक स्तर तक पहुँचने के बाद ही संभव होती है। ऐसी कहानियाँ, पाठक एवं कहानीकार दोनों में उस समझ की अपेक्षा रखती है—जहाँ बात के मुख्य मुद्दे को संकेतों के स्तर पर ही ग्रहण कर लिया जाये। अधिकांश में भावों की जटिलता या सश्लिष्टता, विशेष मानसिक स्थितियों के अंकन, बात को सीधे न कह पाने की विवशता और तीव्रता के साथ किसी विचार बिन्दु पर पाठक को सोचने के लिए उत्तेजित करने की दृष्टि से कहानीकार प्रायः प्रतीकात्मक कहानियों की सर्जना करते हैं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि राजस्थानी की प्रतीकात्मक कहानियों का पक्ष, संख्या एवं स्तर दोनों दृष्टियों से काफी कमजोर है। जहाँ तक संख्या का प्रश्न है 'बारणै नै भरग्यै रो कजियो'[1], 'दोय कूकरिया',[2] 'गिजड़ी अर बोट्टी'[3] और 'ग्रांधे नैं ग्रोंख्यां'[4] जैसी गिनी-चुनी कहानियाँ मिलती हैं और स्तर की दृष्टि से ग्रांधे नै ग्रांख्यां' ही एकमेव ऐसी कहानी है जिसे लेकर पाठक कुछ सोचने को विवश हो। प्रस्तुत कहानी में कहानीकार ने 'धोरे' को विस्तारवादी मनोवृत्ति वाले पूँजीपति के रूप में प्रस्तुत किया है और 'खीप' को सर्वहारावर्ग का नेतृत्व करने वाली एक ऐसी शक्ति के रूप में चित्रित किया है, जो प्रतिपक्षी की अपेक्षा भौतिक शक्ति की दृष्टि से काफी कमजोर होते हुए भी मानसिक दृढ़ता के बलबूते पर अपने जैसे दलितों का संगठन बनाकर 'धोरे' के विस्तार पर न केवल रोक ही लगाती है, अपितु उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर वहा एक मनोहारी वन के निर्माण में भी सफल होती है। कहानीकार ने मूलतः इस कहानी में आज के वर्ग-संघर्ष की विश्वव्यापी समस्या को उठाया है और उसका अपने ढग से अहिंसक समन्वयवादी समाधान प्रस्तुत किया है।

यहाँ तक कथ्य के आधार पर राजस्थानी कहानी की मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन हुआ है। आगे कथा-तत्त्वों के आधार पर उसकी प्रवृत्तियों को विवेचित किया गया है। कथा-तत्त्वों की दृष्टि से कहानी के घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान एव वातावरण-प्रधान मुख्य भेद किये गये हैं। जहाँ मनोरंजन ही कथाकार का मुख्य ध्येय होता है, वहाँ प्रायः घटनाओं का प्राधान्य रहता है। हिन्दी कहानी की तरह राजस्थानी कहानी की प्रारम्भिक अवस्था में भी घटना-प्रधान कहानियों का ही प्राधान्य रहा।

---

१. बद्रीप्रसाद साकरिया, राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० सं० ११०

२. मूलचन्द 'प्राणेश,' जलमभोम, पृ० सं० ४८, वर्ष २, अंक–१

३. श्रीलाल नथमलजोशी, मरवाणी, पृ० सं० ३६, वर्ष ६, अंक १०–११

४. ग्रांधे नै ग्रोंख्यां, पृ० सं० १००

इस समय कहानी लेखकों का उद्देश्य मनोरंजन के अतिरिक्त उपदेशप्रद एवं सुधारवादी विचारों के प्रचार-प्रसार का भी रहा, अतः उन्होंने बाह्य जगत् में घटित होने वाली स्थूल घटनाओं पर ही मुख्यतः अपना ध्यान केन्द्रित रखा। श्री मुरलीधर व्यास, श्री नानूराम संस्कर्ता की अधिकांश कहानियों में एवं श्री बैजनाथ पंवार तथा श्री नृसिंह राजपुरोहित की कुछ एक कहानियों में कहानीकारों का ध्यान घटना-संयोजन में ही विशेष रूप से लगा रहा है। व्यासजी की कहानियों में प्रायः छह-छह, सात-सात और कभी-कभी तो उनसे भी अधिक घटनाओं को एक ही कथासूत्र में पिरो दिया गया है। इन घटनाओं के पीछे, उनकी फोटोग्राफिक प्रवृत्ति विशेष सक्रिय रही है। वे किसी समस्या के सम्बन्ध में विभिन्न जनों के दृष्टिकोण को अंकित करने या किसी समस्या विशेष पर कई पहलुओं से प्रकाश डालने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न घटनाओं को एक ही कथासूत्र में पिरोते गये हैं। उनकी मुख्य घटना प्रधान कहानियाँ हैं—'परमें रो मोल', 'नरमेध', 'भाठो'[1] आदि। व्यासजी की तरह ही श्री संस्कर्ता में भी बाह्य-जगत् की स्थूल घटनाओं के अंकन की प्रवृत्ति विशेष रही है। संस्कर्ता, व्यास की तरह फोटोग्राफिक शैली को न अपना कर वर्णनात्मक शैली का सहारा लेते हैं। प्राचीन वातकारों की तरह वे भी अपनी कहानियों में घटनाओं को रोचकता के साथ सरस लहजे में प्रस्तुत करने में अधिक दत्त-चित्त रहते हैं। उनकी 'फदड़पंच',[2] 'वैर'[3], 'धार देखना'[4] आदि अधिकांश कहानियाँ इसी श्रेणी की हैं। इन दोनों से थोड़ा भिन्न, श्री पंवार की कहानियों में घटनाओं का सप्रयोजन उपयोग हुआ है। वहाँ घटनाएँ स्वतः प्रवाह में घटित होती हुई चित्रित नहीं हुई हैं, अपितु लेखकीय आदर्श के अनुरूप उन्हें आकस्मिक एवं अप्रत्याशित मोड़ दिये गये हैं। इस दृष्टि से उनकी 'लाडेसर'[5] एवं 'भूरी'[6] नामक कहानियाँ द्रष्टव्य हैं। डा० मनोहर शर्मा की अधिकांश कहानियों का ताना-बाना भी घटनाओं की रेल-पेल के बीच ही बुना गया है। उनकी कहानियों में भी कहानीकार का ध्यान चरित्र-चित्रण, वातावरण-अंकन की अपेक्षा स्थूल घटनाओं को प्रस्तुत करने में ही विशेष रहा है वहाँ भी उन घटनाओं के पीछे सक्रिय रूप से कार्यरत मानसिक संसार को देखने परखने की फुरसत उन्हें कम ही रही है।

घटना-प्रधान कहानियों की अपेक्षा चरित्र-प्रधान कहानियाँ अधिक श्रेष्ठ होती हैं, क्योंकि उनमें कहानीकार का ध्यान मानव-चरित्र को विश्लेषित करके सही रूप में प्रस्तुत करने का होता है। चूंकि ऐसी कहानियों में मानव चरित्र ही केन्द्र बिन्दु होता है, अतः ऐसी कहानियाँ स्वतः ही मनोविज्ञान के अधिक निकट पहुँच जाती हैं। चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियों में कहानीकार कई रूपों में प्रस्तुत पात्र का चरित्रांकन कर सकता है। साधारण चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियों में कहानीकार या तो स्वयं ही बहुत कुछ प्रस्तुत चरित्र के बारे में कह देता है या स्थूल घटनाओं के माध्यम से पात्र की किसी एक मुख्य चारित्रिक विशेषता या कई एक स्वभावगत विशेषताओं पर प्रकाश डालता चलता है। ऐसी कहानियाँ कई बार रेखा चित्र के काफी निकट पहुँच जाती हैं। श्री संस्कर्ता अपनी अधिकांश कहानियों में पात्रों के

---

१. वरसगांठ, पृ०सं० ८७
२. मरुवाणी, पृ०सं० २६, वर्ष १, अंक ६–७
३. दमदोल, पृ०सं० २७
४. घर री मायः नानूराम संस्कर्ता, पृ०सं० ६, प्र०सं०-१९७० ई०
५. लाडेसर, पृ०सं० १
६. लाडेसर, पृ०सं० २८

स्वभाव का परिचय वर्णनात्मक शैली में पाठकों को स्वयं ही देते चलते हैं और साथ-साथ घटनाओं के माध्यम से उनकी पुष्टि करते चलते है। उनकी 'चेड़ो,' 'बैर,' 'बुड़ापल'[१] आदि दसों कहानियों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। इस बिखराव की अपेक्षा जहाँ कहानीकारों ने प्रस्तुत पात्र की किसी एक ही चारित्रिक विशेषता के उद्घाटन को दृष्टिपथ में रखकर कहानी का ताना-बाना बुना है- वे कहानियाँ प्रथम प्रकार की कहानियों की अपेक्षा अधिक प्रभावी सिद्ध हुई है। श्री श्रीलाल नथमल जोशी की 'भाड़ेती'[२] एवं श्री मुरलीधर व्यास की 'चैजारो'[३] इसी प्रकार की कहानियाँ है। 'भाड़ेती' में बुजुर्ग मनस्थितिवाली एक शंकालु वृद्धा का अच्छा चरित्रांकन हुआ है और 'चैजारो' मे एक लालची एवं संकीर्ण मनोवृत्ति वाली बुढ़िया का अच्छा स्केच खींचा गया है। श्रीलाल नथमल जोशी की ही 'सेनाणी'[४] भी रेखाचित्र की सीमा का संस्पर्श करने वाली एक ऐसी ही कहानी है।

उपर्युक्त कहानियों मे अधिकांशत: पात्रों की मोटी-मोटी चारित्रिक विशेषताओं का सीधा-सादा चित्रांकन हुआ है। किन्तु मानव चरित्र उतना सहज नहीं, जितना कि प्राय: हम सोचते हैं। कहानीकार की सफलता विरोधी व्यक्तित्वो के बीच अनेक घात-प्रतिघातों के मध्य उभरते मानवीय चरित्र की कोई एक झाकी प्रस्तुत करने मे अधिक मानी जायेगी। इस दृष्टि से 'चितराम'[५], 'नागड़ो बावो'[६], 'पेटरी दाफ'[७] एवं 'बदळो'[८] जैसी कहानियाँ उल्लेखनीय है। 'चितराम' पुरुष की पराजय एवं टूटन तथा नारी के कुचले स्वाभिमान के प्रतिरोध की कहानी है। जहाँ, गौरी पति द्वारा बुरी तरह प्रताड़ित होने के पश्चात् भी पति के पास जाती है, किन्तु सुलह या समझौते के लिए नही अपितु उसकी विवशता का उपहास बनाने के लिए। 'नागड़ो बावो' व्यक्ति-वैचित्र्य की कहानी है—जहाँ, कथानायक के जीवन के अनेक उतार-चढ़ावों के मध्य गुजरते उसके चरित्र की असम्बद्धता की एक झांकी प्रस्तुत की गयी है। 'पेटरी दाफ' एवं 'बदळो' में नाटकीय कौशल से प्रस्तुत पात्रों के चरित्र में अप्रत्याशित मोड़ दिया गया है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानतावाली कहानियाँ भी चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियों के अन्तर्गत आती हैं। यद्यपि राजस्थानी में प्रसाद के 'आकाशदीप' जैसी सफल अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान कहानियाँ तो नहीं लिखी गयीं हैं फिर भी श्री अन्नाराम 'सुदामा' की 'ढळै डूंगर : फळै चट्टान' एवं 'रोग रो निदान' जैसी कहानियों मे सत् और असत् प्रवृत्तियो एवं लालसाओं तथा विवेक के मध्य चल रहे द्वन्द्व को प्रधानता दी गयी है। वैसे, किशोर कल्पनाकान्त की 'अन्तिम कागद',[९] श्री जगदीशसिंह सिसोदिया की 'रात रै अंधियारे में', श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'रूपाळी राजा' एवं श्री रामेश्वरदयाल श्रीमाली की 'असोदा' आदि

---

१. दसदोख, पृ०सं० ४८
२. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० सं० ७२
३. बरसगांठ, पृ०सं० २८
४. मरुवाणी, पृ०सं० ५, वर्ष ७, अंक–६
५. दामोदरप्रसाद, राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ०सं० ८१
६. रामप्रसाद चाकलान, ओळमों, पृ०सं० ७, दिसम्बर १९६७
७. अमरचूंनड़ी, पृ०सं० ४१
८. वही, पृ०सं० ३३
९. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ०सं० २८

कहानियों में पात्रों की मानसिक ऊहापोह एवं उनके हृदयस्थ भावों की रेल-पेल का एक सीमा तक अच्छा अंकन हुआ है।

इधर में कहानी ज्यों-ज्यों स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ती जा रही है और उसके शिल्प में ज्यों-ज्यों मंजाव-कसाव आता जा रहा है, त्यों-त्यों कहानी में घटनाएँ गौण होती जा रही है, पात्रों के चरित्र का ऊपरी लेखा-जोखा प्रस्तुत करने की कहानीकारों की आदत समाप्त होती जा रही है और उस सबके स्थान पर एक क्षण विशेष की मनस्थिति के अंकन की प्रवृत्ति प्रमुख होती जा रही है। यद्यपि राजस्थानी कहानी के क्षेत्र में यह नय नया-नया है, फिर भी 'आतम बोध'[1], 'आंख्या पाछै नार..',[2] 'बुद्ध रो बस्ट'[3], 'उळझ्योड़ा तार'[4] एवं 'उळझ्योड़ा तार'[5] आदि कहानियों में इस नयकी शुरुआत हो चुकी है।

इतिवृत्त-प्रधान एवं चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियों की अपेक्षा किसी भी भाषा के साहित्य में स्तरीय वातावरण-प्रधान कहानियों की संख्या बहुत कम होती है, ऐसी स्थिति में राजस्थानी में यदि इनकी सख्या और भी कम हो तो आश्चर्य ही क्या? वातावरण-प्रधान कहानियों में पात्र, घटनाए आदि सब कुछ यथा-स्थान होते हुए भी समग्ररूप में एक प्रभावी वातावरण ही आद्यन्त पूरी कहानी में छाया रहता है। पाठक कहानी की अन्य किसी स्थिति से प्रभावित न होकर उसी से अभिभूत रहता है। ऐसी कहानियों में हिन्दी की 'रोज' कहानी अविस्मरणीय बन पड़ी है—जहाँ पूरे वातावरण में उदासी, बेबसी एवं घुटन सी छाई हुई है। राजस्थानी में इस जैसी श्रेष्ठ कहानी की सर्जना तो अभी तक नहीं हो पाई है, फिर भी नृसिंह राजपुरोहित की 'उडीक', भगवानदत्त गोस्वामी की 'मानखै रो मोल' और श्री सूर्यशंकर पारीक की 'सभा सगा न्हायोड़ी सी होयगी' आदि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'उडीक' में गृहिणी की मृत्यु के कारण पूरे परिवार के वातावरण में छाई हुई रिक्तता एवं उदासी का बड़ा मार्मिक अंकन हुआ है। जहाँ गृह-स्वामिनी की मौत से परिवार का हर प्राणी पीड़ित है और सबको ऐसा लग रहा है कि वह अपने साथ ही इस घर की हँसी, खुशी, उत्साह, उल्लास सब कुछ साथ ले गयी। इन सबके स्थान पर वहाँ छोड़ गयी है एक शून्यता और उस रिक्तता में जिन्दगी को जीते जाने की अनिवार्य विवशता। 'मानखै रो मोल' में एक ऐसे परिवार की उन चन्द घड़ियों के वातावरण का अंकन हुआ है, जहाँ कुछ घंटों में आने वाली मौत की विवशता से प्रतीक्षा की जा रही है। इन चन्द घड़ियों की आशा-निराशा के मध्य झूलती परिवारजनों की मनःस्थिति और तत् प्रेरित उनके कार्य-कलापों को अभिव्यक्ति देने में कहानीकार एक सीमा तक सफल रहा है। कहानी को थोड़ा और लम्बा खींचते हुए आगे कहानीकार ने रोगिणी की मृत्यु के पश्चात् असफलता-जन्य निष्क्रियता के साथ सा पूरे परिवेश में छा जाने का हल्का सा आभास दिया है। वातावरण-प्रधान कहानी की सर्जना की दृष्टि से एक बहुत ही सही 'थीम' को लेकर चली इस कहानी की सबसे बड़ी सीमा कहानीकार की सपाट बयानी है। जिन स्थितियों को, घटनाओं, पात्रों के परस्पर वार्तालाप एवं आचरण या अन्य माध्यमों से व्यंजित करना था, उन्हें

1. रामनिवास शर्मा, हरावळ, पृ० सं० ३१, वर्ष १, अंक ६
2. रतनसी, राजस्थान भारती, भाग–११, अंक–२, पृ०सं० १ (राजस्थानी विभाग)
3. रामस्वरूप परेश, जलमभोम, पृ०सं० ८०, वर्ष ७, अंक–१
4. श्री पुरुषोत्तम शर्मा, ओळमो, पृ०सं० ८३ (दीवाळी १९६३)
5. जगदीश शर्मा, ओळमो, पृ०सं० १२, जनवरी १९६४

कहानीकार ने स्थूल वर्णनों के सहारे प्रस्तुत किया है. फलतः प्रभविष्णुता की दृष्टि से कहानी उतनी वजनदार नहीं बन पायी है, जितनी कि इस प्रत्यक्ष कथन प्रणाली के त्याग से बन सकती थी। 'मभा गंगा न्यायोड़ी सी होयगी' में एक ऐसे सत्संग स्थल के वातावरण का सजीव अंकन हुआ है—जहाँ एक ही मंच पर एकत्रित कई एक गायक दलों के परस्पर की प्रतिस्पर्धा श्रोताओं के लिए अच्छे मनोरंजन का माहौल बना देती है।

उपर्युक्त कहानियों के अतिरिक्त, वे कहानियाँ भी वातावरण-प्रधान कहानियों की श्रेणी में रखी जा सकती है, जिनकी सफलता परिवेश के सजीव अंकन में निहित है। ऐतिहासिक कहानियों में यह परिवेशगत सजीवता पाठक को मानसिक रूप से उसी युग विशेष मे ला खड़ी करती है—जिस युग से ऐतिहासिक कहानी का कथानक चयनित हुआ है। इस दृष्टि से श्री सौभाग्यसिंह शेखावत की 'लोहियाणां रो कुंवर' और रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत की 'पाबूजी' कहानियां द्रष्टव्य है। 'लोहियाणा रो कुंवर' में कहानीकार उस वातावरण की सर्जना में सफल हुआ है—जहाँ वात के पीछे सिर कटा देना एक हँसी खेल था और उत्साह के अतिरेक मे जहाँ कबन्ध का रोमांचकारी युद्ध भी संभव था। 'पाबूजी' में उन स्थितियों का बड़ा प्रभावी अंकन हुआ है जिनके कारण विवाह-मण्डप मे ही 'हथळेवे' को बीच में ही छोड़कर रणोन्माद से भरपूर पाबूजी युद्ध के लिए प्रस्थान कर गये। राजस्थानी की अन्य ऐतिहासिक कहानियों में भी कहानीकारों का ध्यान उस युग को अपने सजीव रूप मे प्रस्तुत करने का विशेष रहा है।

यहाँ तक राजस्थानी कहानी की विषयगत प्रवृत्तियों और प्रमुख कथा-तत्वों के आधार पर उसकी सामान्य विशेषताओं पर विचार हुआ है। आगे उनकी शैली एवं शिल्पगत प्रवृत्तियों और विशिष्टताओं को मूल्यांकित करेंगे। आलोचकों ने शैली की दृष्टि से कहानी के मुख्यतः चार भेद किये हैं—क. इतिहास शैली या कथात्मक शैली ख. आत्मकथात्मक शैली ग. पत्र एवं डायरी शैली तथा घ. सवाद शैली या नाटकीय शैली। इन चारों शैलियों में इतिहास शैली का प्रचलन सबसे अधिक रहा है। पाठक के लिए सहज बोधगम्य होने के साथ-ही-साथ कथाकार को भी इसमें हाथ-पांव फैलाने के पर्याप्त अवसर रहते हैं, अतः राजस्थानी में भी कहानीकारों ने अधिकांशतः इसी शैली को अपनाया है। इस शैली मे कहानीकार इतिहास वर्णन की तरह तृतीय पुरुष के सम्बन्ध में वर्णन करता चलता है, अतः वर्णनात्मक शैली को इस शैली का एक प्रमुख भेद माना गया है। राजस्थानी में बरसगांठ, म्होंणी, रातवासो, अमरचूंनड़ी, दसदोख, लाडेसर, कन्यादान आदि अधिकांश कहानी-सग्रहों मे संकलित कहानियो में बहुत सी कहानियाँ इसी शैली में लिखी गयी हैं।

यहाँ, जबकि वर्णनात्मक शैली की चर्चा चल पड़ी है तो उसी सन्दर्भ में राजस्थानी बात शैली पर चर्चा करना असंगत नहीं होगा। वर्णनों का प्राधान्य, छोटे-छोटे एवं तुरन्त वाक्य, गद्य के साथ-साथ पद्य का प्रयोग एवं काव्यात्मक भाषा, राजस्थानी बातों की सामान्य विशेषताएँ रही हैं। यद्यपि आधुनिक राजस्थानी कहानी इस बात परम्परा का विकसित रूप नहीं है फिर भी राजस्थानी का कथाकार अपनी इस समृद्ध बात परम्परा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है। हाँ, समयानुसार उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हो गया है। इस दृष्टि से श्री सौभाग्यसिंह शेखावत की कहानियों की ओर ध्यान सहज

ही चला जाता है। उनकी कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से प्राचीन राजस्थानी वातों के सर्वाधिक निकट हैं। उनका शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास एवं प्रस्तुतीकरण का ढंग सभी कुछ उन्हीं से प्रभावित-प्रेरित हैं।[1]

गद्य के साथ-साथ प्रसंगानुकूल पद्य के प्रयोग की राजस्थानी वातों की विशेषता को, राजस्थानी के आधुनिक कहानीकारों ने भी स्वीकारा है। विशेषरूप से ऐतिहासिक प्रसंगों एवं प्रवादों पर आधारित कहानियों में तो इसका काफी प्रयोग हुआ है। रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत और श्री सौभाग्यसिंह शेखावत दोनों ही कहानीकारों की ऐतिहासिक कहानियों में प्रसंगानुकूल पद्य का प्रयोग हुआ है। ऐसा विशेषरूप से वातावरण को सजीव बनाने की दृष्टि से और जन-स्मृति में गहरे पैठे उन प्रसंगों की याद को ताजा करने की दृष्टि से ज्ञात हुआ है। ऐतिहासिक प्रसंगों से इतर, विशेषरूप से श्री नृसिंह राजपुरोहित की 'रूपाळी राजा' 'उडीक,' 'रूपाळी बीनणी,' जैसी सामयिक जीवन से सम्बन्धित कहानियों में भी भावपूर्ण स्थलों पर कथापात्र स्वतः ही लोकगीत की कोई कड़ी गुनगुना उठते हैं।

राजस्थानी वातों की शैलीगत विशेषताओं में, उनके तुकान्त गद्य प्रयोग की प्रवृत्ति से भी राजस्थानी का कहानीकार सर्वथा अछूता नहीं रहा है। श्री नानूराम संस्कर्ता का झुकाव विशेषरूप से भाषा के ऐसे प्रयोग की ओर रहा है। उनकी अनेक कहानियों में ऐसे दसों स्थल सहज ही खोजे जा सकते हैं—जहां यह स्पष्ट लगने लगता है कि कहानीकार ने तुक मिलाने की दृष्टि से ही सतकर्तापूर्वक शब्द-चयन किया है।[2]

इतिहास शैली के पश्चात् आत्म-कथात्मक शैली को ही विशेषरूप से अपनाया गया है। इस शैली की अपनी सीमाओं एवं जटिलताओं के बावजूद भी यह अधिक कलात्मक है, इसे नकारा नहीं जा सकता। इसमें मुख्यतः एक पात्र ही अपने मुख से सारी कहानी कहता चलता है, वैसे कभी-कभी यों भी होता है कि कहानी के सभी पात्र अपनी-अपनी राम-कहानी अपने मुख से सुनाते चले जाते हैं। राजस्थानी में आत्मकथात्मक शैली में लिखी गयी कहानियों की संख्या अधिक नहीं रही है। 'उडीक,' 'निरमोही नाडलो'[3] 'म्हे गुनैगार हूं' आदि कुछ एक कहानियाँ ही ऐसी बन पड़ी हैं, जहां इस शैली का अच्छा उपयोग हुआ है। 'निरमोही रो नाडलो' जैसी कहानियों में तो इसी आत्मकथात्मक शैली के कारण ही विशेष बनना आ पाई है।

---

१. 'रामसिंघ जी मीठड़ी रो पाटवी कुंवर। पचास बरस रो जवान। उणियारा रो फूटरो। चोड़ो लिलाड़। मोटी कामणी सी आंख्यां। दाढ़ू रा दाणा सा दांत। सुवारी चूंच सी नाक। सोवणा कान जिण रै मांय सोना बाळा। टोप चोड़ी। मोटी छाती। लांबी डील-डौल मोकळो। कुंवर घोड़ां रो सोकीन। नितरा घोड़ला नैं दौड़ावै। हथियार जूण रा भागरा रै मांय आवै। सटारियों सूं सिकार रमै। सूर मारै। नाहर मारै। हिरण मारै पण सब बटाणं सू।'
मथर रामसिंघ मीठड़ी रो : सौभाग्य सिंह शेखावत, मरवाणी, पृ० सं० ४३, वर्ष १, अंक-५

२. 'सोनजी सुनार, गाव रो सुनार। गोत रो चड़ोल, गांव में सतोस। सुथड़ा रो सांवलो, रड़वां घर डंडोल। पैंसा सैंगा रुकै, वैर सैंर-सूं रुकै।—सोनो पाड़ी कूटै, अनै कसी सूं जूटै।'
मैं' स्यो · नानूराम संस्कर्ता, दसदोख, पृ०सं० ३८

३. रामदेव आचार्य, राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी), पृ० सं० ६३

नाटक

संस्कृत साहित्य ने नाटक की जिस सुदृढ़ परम्परा की नींव रखी, उसका निर्वाह मध्यकालीन साहित्य में नहीं हो पाया। नाटकों का विकास एकदम अवरुद्ध सा हो गया। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नाटक समाप्त ही हो गये हों। वस्तुतः राज्याश्रय से वंचित होकर जनाश्रय के बल पर नाटक की समृद्ध परम्परा का प्रवाह लोकधर्मी-नाट्य-परम्परा के रूप में प्रवाहित होने लगा। ख्याल, स्वांग, भगत, नौटंकी, रामलीला एवं रासलीला आदि अनेक रूपों में इसका विकास हुआ। राजस्थान में इस लोकधर्मी-नाट्य-परम्परा को समुचित संरक्षण मिला, किन्तु १९ वीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते यह परम्परा काफी विकृत हो चुकी थी। इन्हें अभिनीत करने वाली नाट्य-मंडलियों में व्यावसायिकता का दृष्टिकोण प्रमुख हो चुका था। फलतः कथा, चरित्र एवं उपदेश के स्थान पर चामत्कारिकता एवं अश्लीलतापूर्ण प्रदर्शन प्रमुख हो उठे थे। प्रायः 'पारसी थियेटर' की सभी विशेषताओं को न्यूनाधिक रूप में इन लोकधर्मी नाट्यरूपों का प्रदर्शन करने वाली नाटक-मंडलियों ने अपना लिया था।[1] इसी पृष्ठभूमि में राजस्थानी के आधुनिक नाटकों का जन्म होता है।

अपने युग की सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से भी राजस्थानी का नाटककार पर्याप्त रूप में प्रभावित हुआ। उस समय सम्पूर्ण देश में आर्य समाज की सुधारवादी लहर उठी हुई थी। पाश्चात्य जगत् के संपर्क से लोगों में नव चेतना का प्रस्फुटन हो रहा था। राजस्थानी समाज को भी नव जागृति की ये लहरें स्पर्श करने लगीं। फलतः समाज सुधार का प्रबल आन्दोलन मारवाड़ी समाज में फूट पड़ा। सर्वत्र कुरीतियों के निवारणार्थ सभाओं का आयोजन होने लगा। नियम पारित किये जाने लगे एवं अखिल भारतीय जातीय सम्मेलनों के माध्यम से जागृति एवं सुधार का मंत्र फूंका जाने लगा। लेखकों ने भी इस हेतु कमर कस ली और एक के बाद एक सुधारवादी नाटकों की झड़ी लगादी। ऐसा लगने लगा कि सम्पूर्ण मारवाड़ी समाज सुधार-सरोवर में आपाद मस्तक डूब चुका है।

आर्य समाज के सुधारवादी आन्दोलन के अतिरिक्त मारवाड़ी समाज की स्वयं की कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने तात्कालिक राजस्थानी लेखकों को सुधारवादी नाटक लिखने को प्रोत्साहित किया। ये थी इतर भारतीय समाजों की तुलना में मारवाड़ी समाज का पिछड़ जाना एवं

---

१. द्रष्टव्य—डा० लक्ष्मीनारायणलाल का धर्मयुग १५ फरवरी १९७० के अंक में प्रकाशित लेख 'वह पारसी थियेटर वास्तव में क्या था ?'

उनमें मारवाडी समाज के प्रति व्याप्त घृणा की तीव्र भावना । आधुनिक राजस्थानी के प्रारम्भिक चरण के प्रायः सभी नाटककार प्रवासी राजस्थानी थे। बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में रहने वाले इन प्रवासी मारवाडियों ने पग-पग पर महसूस किया कि उनका समाज इन समाजों की तुलना में कितना पिछड़ा हुआ है। अपने समाज का यह पिछड़ापन उन्हें पल-पल कचोटता था । इससे भी अधिक दुःख उन्हें तब होता, जब वे देखते कि केवल मारवाड़ी होने के नाते ही उन्हें पग-पग पर अपमानित होना पड़ता है । अपने समाज की इस विषम स्थिति पर तात्कालिक लेखकों ने खुलकर विचार किया है ।[1]

उपर्युक्त साहित्यिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि में राजस्थानी साहित्य ने आधुनिक काल में प्रवेश किया । उसने अपनी बात कहने के लिए साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक को ही विशेष रूप से अपनाया । इसके भी कई कारण थे। प्रथम, तात्कालिक राजस्थानी लेखकों की यह धारणा थी कि नाटक के माध्यम से सामाजिक दोषों की ओर लोगों का ध्यान सहज ही आकर्षित किया जा सकता है। समाज सुधार का यह एक प्रबल माध्यम बन सकता है ।[2] द्वितीय, उनके आसपास के वातावरण ने भी उन्हें नाटक लेखन के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया । इस काल के प्रायः सभी प्रमुख नाटककार प्रवासी राजस्थानी थे और उनका सम्बन्ध महाराष्ट्र से विशेष रूप से था। संभवतः मराठी की सशक्त रंगमचीय परम्परा ने भी इन लेखकों को इस ओर प्रवृत्त किया । इसके अतिरिक्त 'पारसी थियेटर' की विशेष लोकप्रियता ने भी इन्हें नाट्य-जगत् की ओर खींचा इन्हीं सब कारणों से राजस्थानी में आधुनिक काल के प्रारम्भिक २५-३० वर्षों में नाटकों का पूर्ण बोलबाला रहा ।

आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण में जो रचनाएँ प्रकाश में आईं उनमें अधिकांश नाटक या नाटक जैसी ही अन्य रचनाएं प्रमुख थीं । अद्यावधि प्राप्त जानकारी के अनुसार आधुनिक राजस्थानी साहित्य की प्रथम रचना एक नाटक ही है। वह नाटक है श्री शिवचन्द्र भरतिया का 'केसर विलास' जो कि संवत् १९५७ (सन् १९००) में प्रकाशित हुआ था ।[3] इसका दूसरा संस्करण संवत् १९६४

---

१. "समोई और बीका आजूबाजू का प्रान्त माहे "मारवाडी" ये नाव प्रसर इतना सुगला और घृणित हो रह्या छे के "ब्यालक" यहूदी का नाव का असर भी इणके आगे कुछ भी नहीं । समोई मांहे साधारण गाडी को कोचमान भी "ए मारवाडी बाजू सरक" करने पुकारसी । उठीने हलका आदमी की उपमा "हा पक्का मारवाडी आहे" अर्थात ओ पक्को मारवाड़ी छे-इसो हो रही छे । उठीने गाव खेडा मांहे म्हे देख्यो छे के आठा या नगपति मारवाडी ने एक साधारण पारसी आसी तो हलको शब्द बोलकर कचेरी में ले जासी ।" भूमिका 'कनक सुन्दर,' शिवचन्द्र भरतिया

२. "नाटक भी एक उपदेश देवा को सरल मार्ग छे। ई का प्रभाव सूं छिप्योडी घटना आंख के सामने प्रत्यक्ष नाचण लाग जावे छे। शुद्धी समाज सुधारणा को उपदेश-प्रद रचना शान्ति पर बार बताई जा सके ।" अरस परी री पैल—श्री नारायण अग्रवाल

३. (क) श्री भूपतिराम साकरिया ने अपनी पुस्तक "आधुनिक राजस्थानी साहित्य" में इसे भरतिया जी की तीसरी कृति बताया है एवं इसका प्रकाशन काल संवत् १९६४ माना है, जो ठीक नहीं है । लेखक की मारवाड़ी भाषा की यह प्रथम कृति है । स्वयं लेखक ने अपने "फाटका जंजाल" एवं "बुढापा की सगाई" नाटकों की भूमिका में इसे अपनी प्रथम रचना बताया है ।

(सन् १६०७) में प्रकाशित हुआ। यह सुधारवादी भावना से प्रेरित होकर लिखा गया एक यथार्थवादी सामाजिक नाटक है। जिसमें मारवाड़ी समाज के तात्कालिक जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक चित्र खींचा गया है। लेखक स्वयं इसकी इस विशेषता की ओर इंगित करता है। इस दृष्टि से इसे यथार्थवादी नाटक कहा जा सकता है। घटनाओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के कारण ही लेखक को अपने कुछ बाद के सुधारवादी लेखकों की आलोचना का पात्र बनना पड़ा। 'पंचराज' नामक पत्र में 'केसर विलास' में समाज की यथार्थ स्थिति के चित्रण के कारण लेखक को दोषी बताते हुए लिखा गया है—'लेखक ने मारवाड़ी समाज की कुरीतियों का दिग्दर्शन बड़ी खूबी से किया है। हां, लेखक को इस बात का ख्याल ही नहीं रहा कि इस पुस्तक को भाई-भाई के सामने और लड़का बाप के सामने कैसे पढ़ सकेगा।'[1]

राजस्थानी नाटकों का मुख्य आधार तो सामाजिक जीवन ही रहा है, किन्तु साथ-ही-साथ ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रसंगों को भी आधार बनाकर नाटक लिखे गये हैं। सामाजिक नाटकों की मूल प्रेरणा, समाज-सुधार की भावना रही है। प्रायः सभी सामाजिक नाटक मारवाड़ी समाज की कुरीतियों से संबधित हैं। ऐसे नाटकों में एक या अनेक बुराईयों का चित्रण हुआ है। इनमें प्रायः हर बुराई को एक समस्या के रूप में उठाया गया है और उसके दुष्परिणामों का विस्तार से चित्रण हुआ है। इनके अन्त में लेखक ने समाधान के रूप में किसी आदर्श व्यवस्था की ओर इंगित कर दिया है। इन नाटकों में बार-बार उठायी जाने वाली प्रमुख समस्याएँ—वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, कन्या-विक्रय, अशिक्षा, फाटका, फिजूल खर्ची, फैशनपरस्ती, मृत्यु-भोज, अश्लील गीत, गालियां एवं वेश्याओं के नृत्यादि से संबधित हैं। 'फाटका जंजाल' जैसे नाटक में उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त अन्य अनेक पहलुओं पर विचार किया गया है। लेखक प्रस्तुत नाटक की भूमिका में एक स्थान पर लिखते हैं—'इण माहे धर्म का दस लक्षण, पुत्रधर्म, बन्धुभाव, दलालां को जाल, सट्टा-फाटका सूं नाश, कुसंग को फल, स्वार्थी लोगों की दगाबाजी, रंडीबाजी को बुरो परिणाम, मारवाड़ी समाज की कुरीतां, उणाका सुधार को उपाय, फूट सूं खराबी, एकता सूं फायदा, लुगायां को स्वभाव, स्वदेश भक्ति, स्वदेश वस्तु प्रचार, पातिव्रत्य, स्त्रीधर्म, रंडी और दगाबाज मित्रां की करतूत, साची बन्धुप्रीति, संकट मांहे स्त्री तथा मित्र की परीक्षा, धधा, कला-कुशलता सूं लाभ, मिल को उद्योग, रुई तथा कपड़ा को इतिहास, विद्या, स्त्री शिक्षण, संसार सुधार, नीतिधर्म और सन्मार्ग को उपदेश, जगा जगां शास्त्र को विचार कीनो छै और स्थान-स्थान धर्म नीति, वाणिज्य को उपदेश कीनो छे।'[2]

इन नाटकों का नामकरण भी इन्हीं सामाजिक समस्याओं के आधार पर हुआ है। यथा-भरतिया जी के 'बुढ़ापा की सगाई', 'फाटका जंजाल', भगवतीप्रसाद दारुका के 'बाल विवाह नाटक',

---

(क) 'राजस्थानी एकांकी' की भूमिका में श्री गणपतिचन्द्र भंडारी ने इसी नाटक के विषय में लिखा है कि "यूं तो आपरो पं'लो नाटक 'केसरविलास' हो, वो घणो लोकप्रिय नीं हुवो।" किन्तु भंडारीजी का यह कथन ठीक नहीं। लेखक ने अपने 'नाटक फाटका जंजाल' एवं 'बुढापा की सगाई' आदि अन्य रचनाओं की भूमिकाओं में 'केसर विलास' की आशातीत सफलता का उल्लेख बड़े गर्व से किया।

१. पंचराज, वर्ष ४, अंक ४–५, आषाढ़-श्रावण सं० १६७५, पृ० १२४

२. 'फाटका जंजाल', शिवचन्द्र भरतिया (प्रस्तावना, पृ० सं०—५) प्र० का०-सं० १६६४

'वृद्ध विवाह नाटक', 'सीठणा सुधार नाटक', गुलाबचन्द नागौरी का 'मारवाड़ी मौसर और सगाई जंजाल', बालकृष्ण लाहोटी का 'कन्या बिक्री' एवं नारायणदास जी साग्ड़ा नागर का 'बाल ब्याव को फार्स' आदि।

सभी सामाजिक नाटकों मे प्रायः उपदेश की प्रवृत्ति प्रधान रही है। लेखकों ने किसी न किसी पात्र के मुख से अपनी बात कहने का अवसर खोज ही निकाला है। प्रायः हर नाटकों मे उपर्युक्त समस्याओं मे से किन्ही एक पर दो-चार पृष्ठ का उपदेश भाड़ दिया गया है। 'फाटका जंजाल' में अकेला एक पात्र ११ पृष्ठों तक लगातार उपदेश देता चला गया है।

मरतिया-कालीन सामाजिक नाटको मे आदर्शवादी एवं उपदेश-प्रधान सुधारवादी प्रवृत्ति को प्रमुखता देने के कारण अन्य बातो की ओर लेखको का ध्यान बहुत कम गया है। फलतः अभिनेयता की दृष्टि से 'केसर-विलास' को छोड़कर किसी भी नाटक को उल्लेखनीय सफलता नही मिली। इस दृष्टि से सामाजिक नाटकों मे दूसरा उल्लेखनीय नाटक पं० मदनमोहन सिद्ध का 'जयपुर की ज्योणार'[1] है। यद्यपि लेखक ने नाटक की भूमिका मे प्रस्तुत नाटक लिखने का अपना अभिप्राय समाज सुधार की भावना लोगो मे जागृत करना बताया है, किन्तु वह पूरे नाटक में कहीं भी किसी कुरीति की सीधी आलोचना नही करता है। उसमे घटनाओं का संयोजन ही इस कुशलता से किया गया है कि उनसे स्वतः ही तात्कालिक सामाजिक कुरीतियों की व्यर्थता ध्वनित होती है। जहाँ अभिनेयता की दृष्टि से नाटक अत्यन्त सफल रचना है, वहाँ अपनी कुछ अन्य विशेषताओं के कारण भी यह एक स्मरणीय रचना है। नाटक में कहीं भी समस्या का समाधान देने का प्रयास नहीं किया गया है और नाटक में तीनों अंकों का अन्त सामाजिक विकृतियों पर व्यंग्य करती हुई दुःखद घटनाओं मे हुआ है।

इस दृष्टि से तीसरा उल्लेखनीय नाटक जमनाप्रसाद पचेरिया का 'नई बीनणी'[2] है। होने को तो इस नाटक का उद्देश्य भी समाज सुधार ही है। इसमे विशेष रूप से स्त्री जाति की अशिक्षा एवं अनमेल-विवाह (शिक्षित पति, अशिक्षित पत्नी) की समस्या को उभारा गया है। लेखक स्वयं इन कुरीतियों के सम्बन्ध मे कुछ नही कहता है, जो कुछ कहती हैं, वे घटनाएँ ही कहती हैं। इसके संवाद अत्यन्त चुस्त एवं हासपरिहासपूर्ण है। अभिनेयता का इसमें पूरा ध्यान रखा गया है।

---

१. प्रस्तुत नाटक तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ है और प्रत्येक खण्ड के कई-कई संस्करण निकल चुके हैं।

(क) श्री भूपतिराम साकरिया अपनी 'आधुनिक राजस्थानी साहित्य' नामक पुस्तक मे पृ० सं० १२६ पर लिखते है–" 'जैपर की ज्योणार' पं० मदन मोहन सिद्ध का यह नाटक दो भागों मे प्रकाशित हुआ है।" वस्तुतः नाटक का नाम 'जैपर की ज्योणार' न होकर 'जयपुर की ज्योणार' है और यह दो नहीं, अपितु तीन भागो मे प्रकाशित हुआ है।

(ख) श्री अगरचन्द भण्डारी ने भी अपनी 'राजस्थानी एकांकी' की भूमिका मे प्रस्तुत नाटक के दो खण्डो मे प्रकाशित होने का उल्लेख किया है–जो कि मिथ्या है।

२. प्रकाशन काल-अक्टूबर १९६२, राजस्थान ड्रामेटिक सोसाइटी, ८वीं कुम्भी पनकरशीलन, बम्बई २

पौराणिक कथानक को आधार बनाकर 'महाभारत को श्री गणेश'[1] नामक एक ही नाटक लिखा गया है। इसके लेखन का उद्देश्य शिक्षण शालाओं एवं अन्य संस्थाओं में अभिनीत करने के लिए 'बिना स्त्री पार्ट' का नाटक प्रस्तुत करना था।[2] इसमें उन परिस्थितियों का वर्णन हुआ है जिनके कारण महाभारत का युद्ध हुआ था। अभिनेयता की दृष्टि से यह एक सफल नाटक है। कृष्ण को भगवान मानते हुए भी उनके किसी अलौकिक कार्य का वर्णन इसमें नहीं हुआ है। अपने सम-सामयिक नाटकों में यही एक ऐसा नाटक है जिसमें उपदेश का सर्वथा अभाव है।

ऐतिहासिक नाटकों में प्रथम नाटक श्रीनारायण अग्रवाल का 'महाराणा प्रताप' है। इन्हीं स्वतन्त्रता शिरोमणि राणा प्रताप के जीवन को आधार बनाकर गिरधारीलाल शास्त्री ने 'प्रणवीर प्रताप' नाम से मेवाड़ी भाषा में संवत् २०१५ में एक नाटक प्रकाशित करवाया है। इसमें महाराणा के चरित्र को यथा-शक्य उनके ऐतिहासिक एवं प्रकृत रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता इसकी पात्रानुकूल भाषा है। महाराणा प्रताप और उनके साथी 'मेवाड़ी' का प्रयोग करते हैं तो पृथ्वीराज बीकानेरी (मारवाड़ी) का, अकबर उर्दू का एवं भील लोग भीली बोली का प्रयोग करते हैं। वैसे आवश्यक परिवर्तन के साथ इसे रंगमंच पर अभिनीत किया जा सकता है, किन्तु दृश्यों की भरमार इस दृष्टि से एक बड़ी बाधा है। किसी भी ऐतिहासिक घटना को तोड़ा नहीं गया है और न ही किसी ऐतिहासिक पात्र के चेहरे को विकृत करने का ही प्रयास किया गया है।

आज्ञाचंद भण्डारी कृत 'पन्ना धाय' एक अन्य उल्लेखनीय ऐतिहासिक नाटक है। इसका प्रकाशन काल सन् १९६३ ई० है। प्रस्तुत नाटक में भी ऐतिहासिक तथ्यों को यथा-संभव उनके प्रकृत रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। 'पन्ना धाय' के चरित्र को बड़ी तन्मयता एवं कुशलता से संवारा गया है। अभिनेयता की दृष्टि से नाटक में विशेष दोष दृष्टिगत नहीं होते, हाँ, जहाँ लेखक अहिंसा के विश्लेषण एवं औचित्य-अनौचित्य के प्रश्न पर उलझ जाता है वहीं कथानक शिथिल हो जाता है एवं नाटक के रसबोध में बाधा पहुँचती है। उपर्युक्त ऐतिहासिक नाटकों का अभीष्ट राजस्थानी इतिहास के कुछ गौरवपूर्ण पृष्ठों को सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करने का रहा है।

वैसे तो राजस्थानी नाटकों में बोलबाला सुधारवादी सामाजिक नाटकों का रहा है, किन्तु बीच में रंगमंच को आधार बनाकर नाटक लिखने की प्रवृत्ति विशेष रूप से उभरी। अभिनेयता को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में 'मारवाड़ी मोसर और सगाई जंजाल नाटक'[3] तथा 'अकल बड़ी की

---

१. श्री नारायण अग्रवाल, प्र०का०-संवत् १९८१, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मंडल, धामणगाव।

२ "आजकल धार्मिक व दुजी संस्थावां का वार्षिक उत्सव पर नाटक खेलवा को रिवाज चल पड्यो छै परन्तु बिना स्त्रीपार्ट का और चोखा नाटक मिलै नहीं जिसासूं राजस्थानी या मारवाड़ी छात्रगृह का उत्सव पर समय-समय पर खेलवाने मैं नाटक की रचना करी थी।"
भूमिका 'महाभारत को श्री गणेश'

३. गुलाबचन्द नागोरी, प्रकाशन काल-वि०सं० १९८०, मा० भा० प्र० मं० धामणगांव।
पुस्तक रूप में प्रकाशित होने से पूर्व यह नाटक 'पंचराज' में सं० १९७३ में क्रमशः प्रकाशित हुआ था।
श्री भूपतिराम साकरिया एवं श्री गणपतिचन्द्र भण्डारी दोनों ही लेखकों ने 'मारवाड़ी मोसर और सगाई जंजाल नाटक' को 'मारवाड़ी मोसर' एवं 'सगाई जंजाल' नाम से दो भिन्न नाटक माना है किन्तु वस्तुतः यह एक ही नाटक है।

भेंस नाटक' प्रारम्भिक नाटकों में प्रमुख है। इनमें से 'ग्रकल बड़ी की भेंस नाटक', कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इसके लेखक ने अपने अन्य सम-सामयिक लेखकों से सर्वथा भिन्न विषय-वस्तु, प्रस्तुत नाटक के लिए चुनी है, यद्यपि उसका भी ध्येय समाज सुधार ही है। लेखक की दृष्टि में सभी बुराईयों की जड़ अशिक्षा है, अतः उसने प्रस्तुत नाटक में विद्या की महत्ता प्रतिपादित की है। मारवाड़ी समाज के लेखकों ने अपने समाज में व्याप्त कुरीतियों की ओर तो बहुत ध्यान दिया है, किन्तु स्वयं मारवाड़ी समाज द्वारा किये जाने वाले शोषण की ओर से आँखें बिल्कुल बन्द करली है। प्रस्तुत नाटक में लेखक ने साहस के साथ अपने समाज के एक बड़े भारी दोष पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार ये लोग भोले-भाले लोगों का शोषण करते थे।[1]

रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखे गये नाटकों में विशेष सफलता, प्रसिद्ध गीतकार भरत व्यास के 'ढोलामरवण'[2] एवं 'रंगीलो मारवाड़ी'[3] (रामू चनणा) को मिली है। ये नाटक विशुद्ध रंगमंचीय दृष्टि से लिखे गये हैं। नाटककार का सम्पूर्ण ध्यान रंगमंच की दृष्टि से नाटक को सफल बनाने की ओर लगा हुआ है। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसके पीछे व्यावसायिकता की दृष्टि प्रमुख रही है। ये नाटक विशेषरूप से प्रवासी मारवाड़ी समाज की रुचि को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। इन नाटकों के कथानक और गीत सभी कुछ जन साधारण में पहले से ही अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। साधारण स्थिति में इन्हें अभिनीत करने में पर्याप्त कठिनाईयां आती हैं। 'ढोला मरवण' में जहां अलौकिक घटना का समावेश हुआ है, वहां अनेक दृश्य ऐसे भी हैं जिन्हें आसानी से रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। यही स्थिति 'रामू चनणा' के साथ भी न्यूनाधिक रूप से घटित होती है। साहित्यिक दृष्टि से इनका मूल्य विशेष नहीं है। पग-पग पर 'दोहालों' का प्रायोजन किया गया है। लगता है कि फिल्म-जगत् के प्रभाव से लेखक अपने आप को बचा नहीं पाया है।

रंगमंच को ही दृष्टिगत रखकर श्री पचोरियाजी का 'नई बीनणी' नाटक भी लिखा गया है, किन्तु यह नाटक भरत व्यास के नाटकों से सर्वथा भिन्न है। यह भी बम्बई और कलकत्ता जैसे शहरों में कई बार अभिनीत हो चुका है। किंचित् आवश्यक परिवर्तनों के पश्चात् इसे यहां भी अभिनीत किया जा सकता है। अति नाटकीयता के दोष से भी यह मुक्त है। सम्पूर्ण नाटक व्यंग्यात्मक संवादों एवं हास-परिहास-पूर्ण प्रसंगों से युक्त है। पात्रों के चरित्र निर्माण में मनोविज्ञान का पूरा ध्यान रखा गया है। नाटक का कथानक मारवाड़ी समाज के दैनन्दिन जीवन से सम्बन्धित है। बालकों को ध्यान में रखकर बालोपयोगी शिक्षाप्रद नाटक लिखने का श्रेय श्री श्रीनारायण अग्रवाल को है। जहां एक ओर ये नाटक बच्चों के

---

१. "दमड़ी राम० (हिसाब करे है, देख भाई थारी तरफ १६०) रुपिया मूल और साग १६ को ब्याज ३२) रुपिया हुया। देख (गिणावे है) कातीर, मिगसर, पोस, माह, फागण, चैत, बैसाख, दूजो बैसाख, जेठ, साढ़, सावण, भादवो, आसोज, कार्तिक पूरो, ... और ८०८) की पोती १ जिसे पूरा ५००) होगया। थांरी मजूरी २५० रो गयो।"
'अकल बड़ी की भैंस' पृ० सं० ६

२. प्रकाशन काल-सं० २००५, राजस्थान कलामन्दिर, उपाध्याय भवन, ... रोड, ..., बम्बई।

३. प्रकाशन काल-सं० २००४, ध्यान ... ६१८ ..., ..., बम्बई।

लिए बोधप्रद एवं मनोरंजक हैं वहां दूसरी ओर सहज अभिनेय भी। 'भाग्योदय नाटक', 'अकल बड़ी की भैंस नाटक' 'विद्या उदय नाटक' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

अब तक आधुनिक राजस्थानी नाटकों के सर्जन की पृष्ठभूमि, उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम एवं विषयगत प्रवृत्तियों के आधार पर उनका विवेचन हुआ है। आगे उन नाटकों में प्रतिपादित (उभरी) लेखकीय विचारधारा एवं उनके प्रमुख तत्वों की दृष्टि से उनकी मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों पर विचार किया जा रहा है।

जहाँ तक लेखकीय विचारधारा का प्रश्न है, आधुनिक राजस्थानी नाटकों में दो ही प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से प्रभावी रही हैं—*यथार्थवाद एवं आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद।* *श्री शिवचन्द्र भरतिया के* नाटकों में-दर्शकों को किसी सत्कार्य की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य के अतिरिक्त-सर्वत्र यथार्थ को महत्त्व दिया गया है। लेखक ने जहाँ स्वयं अपने नाटकों की भूमिकाओं में स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार किया है कि उसका आग्रह बात को अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की ओर विशेष रूप से रहा है,[1] वहाँ तात्कालिक आलोचकों ने भी इस बात को स्वीकारा है। उन्होंने जहाँ एक ओर भरतिया जी के नाटकों में उभरे यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रशंसा की है वहाँ दूसरी ओर कतिपय स्थलों पर अनियथार्थवादी स्वरूप के प्रबल हो जाने की आलोचना भी की है।[2] भरतियाजी के नाटकों में यत्र-तत्र आये लम्बे उपदेशात्मक भाषण के अतिरिक्त घटना-संयोजन एवं पात्रों के चरित्रांकन में इस प्रकार यथार्थ का निर्वाह हुआ है कि उनका उपदेश वाला यह दोष भी पाठक को विशेष नहीं खटकता है। रंगमंच पर अभिनीत करते समय भी इन उपदेशात्मक अंशों को सहज ही अलगाकर नाटक के सौन्दर्य को अपने प्रकृत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

---

१. "इणकों सविधानक (कथा भाग) आजकल का बरताव पर सूं सारी दिल सूं जोड़कर लिख्यो हुवो छै, कठे कोइ हुवोड़ी बात पर सूं कुछ भी नहीं लिख्यो छै, जिशो-जिशो जठे बात को प्रसंग आयो छै, उठे-उठे उशी लुगाई मोट्यारा की बातां, उशी-उशी बोलचाल, हाव-भाव और रस मांहे लिखी गई छै। नाटक वींको ही नांव छै के वींमांहे लिखी हुई बातां जाणे बांचवाळा और सुणवाळा के सामने प्रत्यक्ष हो रही छै। इण मांहे—मारवाड़ी समाज की स्थिति घर की और बाहर की बातां, विचार की भिन्नता, पंचायत और स्त्री पुरुष का बरताव पर खूब विचार करने कथा भाग इशो जमायो छै के जाणे आ इशी की इशी वठे हुयोड़ी साची बात छै।"

भूमिका 'बुढ़ापा की सगाई नाटक' : शिवचन्द्र भरतिया

(ख) "इण की रचना कोई हुई बात पर छै नहीं, सारी बात मन सूं जमाई हुई छै, पण हुबे-हुब तसवीर उतारणे मांहे कसर कोनी छै नहीं। जिना-जिना पात्र बणाया गया है उणकी बोलचाल भी उण तरहे की रखी छै, नाटक को सविधानक (कथा भाग) हाल का जमाना मुजब छै।"

भूमिका 'केसर विलास नाटक' : शिवचन्द्र भरतिया।

२. (क) "केसर विलास नाटक—रचना इसकी बहुत ही स्वाभाविक है। कहीं कहीं पढ़ते समय स्वाभाविकता का इतना आविर्भाव हो उठता है कि इस बात की विस्मृति हो जाती है कि यह कल्पित कथा पढ़ रहे हैं।"

सरस्वती, अक्टूबर १९०४, पृ० सं० ३६८

इस नाटक में यथार्थ तत्व की रक्षा की दृष्टि से ही पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग का विशेष ध्यान रखा गया है। जहाँ गुजराती एवं महाराष्ट्रीय पात्र क्रमशः गुजराती एवं मराठी का प्रयोग करते हैं, वहाँ मुस्लिम पात्र उर्दू का एवं मारवाड़ी पात्र मारवाड़ी का प्रयोग करते हैं। वहाँ भी शिक्षित एवं अशिक्षित मारवाड़ी पात्रों की भाषा में भी भेद रखा गया है। जहाँ शिक्षित मारवाड़ी पात्रों की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक हुआ है, वहाँ अशिक्षित पात्रों के मुख से ग्राम्य भाषा का प्रयोग हुआ है। भरतियाजी के नाटकों में उभरे यथार्थवादी स्वरों का 'प्रणवीर-प्रताप' एवं 'पन्नाधाय' जैसे ऐतिहासिक नाटकों में भी यथा-शक्य निर्वाह हुआ है। पात्रानुकूल भाषा की दृष्टि से 'प्रणवीर प्रताप' के लेखक ने भी पर्याप्त सतर्कता का परिचय दिया है। वस्तुतः इन नाटककारों का पात्रों की भाषा की ओर इतना अधिक ध्यान रहा है कि पात्रानुकूल भाषा रखने के कारण नाटक की बोधगम्यता पर पड़ने वाले असर को भी उन्होंने नजरअन्दाज कर दिया है। साधारण दर्शक या पाठक के लिए 'गुजराती,' 'मराठी' या 'भीली' का समझ पाना और कथा के संपर्क सूत्र जोड़ पाना कठिन हो जाता है।

जहाँ तक नाटकों में अंकित जीवन एवं सामयिक परिस्थितियों का प्रश्न है, राजस्थानी के अन्य-अन्य सुधारवादी नाटकों में भी लेखकों ने यथार्थवाद की उपेक्षा नहीं की, किन्तु ऐसे नाटकों में घटना-संयोजन एवं पात्रों के चरित्र को सोद्देश्य आदर्श के अनुरूप मोड़ प्रदान किया गया है। ऐसी स्थिति में इन नाटकों को आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी नाटक कहा जा सकता है। श्री श्रीनारायण अग्रवाल के 'विद्या उदय नाटक,' 'अकल बड़ी की भैंस नाटक' श्री बालमित्र एलीचपुर के 'संगीत कलियुगी कृष्णारुक्मण नाटक,' श्री गुलाबचन्द नागौरी के 'मारवाड़ी मौसर और सगाई जंजाल नाटक' तथा श्री भगवतीप्रसाद दारूका के 'ढलती फिरती छाया नाटक,' 'कलकतिया बाबू नाटक' आदि इसी श्रेणी के हैं। इन नाटकों में लेखकीय आदर्श प्राप्ति हेतु दो विधियों का सहारा लिया गया है। एक ओर तो कुछ नाटकों में दो कथानक एक साथ चलते हैं—एक, 'सत्' आचरण वाले पात्रों से सम्बन्धित एवं द्वितीय, 'असत्' प्रवृत्तियों के शिकार पात्रों से सबंधित (या कि सत् से बिल्कुल विपरीत आचरण करने वाले पात्रों का कथानक)। नाटककार क्रमश दोनों कथानकों का विकास करता चलता है और अन्त में 'असत्' पर चलने वालों की पराजय दिखलाकर नाटक समाप्त कर देता है। श्री श्रीनारायण अग्रवाल के 'विद्याउदय नाटक' एवं श्री बालमित्र के 'संगीत कलियुगी कृष्णरुक्मण नाटक' में इसी शैली को अपनाया गया है। 'विद्या उदय नाटक' में एक ओर असत् प्रवृत्तियों (अशिक्षा, कुरीति, अन्ध-विश्वास, मिथ्या अहं, द्यूत) का शिकार सेठ सुगनचन्द है जो अपनी इन्हीं आदतों के कारण लखपति से कंगालपति बन पर्याप्त विक्षिप्तावस्था में दृष्टिगत होता है, तो दूसरी ओर गरीब उदयचंद है जो स्वयं कष्ट सहन करके भी अपने बच्चों को शिक्षा दिलवाता है और सत् आचरण की प्रेरणा देता है। फलत: एक दिन दाने-दाने के मोहताज बने ये बाप-बेटे सगर्व।

(ग) "केसर विलास नाटक—केसर की बुरी संगत का बुरा परिणाम बताते हुए लेखक ने मारवाड़ी समाज की वर्तमान कुरीतियों का दिग्दर्शन इस पुस्तक में बड़ी खूबी से किया है। हां-हां लेखक को इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि इस पुस्तक को भाई-भाई के सामने, बेटा बाप के सामने कैसे पढ़ सकेगा ?"

पंचराज, वर्ष ४, अंक ४-५, पृ० सं० १२८

बन समाज सुधार में लग जाते हैं। श्री अग्रवाल के ही एक अन्य नाटक 'अक्ल बड़ी के भैंस नाटक' में भी लगभग इसी शैली में शिक्षा एवं अशिक्षा के परिणामों का चित्रण हुआ है। श्री बालमित्र के 'संगीत कलीयुगी कृष्ण रुक्मण नाटक' में भी एक ओर कृष्ण और रुक्मणी की कहानी है जिसमें कृष्ण नामधारी यह युवक 'रुक्मिणी' को एक वृद्ध के चुंगल में फंसने से बचाकर उसका उद्धार करता है, तो दूसरी ओर वृद्ध जुरासिंघ और उसकी युवा पत्नी की कहानी है, जिसमें जुरासंध की युवा पत्नी, पति से शारीरिक तृप्ति न पाकर गलत राह चल पड़ती है। इस प्रकार इन नाटकों में 'शिव' के पक्ष समर्थन में ही 'अशिव' का आयोजन हुआ है।

आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी विचारधारा से अनुप्राणित नाटकों में उन नाटकों का स्थान आता है—जिनमें एक ही कथानक में पतन एवं उत्कर्ष चित्रित हुआ होता है। ऐसे नाटकों में पात्रों को धीरे-धीरे पतन की राह पर अग्रसर होते चित्रित किया जाता है एवं कगार पर पहुंचने से पूर्व ही किसी विशेष घटना के माध्यम से उनकी राह को एकदम परिवर्तित कर दिया जाता है और वे ही पात्र 'अशिव' से शिव की ओर लौट आते हैं। श्री दारूका के 'कलजुगिया बाबू नाटक',[१] श्री नागोरी के 'मारवाड़ी मौसर और सगाई जंजाल नाटक' तथा श्री जमनाप्रसाद पनेरिया के 'नई बीनणी' में इसी पद्धति को अपनाया गया है। 'कलजुगिया बाबू नाटक' के करोड़पति बाबू फूलचंद अपनी गलत आदतों के कारण कंगालपति बनने की स्थिति तक पहुँच जाते हैं और उसी समय अपने मुनीम की सलाह एवं एक साधु की प्रेरणा से अपनी जीवन पद्धति में आमूल परिवर्तन कर पुनः खोयी साख को प्राप्त करने में सफल होते हैं और उधर फूलचन्द के ही चरण-चिह्नों पर चलनेवाला लखपति बाप का बेटा रामेश्वर भी पतन के कगार पर पहुँच, पत्नी के प्रयासों से सन्मार्ग पर लौट आता है। इसी प्रकार 'मारवाड़ी मौसर और सगाई जंजाल नाटक' का पूनमचन्द जो कि सामाजिक प्रथाओं की विवशता के कारण अपनी युवा पुत्री को वृद्ध बालकिसन को बेचने का कदम उठाता है, सुधारकों की सहायता से पुनः सही रास्ते पर लौट आता है और अपनी कन्या की शादी एक समवयस्क होनहार नवयुवक से कर देता है। उधर प्रस्तुत नाटक की दूसरी कथा में, अल्पवयस्क मतीदान अपने साथियों एवं सुधारकों की सहायता से अपने से अधिक वय वाली लड़की के साथ शादी होने के अभिशाप से बच जाता है। 'नई बीनणी' का 'संपादक' भी अपनी पत्नी को अशिक्षित एवं कलहकारिणी होने के कारण त्याग देता है, किन्तु बाद में अपनी उसी पत्नी को अपने मित्र और मित्र-वधू के प्रयासों के कारण स्वीकार कर लेता है। ये लोग 'राधा' (सम्पादक की पत्नी) को न केवल सामान्य शिष्टाचार ही सिखलाते हैं अपितु उसे साधारण रूप से शिक्षित कर शहरी जीवन के सभ्य समाज के अनुकूल आचरण करना भी सिखला देते हैं।

इस प्रकार इन नाटकों में घटनाओं एवं पात्रों के चरित्र का स्वाभाविक रूप में विकास नहीं हो पाया है और नाटक के प्रारम्भिक चरणों में अपनी स्वाभाविक गति से चलने वाले कथानक एवं पात्रों का अन्त में जाकर एकदम नैतिकीय आदर्श के अनुरूप अस्वाभाविक परिवर्तनों से गुजरना पड़ा है।

ऊपर जिन आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी नाटकों का उल्लेख हुआ है—उनमें जहाँ, उन्हें बालोपयोगी शिक्षाप्रद नाटक बनाने की दृष्टि से आदर्श की स्थापना हुई है, तो वहीं तत्कालीन रूढ़िग्रस्त समाज की

१. प्रारम्भिक युग की अधिकांश नाट्य रचनाओं के शीर्षक के साथ उनके रचयिताओं ने 'नाटक' शब्द का प्रयोग किया है—यथा 'भाग्योदय नाटक' 'कलजुगिया बाबू नाटक' आदि।

अपनी हीनावस्था का बोध करवाकर एक स्वस्थ स्थिति की ओर उसका ध्यान आकर्षित करने की दृष्टि से आदर्श का सहारा लिया गया है। नाटकों एवं उनमें आये पात्रों के नामकरण से भी लेखकों की 'शिव' के प्रति रही रुचि सूचित होती है। तभी तो जहाँ एक ओर 'भाग्योदय नाटक', 'अकल बड़ी की भैंस नाटक', 'विद्या उदय नाटक' जैसे नाटको के नाम रखे गये हैं, वहाँ दूसरी ओर 'शिव' और 'अशिवकारी' प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों के नाम भी मिलते हैं, यथा-उद्यमसिंह, भाग्यसिंह, निरासमल, दुष्टपाल, जुरासंध, कुमतीप्रसाद आदि।

नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही नाट्य शैलियों से प्रेरित होकर इन नाटकों की रचनाएँ हुई हैं। एक ओर श्री श्रीनारायण अग्रवाल के 'भाग्योदय नाटक,' 'विद्या उदय नाटक', 'अकल बड़ी की भैंस नाटक', 'महाभारत को श्री गणेश' आदि नाटक हैं, जिनमें भारतीय नाट्य शैली का अनुकरण हुआ है। सूत्रधार, मंगलाचरण, भरतवाक्य आदि निर्देशों का इन नाटकों में यथाशक्य पालन हुआ है और भारतीय नाट्य-परम्परा के अनुकूल ही उन्हें सुखान्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। दूसरी ओर पाश्चात्य नाट्य शैली से प्रेरित नाटकों की संख्या भी कम नहीं रही है। श्री भरतिया एव श्री दारूका के अधिकांश नाटक, श्री गुलाबचन्द नागौरी के 'मारवाड़ी मोसर और सगाई जंजाल नाटक' श्री पचोरिया के 'नई बीनणी' एवं श्री आग्राचन्द भंडारी के 'पन्ना धाय' आदि नाटकों का झुकाव पाश्चात्य नाट्य शैली की ओर विशेष रहा है। वैसे इन नाटकों में कहीं-कहीं भारतीय नाट्य परम्पराओं को भी अपनाया गया है, किन्तु इनका गठन एवं पात्र विधान इन्हें मुख्य रूप से पाश्चात्य नाट्य शैली से अनुप्राणित नाटक ही सिद्ध करता है।

यद्यपि नाटकों की मुख्य-मुख्य विशेषताओं के आधार पर आधुनिक राजस्थानी नाटकों को—भारतीय नाट्य शैली एवं पाश्चात्य नाट्य शैली से प्रभावित नाटकों के रूप में विभाजित कर सकते है, किन्तु उनमें समग्र रूप से दोनों ही नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का कठोरता से निर्वाह नहीं हुआ है। जहाँ तक भारतीय नाट्य शैली के अनुकरण पर लिखे जाने वाले आधुनिक राजस्थानी नाटकों का प्रश्न है—उनमें सूत्रधार, मंगलाचरण, भरत वाक्यम् आदि का आयोजन होते हुए भी, नायक के असाधारण व्यक्तित्व, उसकी निश्चित विजय, संगीत, नृत्य आदि की योजना, विदूषक या उसके अभाव में विशेष हास्य-प्रसंगों के आयोजन आदि अन्य बातों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त अंक संख्या आदि से संबंधित नियमों का भी कठोरता से निर्वाह नहीं हुआ है। (अधिकांश नाटकों की अंक संख्या ३ से अधिक नहीं रही है) संस्कृत नाटकों का भाव-लालित्य एवं सौन्दर्य भी इन नाटकों में नहीं आ पाया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजस्थानी नाटकों में संस्कृत नाट्य शैली का आंशिक रूप में ही अनुसरण हुआ है।

पाश्चात्य नाट्य परम्पराओं के प्रभाव का जहाँ तक प्रश्न है, उसने आधुनिक राजस्थानी के अधिकांश नाटकों को एक दृष्टि से प्रभावित किया है और वह है नाटक के कथानक का साधारण जनों से सम्बद्ध होना और नायक की परिकल्पना को तोड़ना। चाहे नाटक सुखान्त हो या कि दुखान्त, चाहे उनका प्रारम्भ बिना किसी मंगलाचरण एवं सूत्रधार की सहायता के हुआ हो या कि इन परम्पराओं का निर्वाह करते हुए हुआ हो—हर स्थिति में उनके कथानक का सीधा सम्बन्ध तात्कालिक समाज के सामान्यजनों की समस्याओं से रहा है। इस प्रकार ये नाटक पाश्चात्य प्रभाव के कारण विशिष्ट जनों के

दायरे से निकल कर जनसाधारण तक आ पहुँचे हैं। बहुत से नाटकों में मंगलाचरण, सूत्रधार आदि की आवश्यकता भी नहीं समझी गयी है और नाटककार सीधे अपने मूल प्रतिपाद्य पर आ गये हैं। इसके अतिरिक्त नाटकों में संघर्ष की प्रमुखता एवं पात्रों के चरित्रांकन में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को अपेक्षया अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति भी पाश्चात्य नाट्य शैली का ही परिणाम कही जायेगी। यह प्रवृत्ति भरतिया जी के नाटकों, 'नई बीनणी', 'पन्ना धाय' आदि में विशेष प्रभावी रही है। इसी प्रकार इन नाटकों में अंक-संख्या का दो या तीन तक सिमट आना एवं गीत नृत्यादि का भी अल्पमात्रा में आना, पाश्चात्य नाट्य परम्परा का ही प्रभाव कहा जायेगा। इतना सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन नाटकों में पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र की सपूर्ण विशेषताओं को अंगीकार कर लिया है। पात्रों की वेशभूषा, रंगमंच की स्थिति आदि के बारे में सूचना देने वाली रंग संकेत प्रणाली को अपनाने में राजस्थानी नाटककारों ने कोई उत्साह नहीं दिखलाया है। संकलन-त्रय के निर्वाह एवं परिस्थितियों के द्वन्द्व तथा तज्जन्य संघर्ष की तीव्रता को प्रमुखता देने में इन नाटककारों ने कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई है।

यहाँ राजस्थानी नाट्य साहित्य की कुछ कमियों की ओर इंगित करना अप्रासंगिक नहीं होगा। राजस्थानी में पद्य प्रधान गीतिनाट्य, भाव-नाट्य, एक पात्रीय नाटक, स्वप्न नाटक एवं कल्पना-मूलक नाटकों का तो सर्वथा अभाव रहा ही है, किन्तु इसके साथ-ही-साथ 'बालबालायक' एवं 'सेल-बालायक' दोनों प्रकार के नाटक लिखे जाकर भी साहित्यिक नाटकों की सर्जना नहीं हुई है। यही स्थिति समस्या-नाटकों को लेकर रही है। व्यक्ति-समस्या नाटक तो कोई प्रकाश में आया ही नहीं है और सामाजिक समस्या नाटकों में भी अनेक सामयिक समस्याओं को उठाते हुए भी समस्या को उभारने, पाठकों को उसकी जटिलता का आभास कराने एवं समस्याजन्य द्वन्द्व तथा संघर्ष को कहीं प्रमुखता नहीं दी गयी है। सीधे-सादे ढंग से समस्या को प्रस्तुत कर प्रायः उसके दुष्परिणामों की ओर इंगित करते लेखक समाधान की ओर बढ़ जाते हैं। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्यामूलक नाटकों जैसा एक भी नाटक राजस्थानी में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार पाश्चात्य नाट्य शैली से प्रभावित होते हुए भी पूर्ण दुःखान्त नाटक का सर्जन भी राजस्थानी में नहीं हुआ है। 'जयपुर की ज्योणार' का लेखक अवश्य ही आंशिक रूप से इस ओर प्रवृत्त हुआ है।

इन बातों के अतिरिक्त भी राजस्थानी नाटकों की कुछ अन्य उल्लेखनीय बातें हैं—जो चाहे सामान्य रूप से उनके किसी उत्कर्ष का कारण बनने की अपेक्षा सीमा भले ही बन जाये, किन्तु अधिकांश नाटकों में वे बातें सामान्य रूप से पायी जाती हैं, अतः यहाँ उनकी ओर संकेत करना असंगत नहीं होगा। दृश्यों की बहुतायत जहाँ राजस्थानी नाटकों की सामान्य विशेषता रही है, वहाँ पात्रों की संख्या भी उनमें कुछ अधिक ही बढ़ी-चढ़ी मिलेगी। फलतः जहाँ एक ओर बार-बार दृश्य परिवर्तन की परेशानी नाटक की अभिनेयता में बाधा उपस्थित करती है वहाँ दूसरी ओर एक-एक और डेढ़-डेढ़ पृष्ठों के दृश्य भी कोई प्रभाव नहीं जगा पाते हैं। वस्तुतः कथा-विकास के जिन सूत्रों की सूचना अर्थोपक्षेपकों के माध्यमों से ही देनी चाहिए, वहाँ उनके लिए ये नाटककार झट से एक दृश्य ही खड़ा कर देते हैं। इन सबके अतिरिक्त पात्रों के चरित्रांकन में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का अभाव, स्वगत कथनों की भरमार, कथा-संगठन एवं संवादों में नाटकीयता की कमी, घटना-संयोजन में त्वरा का अभाव आदि राजस्थानी नाटकों की सामान्य कमजोरियाँ हैं।

कहा जा सकता है कि पिछले बीस वर्षों में ज्यों-ज्यों राजस्थानी लेखकों का ध्यान एकांकियों की ओर आकर्षित हुआ है, त्यों-त्यों नाटक की ओर से उनकी दृष्टि हटती गयी है। जहाँ पिछले बीस वर्षों में शताधिक एकांकी लिखे गये हैं, वहाँ नाटकों की संख्या में भारी कमी आई है। बीस वर्ष की लम्बी अवधि में कठिनाई से ५–७ सम्पूर्ण नाटक लिखे गये हैं। इसके पीछे कई कारण हो सकते हैं। प्रथम, चलचित्र की लोकप्रियता ने बड़े-बड़े नाटकों के निर्माण में जबरदस्त बाधा पहुँचाई है। द्वितीय, जीवन के दिन-प्रतिदिन संघर्षपूर्ण होते जाने के कारण लोगों का जीवन अत्यन्त व्यस्त हो उठा है और लम्बे नाटकों को देखने का समय निकाल पाना जनसाधारण के लिए कठिन हो रहा है। अतः स्वाभाविक रूप से नाटकों का प्रचलन कम हो गया है। शिक्षण-संस्थाओं आदि द्वारा एकांकियों को प्रोत्साहित किये जाने के कारण भी नाटक साहित्य के सर्जन में बाधा उत्पन्न हुई है। इसके अतिरिक्त भी पत्र-पत्रिकाओं ने भी नाटकों की अपेक्षा एकांकियों को प्रश्रय दिया है। राजस्थानी भाषा के पत्रों में जहाँ पिछले बीस वर्षों में पचासों एकांकी प्रकाशित हुए हैं वहाँ 'तास रो घर'[1] नामक एकमेव नाटक अभी कुछ रोज पहले ही प्रकाशित हुआ है। इन्हीं सब कारणों से राजस्थानी नाटक अपेक्षित प्रगति नहीं कर पाया है।

---

१. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', मरुवाणी, वर्ष १२, अंक ११-१२

एकांकी

नाट्य साहित्य का आज का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप एकांकी नाटक अपने जन्म के कुछ समय पश्चात् ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गया । यूरोप की महायुद्धकालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों ने विशेषरूप से इस नाट्य-रूप के प्रकाश में आने के लिए प्रभावी वातावरण तैयार किया । वैसे एकांकी नामक इस विधा के प्रारम्भिक रूप के दर्शन ईसाई धर्माधिकारियों के जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना या फिर किसी उपदेशप्रद स्थिति की रंगमंचीय अभिव्यक्ति में होते हैं । पश्चात् लम्बे नाटकों के अभिनय से पूर्व खेले जाने वाले हास्य-विनोदात्मक प्रहसनों एवं सामूहिक भोज आयोजन के अवसर पर अभिनीत किये जाने वाले द्विपात्री हास्य-संवादों (कर्टेन रेजर) ने एकांकी को जन्म दिया । इब्सन, जे० बी० शॉ, फ्राकमेन, मोलियर आदि प्रतिभाओं का सहारा पाकर यह अति अल्पकाल में पर्याप्त लोकप्रिय हो गया । जीवन की बढ़ती व्यस्तता और जटिलतर बनते जा रहे मानव सम्बन्धों ने भी इसके तेजी से प्रचार-प्रसार में प्रभावी भूमिका अदा की ।

भारतवर्ष में एकांकी का प्रचलन पाश्चात्य जगत् में काफी कुछ लोकप्रियता प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही हुआ । वैसे तो संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपक और उपरूपक के भेदों में एक अंक वाले कतिपय रूपकों का उल्लेख भी मिलता है और उनका सर्जन भी हुआ है, किन्तु आज के एकांकी का उनसे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । हिन्दी की तरह राजस्थानी ने भी पाश्चात्य साहित्य से प्रेरित होकर ही इस विधा को अपनाया है ।

अद्यावधि प्राप्त जानकारी के आधार पर राजस्थानी में सर्वप्रथम पंडित माधवप्रसाद मिश्र ने इस दिशा में कदम बढ़ाये । उनका 'बड़ा बाजार'[1] नामक दो दृश्यों एवं तीन पात्रों वाला वार्तालाप वि० सं० १९६२ में प्रकाशित हुआ । यद्यपि हम इसे एकांकी नहीं कह सकते किन्तु फिर भी यह अपने शिल्प में एकांकी के काफी निकट पहुँचा हुआ है । पात्रों की सीमित संख्या, आवश्यक रंग-संकेत, दैनन्दिन-जीवन का

---

१. वैश्योपकारक, वर्ष २, अंक १२, पृ० सं० ३२८

एक यथार्थ एवं व्यंग्य-प्रधान चित्र, इसे सामान्य वार्तालाप नहीं रहने देते।[1] इसमें मारवाड़ियों की स्वार्थ-परता, कायरता चालाकी एवं चापलूसी का यथार्थ एवं प्रभावी अंकन हुआ है। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग इसके यथार्थ तत्त्व को और अधिक बढ़ा देता है।

पंडित माधवप्रसाद मिश्र के 'बड़ा बाजार' से पूर्व भी 'वैश्योपकारक' के कई अंको में कतिपय पात्रों के सम्वाद 'कनक-सुन्दर'[2] नाम से प्रकाशित हुए थे। यद्यपि इसके लिए दृश्य-१, दृश्य-२ आदि का प्रयोग किया गया है किन्तु इनका एक दूसरे से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः इनमें तात्कालिक मारवाड़ी समाज की किसी एक कुरीति या किसी एक चर्चित घटना को आधार बनाकर उसे रोचक एवं

---

१. बड़ा बाजार

स्थान, मि०..................का बंगला

(साहब और दो मारवाड़ी)

साहब – वल बाबू टुम लोग बंगालो से बाट करटा।

१ मारवाड़ी—नहीं हुजूर सब झूठा बात है।

साहब—या यू रास्कल ! हमने सुना टुम जरूर करटा।

२ मारवाड़ी—दुहाई। हुजूर कई बंगाली बाबू म्हारै कनै आया था। हम बोला तुम 'सूदखोर' हो। इंग्रेज म्हारै मा बाप हैं। उन्हीं के दिए दिन हैं।

साहब—आगे बोलो क्या हुआ ?

२ मारवाड़ी—वै बोल्या म्हानै मदद द्यो।

साहब—(गुस्से होकर) टुमने मडट डिया ?

मारवाड़ी – (डरकर) नहीं सरकार। वै ही वगत उन्होंने घर से निकाल दिया।

साहब—ओ बरा बहादुरी का बाट किया। टुमारी हम बरे साहब से सिपारिस करेगा।

१ मारवाड़ी—सरकार माई बाप। इबके हुजूर मारवाड़ियों ने खिताब मिलैगा ?

साहब—खिताब। मिलने सकटा। राजा शिवबक्स बागला ने टीस हजार गोरू के हास्पिटल में डिया ठा। टुम डेगा ? देने से सब होने सकटा।

२ मारवाड़ी—हुजूर। इबके नुकसाण ज्यादा हुयो और पैदावार कमती हुई।

२. श्री शिवचन्द्र भरतिया के प्रसिद्ध उपन्यास 'कनक सुन्दर' (नवलकथा) से इसका नाम-साम्य होने के कारण तात्कालिक पत्रों ने इसे उसी उपन्यास का एक अंश समझ कर तत्सम्बन्धी समाचार प्रकाशित किये। फलतः उस भ्रम को दूर करने के लिए 'वैश्योपकारक' को स्पष्टीकरण देना पड़ा—"............किन्तु 'कनक सुन्दर' नाम के रूपक को किसी महाशयों ने भ्रमवश उपन्यास कहा है, किसी ने नाटक ठहराया है पर न वह नाटक है और न उपन्यास। यह एक रूपक है और इसलिए उसका आरम्भ किया है कि जो कल्पित स्त्री पुरुषों के वार्तालाप द्वारा उन बुराइयों का समय-समय पर प्रकाशन किया जाय जिनसे मारवाड़ियों की हानि की सम्भावना हो।" वैश्योपकारक, वर्ष १, अंक २, पृ० सं० ४३, वैशाख संवत् १९६१

उपदेशप्रद शैली में वार्तालाप रूप मे प्रस्तुत किया जाता था।[1] इस प्रकार 'कनक-सुन्दर' नाम से प्रकाशित इन सवादों और 'बड़ा बाजार' को राजस्थानी एकांकी का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है।

'कनक मुन्दर' और 'वडा बाजार' के रूप में प्रकाशित इन रोचक वार्तालापों के प्रकाशन के काफी बाद तक राजस्थानी लेखक एकांकी लेखन की दिशा मे सक्रिय नहीं हुआ। अद्यावधि प्राप्त सूचनाओं के आधार पर श्री शोभाचन्द जम्मड़ के 'वृद्ध-विवाह विदूषण' को राजस्थानी का प्रथम उपलब्ध एकांकी माना जा सकता है।[2] इसके पश्चात् प्रकाश मे आने वाले एकांकियो में 'गांव सुधार या गोमाजाट'[3] एवं 'बोळावण या प्रतिज्ञापूर्ति'[4] उल्लेखनीय है।

---

१. कनक–सुन्दर
(प्रवेश तीजो)

(चोबारा में पिलंग पर उदास होकर बैठ्यो हुयो है, इतने में हँसती हुई सुन्दर आवे है)

सुन्दर—आज के सोच फिकर में होर्‌या हो ? (ठहरकर) क्यूं बोलो कोनी के ?

कनक—(ऊपर देखकर) देगो जी घणी हांसी मजा करणी आछी नीं, वीं दिन हागी हांसी में थारली तस्वीर उतराकर मने मेरे मित्रों में सरमाणो पड्यो।

सुन्दर—क्यूं भला। के हुयो ?

कनक—के कहूं ? सारा ही बोलवा लाग्या के, तस्वीर तो वेश्या की उतर्‌या करे है. कोई भलो माणस आपकी लुगाई की तस्वीर कठे उतरावे है के ? लुगाई की तस्वीर उतार कर लोगां के सामने राखणे सूं आपणो अपमान नीं होवे के ?

वैश्योपकारक, वर्ष १, अंक ३, पृ० सं० ५६, ज्येष्ठ संवत् १९६१

२. प्रो० गणपतिचन्द्र भंडारी ने 'सीठणा-सुधार' को कालक्रम की दृष्टि से राजस्थानी का प्रथम एकांकी माना है। उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है—'जठै तक म्हारी जाणकारी है, राजस्थानी रो पैं'लो एकांकी संवत् १९८२ या ईस्वी सन् १९२५ मे लिखिजियोड़ो 'सीठणा सुधार' है, जिणमें एक अंक अर ६ दरसाव है।' (भूमिका : राजस्थानी एकांकी, पृ० सं० १०)

वस्तुतः 'सीठणा सुधार' एकांकी नहीं है. अपितु यह तीन अंकों एवं ६ दृश्यों वाला पूर्ण नाटक है। अलग से पुस्तक रूप में छपे इस नाटक में इसका प्रकाशनकाल वि० सं०१९८० दिया गया है और 'मारवाड़ी पंच नाटक' से संकलित इसी नाटक का रचनाकाल वि० सं० १९८२ दिया गया है।

'वृद्ध विवाह विदूषण' के बारे में श्री गणपतिचन्द्र भंडारी की सूचना को आधार मानते हुए इसे राजस्थानी का प्रथम एकांकी माना गया है। '''' इणरै बाद सन् १९३० में सरदार सैं'र रा शोभाचंदजी जम्मड़ रो एकांकी प्रहसण 'वृद्ध विवाह विदूषण' सामने आयो।'

भूमिका 'राजस्थानी एकांकी', पृ० सं० १०

३. श्रीनाथ मोदी, प्र० का०–१९३१ ई०

४. सूर्यकरण पारीक, प्र० का०–१९३३ ई०

उपर्युक्त तीन-चार एकांकियों के प्रकाशन के बाद लगभग २० वर्ष तक राजस्थानी में एकांकी-लेखन का कार्य अवरुद्ध सा रहा । इस अवधि में सुधार या प्रचार की दृष्टि से प्रेरित होकर लिखे गये एकांकी चाहे स्थानीय संस्थाओं द्वारा रंगमंच पर भले ही अभिनीत किये जा चुके हों, किन्तु प्रकाशित रूप में वे सामने नहीं आ पाये । इस लम्बे अन्तराल के पश्चात् एकांकी-लेखन के कार्य को गति प्रदान करने में जहाँ एक ओर 'मरुवाणी' एवं 'ओळमो' जैसी राजस्थानी भाषा की मासिक पत्रिकाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, वहाँ, प्रो० गोविन्दलाल माथुर की तरह स्वतन्त्र रूप से एकांकी संग्रह प्रकाशित करवाने वाले एकांकीकारों का योगदान भी कम उल्लेखनीय नहीं है । गत बीस वर्षों की अवधि में राजस्थानी में दसों एकांकी-संग्रह एवं शताधिक एकांकी स्फुट रूप में प्रकाशित हुए हैं । उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर यहाँ उनका मूल्यांकन किया जा रहा है ।

राजस्थानी एकांकीकारों का झुकाव ऐतिहासिक एवं सामाजिक समस्यामूलक एकांकी-लेखन की ओर ही विशेष रूप से रहा है, जिनमें आदर्शवाद, आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद एवं यथार्थवाद—तीनों ही विचारधाराओं के स्वर कमोबेश रूप में उभरे हैं । ऐतिहासिक एवं सामाजिक एकांकियों के अतिरिक्त हास्य-व्यंग्य-मूलक, धार्मिक एवं पौराणिक तथा राष्ट्रीय एकांकी भी लिखे गये हैं, किन्तु प्राधान्य प्रथम दो का ही रहा है ।

राजस्थान का इतिहास न केवल हिन्दी जगत् के लिए ही, अपितु समस्त भारतीय साहित्य-जगत् के लिए प्रेरणा का एक बहुत बड़ा स्रोत रहा है । ऐसी स्थिति में यहाँ का साहित्यकार यदि यहाँ के गौरवपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठों से अपने एकांकियों के लिए सामग्री स्वीकारे तो आश्चर्य ही क्या ? डा० मनोहर शर्मा, डा० आज्ञाचन्द्र भंडारी, श्री रामदत्त सांकृत्य, श्री दामोदरप्रसाद, डा० गणपतिचन्द्र भण्डारी, रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत प्रभृति एकांकीकारों ने ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर अनेक एकांकियों की सर्जना की है ।

राजस्थानी के अधिकांश ऐतिहासिक एकांकियों में जिस राजस्थान के दर्शन होते हैं—वह है, कर्नल टॉड और राजस्थानी इतिहास के अन्य प्रणेता इतिहासकारों के इतिहास में वर्णित, शूरवीर, आन के धनी, विलक्षण योद्धा, शरणागत-वत्सल, स्वाभिमानी राजपूतों एवं कर्त्तव्यनिष्ठ, वीरता की जीवन्त प्रेरणा, अदम्य साहसवाली तथा हंसते-हंसते जौहर की लपटों में कूदनेवाली राजपूत ललनाओं का राजस्थान । जिसके रोमांचक चित्र बंगाली और हिन्दी साहित्य में प्रचुर मात्रा में देखने को मिल सकते हैं । किन्तु राजस्थानी एकांकियों में अंकित ये चित्र अधिक जीवन्त एवं विश्वसनीय बन पड़े हैं । क्योंकि राजस्थान की ही मिट्टी में पले-पनपे, यहाँ के रीति-रस्मों एवं परम्पराओं से सुपरिचित साहित्यकार के द्वारा बनाये गये हैं जो राजस्थान के प्रामाणिक चित्र को चित्रित करें । इसके विपरीत यहाँ के सांस्कृतिक धरातल पर अंकित इन चित्रों में मानसिक परिवेश को उभारने वाले रंगों का 'टच्' प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुआ है ।

रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत के 'सामधरमा माजी'[1] में राजपूत ललनाओं के अपूर्व शौर्य, स्वामी-भक्ति, कर्तव्य के प्रति सजगता एवं कठिन परीक्षा की घड़ी में सूझ-बूझ के साथ सही निर्णय लेने की क्षमता आदि गुणों को बड़े शानदार ढंग से उभारा गया है। 'वीरमती'[2] में सतीत्व रक्षा में तत्पर राजपूत बाला के साहस भरे शौर्य को अंकित किया गया है, तो 'देस रै वास्तै'[3] में देशद्रोही पुत्र को अपने हाथों से विषपान करानी वज्र-हृदया 'माँ' का चित्रांकन हुआ है। इसी प्रकार 'देस भगत भामासा'[4] एवं 'देस रो हेलो'[5] राणा प्रताप के स्वातंत्र्य-प्रेम और भामाशाह के अपूर्व त्याग को व्यंजित करते हैं, तो 'जलम भोम री मूरत'[6] और 'जय जलमभोम'[7], कुम्भा के स्वाभिमानी चरित्र एवं मातृभूमि के प्रति उनके अगाध प्रेम भाव को अभिव्यक्त करता है। कहने का तात्पर्य यही है कि इन ऐतिहासिक एकांकियों में राजस्थानी इतिहास के किसी न किसी उज्ज्वल पृष्ठ को चित्रित किया गया है।

राजस्थानी के ऐतिहासिक एकांकियों का दूसरा पक्ष भी रहा है। डा० मनोहर शर्मा के एकांकियों में जिस राजस्थान का चित्र खींचा गया है, वह अपने गौरवपूर्ण कृत्यों से जगमगाता राजस्थान नहीं है, अपितु वह है इस चकाचौंध में लगभग विस्मृत-सा, यहाँ की तथाकथित गौरवपूर्ण परम्पराओं को बनाये रखने में बलपूर्वक होमा गया, सिसकता राजस्थान। जिसके इन गौरवपूर्ण पृष्ठों के पीछे, सामन्ती विलासिता, क्रूरता तथा मानवीय दुर्बलताओं की अनेक कहानियाँ छिपी पड़ी हैं। वस्तुतः डा० शर्मा ने यहाँ की ऐतिहासिक महानता से अभिभूत होकर अपनी लेखनी नहीं उठायी है, अपितु इन महानताओं की ओट में सिसकते यथार्थ की करुण पुकार से आर्द्र होकर, उसको यथा-तथ्य रूप में प्रस्तुत करने की भावना से प्रेरित होकर ही। 'कवि रो कलंक'[8] की 'उमादे', 'सती रो संकट'[9] की 'लाडकंवर', 'बदळो'[10] का 'अर्जुनी' और उसके साथी ७०० दूल्हे तथा उनकी अविवाहिता पत्नियाँ, 'राजदण्ड'[11] की 'बडोवण जी', 'बेटी जमाई'[12] का 'बीदों मींमाळोत' आदि सभी पात्र या तो राजस्थान की इन तथाकथित गौरवपूर्ण परम्पराओं को बनाये रखने के लिए बलिदान कर दिये गये या फिर राजनैतिक छल-छद्म के शिकार होकर समाप्त हो गये।

इस प्रकार राजस्थानी के इन ऐतिहासिक एकांकियों में दो दृष्टिकोण प्रमुख रहे हैं, प्रथम, आदर्शवाद का एवं द्वितीय, यथार्थवाद का।

---

१. राजस्थानी ऐकांकी : सं० श्री गणपतिचन्द्र भंडारी, पृ० १६
२. श्री शक्तिदान कविया, वही, पृ० ३५
३. देस रै वास्तै : डा० आज्ञाचन्द भंडारी, पृ० २५
४. डा० आज्ञाचन्द भंडारी, राजस्थानी ऐकांकी, पृ० ४६
५. श्री रामदत्त सांकृत्य, ओळमों, नवम्बर १९६६, पृ० ५
६. श्री रामदत्त सांकृत्य, ओळमों, नवम्बर १९६६, पृ० ३१
७ श्री धनंजय वर्मा, जलमभोम, वर्ष १, अंक १, पृ० ७
८. डा० मनोहर शर्मा, मरवाणी, वर्ष ७, अंक ३, पृ०सं० ५
९. डा० मनोहर शर्मा, राजस्थानी वीर, दीपावली वि०सं० २०१२
१०. डा० मनोहर शर्मा, राजस्थानी ऐकांकी, पृ०सं० १९०
११. डा० मनोहर शर्मा, मरवाणी, वर्ष ७, अंक १, पृ० सं० ५
१२. डा० मनोहर शर्मा, वरदा, वर्ष १०, अंक २

राजस्थानी के सभी ऐतिहासिक एकांकियों में एक बात सामान्य रूप से प्रमुख रही है, वह है–इनके कथानक का अधिकांशतः राजस्थान के ही इतिहास से ही चयनित होना। 'कामरान की ग्रौंवड़्यां'[1] जैसे गिनती के ऐतिहासिक एकांकी ऐसे हैं, जिनमे राजपूत इतिहास के स्थान पर इतर ऐतिहासिक प्रसंगों को आधार बनाया गया है।

ऐतिहासिक एकांकियों की तरह ही सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को चित्रित करने और सामाजिक समस्याओं के प्रतिपादन की दृष्टि से लिखे गये सामाजिक एकांकियों की संख्या भी पर्याप्त रही है। सामाजिक जीवन एवं सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखने वाले एकांकीकारों में भी दो प्रवृत्तियां प्रमुख रही है। एक है, प्रारम्भ में समस्या की विकटता को अपने यथा-तथ्य रूप मे प्रकट करते हुए भी अन्त में लेखकीय समाधान के साथ सुखद आदर्शवादी मोड़ प्रदान करने की प्रवृत्ति एवं द्वितीय है समस्या को केवल समस्या के रूप में उठाकर पाठकों के सम्मुख उसे यथा-तथ्य रूप मे प्रस्तुत कर देने की प्रवृत्ति। दूसरे शब्दों में प्रथम प्रवृत्ति वाले एकांकी आदर्शवादी एव आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी विचारधारा मे अनुप्राणित एवं द्वितीय प्रकार के एकांकी यथार्थवादी विचारधारा से प्रेरित, एकांकी कहे जा सकते हैं।

सामयिक समस्याओं को उठाकर उनका आदर्शवादी अन्त प्रस्तुत करने वाले एकांकियो मे श्रीनाथ मोदी का 'गांव सुधार या गोमा जाट', श्री दिनेशखरे का 'नूंवो मारग',[2] श्री निरंजननाथ आचार्य का 'नहरी झगड़ो', श्री नागराज शर्मा के 'इयतो चेतो'[3], 'सोवो मतना जागो'[4] आदि एकांकी उल्लेखनीय बन पड़े हैं। इनमें प्रायः ग्रामीण जीवन की किसी-न-किसी समस्या को उठाया गया है। प्रारम्भ मे समस्या को यथाशक्य अपने स्वाभाविक रूप में अंकित कर अन्त मे लेखकीय आदर्श के अनुरूप समाधान प्रस्तुत कर दिया गया है। इस प्रकार के प्रायः सभी एकांकी सोद्देश्यीय एकांकी कहे जा सकते हैं, जिनमे प्रायः लेखकों का उद्देश्य अशिक्षित या अल्पशिक्षित ग्रामीणों के मध्य सरल एवं रोचक ढंग से कोई-न-कोई शिक्षाप्रद एवं अनुकरणीय बात का प्रचार करना होना है। 'नूवो-मारग' एवं 'नहरी झगड़ो' सहकारी जीवन की महत्ता पर प्रकाश डालते हैं, तो 'इय तो चेतो,' 'घर का टाबर',[5] 'सोवो मतना जागो' एव 'आदर्श विद्यार्थी'[6] शिक्षा, स्वास्थ्य, बच्चो की उचित देख-रेख आदि की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए सामान्य ग्रामीण जनों को उन्हीं व्यवस्थाओं को अपनाने को प्रोत्साहित करते हैं। ऐसे एकांकियों का गठन प्रायः एक ही ढर्रे पर होता है। इनमें एक ओर होता है समस्त अज्ञानताओं एवं अन्य परम्पराओं को ढोता हुआ, अशिक्षित, भोला किन्तु रूढ़िवादी ग्रामीण, दूसरी ओर उनका शोषण करने वाला एवं उनकी अल्पज्ञता का अनुचित लाभ उठाने वाला कोई पूंजीपति या उसी श्रेणी का पात्र और तीसरी ओर होता है एक ऐसा पात्र (जो प्रायः डाक्टर या मास्टर के रूप मे आता है) जो प्रगतिगामी शक्तियों मे

1. श्री दामोदरप्रसाद, राजस्थानी एकांकी, पृ० सं० ५६
2. अशोक प्रकाशन जयपुर, प्र० का०–१६६७ ई०
3. इयतो चेतो, पृ० सं० १, प्र० का०–१६६३ ई०
4. वही, पृ० सं० ३१
5. वही पृ० १५
6. कन्हैयालाल दूगड़, प्र० का०–१६५८ ई०

जमता है, भोले-भाले लोगों को पूंजीपति या उसी 'टाइप' के लोगों की कुटिलताओं से अवगत करवाता है और अन्त में प्रगति विरोधी शक्तियों को परास्त कर एक नवीन एवं दोषरहित आदर्श व्यवस्था की स्थापना करता है।

मास्टरों एवं डाक्टरों के हाथ सुधार एवं व्यवस्था का सन्देश प्रसारित करने वाले उक्त एकांकियों की अपेक्षा वे एकांकी अधिक सफल एवं स्वाभाविक बन पड़े हैं, जहां पात्र स्वयं ही अपने विगत जीवन के कार्यों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को एक सही राह में डालने के लिए स्वेच्छया परिवर्तन को अंगीकार कर लेते हैं। ऐसे एकांकियों में डॉ० नारायणदत्त श्रीमाली का 'माटी रो पौरेदार', श्री नागराज शर्मा का 'ग्रोपरी पढ़ाई', श्री प्राशाचन्द्र भंडारी का 'बदळा री आग', प्रो० गोविन्दलाल माथुर का 'डाक्टर रो ब्याव' आदि एकांकी उल्लेखनीय हैं। 'माटी रो पौरेदार' एवं 'ग्रोपरी पढ़ाई' में शिक्षित बेकारी की समस्या को उठाया गया है। दोनों में आधुनिक शिक्षा पाये युवक अपने सम्पन्न पैतृक व्यवसाय को छोड़कर नौकरी करना चाहते हैं। नौकरी के लिए दर-दर भटक कर भी जब वे उसे पाने में असमर्थ रहते हैं तो स्वेच्छया पैतृक व्यवसाय को स्वीकारते हैं। इस भांति 'डाक्टर रो ब्याव' का डॉ० सुरेंदर पहले मां-बाप री इच्छानुसार दहेज की मांग को स्वीकृति दे देता है किन्तु जब एन शादी के वक्त उसका मामा स्कूटर की मांग के लिए हठ पकड़ लेता है तो सुरेंदर अपने परिवार वालों की बिना चिंता किये शादी कर लेता है। 'बदळा री आग' का डाकू नरपत अपने साथी के विश्वासघात और 'जवान' के अदम्य साहस एवं मृदु व्यवहार के कारण अपने जीवन भर की राह को बदल लेने का निश्चय कर लेता है।

सामाजिक समस्या-मूलक एकांकियों के लेखन की ओर प्रो० गोविन्दलाल माथुर विशेष रूप से उन्मुख हुए हैं। उन्होंने शहरी और ग्रामीण दोनों ही जीवन की कुछ एक ज्वलन्त समस्याओं को अपने एकांकियों के माध्यम से उठाया है। समस्या को अपने नग्न रूप में प्रस्तुत कर वे चुपचाप खिसक जाते हैं किन्तु पाठक उसमें ऐसा उलझता है कि बड़ी देर तक उस पर सोचता रहता है। इनके एकांकियों में उठायी गयी समस्याएँ हमारे सामाजिक जीवन से ही संबंधित हैं। इनमें कहीं दहेज-प्रथा का विकृत एवं घिनौना चित्र अंकित हुआ है, तो कहीं कर्ज के भयंकर परिणाम चित्रित हुए हैं। कहीं ग्रामीणों की अशिक्षा-जन्य अज्ञानता के भीषण परिणामों का दिल दहलाने वाला चित्रांकन हुआ है, तो कहीं छुआछूत की विषैली नागिन की विकरालता का भयावह अंकन और कहीं सामन्ती युग की क्रूरताओं का मार्मिक चित्रण। इन एकांकियों का नामकरण भी प्राय: इन्हीं समस्याओं के आधार पर हुआ है, यथा—'कर्ज का अभिशाप'[१], 'हरिजन',[२] 'ठाकुरशाही की एक झलक'[३], 'सांनची मां बाप'[४], 'गूदपोर'[५] आदि-आदि।

---

१. प्रो० गोविन्दलाल माथुर,
२. गतरंगिणी : प्रो० गोविन्दलाल माथुर, प्र० का०—१९५४ ई०
३. वही
४. वही
५. वही

प्रो० गोविन्दलाल माथुर की यथार्थ के प्रति इस रुझान ने न केवल उनके कथ्य को ही प्रभावित किया है अपितु उनके पात्र एवं एकांकियों में उभरा वातावरण आदि भी उससे अछूता नहीं बचा है। हमारे घरेलू जीवन के प्रति परिचित दृश्यों के माध्यम से 'लालची मां बाप'[1], 'डाक्टर रो ब्याव'[2], 'बाल विधवा'[3] आदि एकांकियों में जिस प्रभावी वातावरण की सृष्टि हुई है, वह यथार्थ को सही रूप में पकड़ पाने की लेखकीय दृष्टि का ही परिणाम है। यही स्थिति पात्रों को लेकर भी है। अपने पात्रों को स्वतंत्र रूप से परिस्थितियों के अनुरूप अपनी राह खोजने के लिए छोड़ देने के कारण भी उनके एकांकियों में यह यथार्थ तत्व विशेष रूप से उभर पाया है। पात्रों के चरित्रांकन के पीछे किसी आदर्श का व्यामोह न होने के कारण वे अपनी समस्त अच्छाइयों और बुराइयों को लिए पाठकों के सम्मुख उपस्थित होते हैं और अपने वास्तविक चेहरे के कारण ही पाठकों को एकदम विश्वसनीय प्रतीत होते हैं। 'ठाकुरशाही की एक झलक' का ठाकुर जालिमसिंह, 'लालची मा-बाप' का भवानी, 'कर्ज का अभिशाप' का बाबू मुरली मनोहर प्रभृति पात्र, सहज मानवीय कमजोरियों से युक्त होते हुए भी इसी कारण पाठकों को खलनायक प्रतीत नहीं होते।

सामयिक जीवन की समस्याओं के आधार पर लिखे गये यथार्थवादी एकांकियों में प्रो० माथुर के एकांकियों के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय एकांकी बन पड़े हैं, डा० नारायणदत्त श्रीमाली का 'तिरियां तावड़ो'[4], श्री दामोदरप्रसाद का 'तोप री लायसन्स'[5], श्री सुरेन्द्र 'अंचल' का 'रगत एक मिनख—रो'[6] आदि। 'तिरिया तावड़ो' में जहाँ वन्ध्या स्त्री के दुःखी पारिवारिक जीवन का मार्मिक चित्र अंकित हुआ है, वहाँ 'तोप री लायसेन्स' में आज की भ्रष्ट शासन-व्यवस्था का पर्दाफाश हुआ है और 'रगत एक मिनख—रो' में साम्प्रदायिक उन्माद के शिकार बने मानवता प्रेमी कलाकार की करुण कथा कही गयी है। इन एकांकियों में समस्या को अपने नग्न रूप में चित्रित करने का साहस एकांकीकारों ने दिखलाया है।

हास्य एवं व्यंग्य-मूलक एकांकी भी राजस्थानी में लिखे गये हैं। एक ओर जहाँ विशुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से लिखे गये हास्य एकांकी हैं, तो दूसरी ओर सुधारवादी भावनाओं से प्रेरित होकर लिखे गये वे एकांकी भी हास्य-व्यंग्य-मूलक एकांकियों में लिये जा सकते हैं, जिनमें आदर्शवादी अन्त के अतिरिक्त सब कुछ हँसी-मजाक से परिपूर्ण है या फिर जिनमें प्राधान्य तो हँसी-मजाक का ही रहा है, किन्तु बीच-बीच में उपदेश और शिक्षा की कड़वी घूँटें भी पाठकों को पिलाई गयी हैं। प्रथम प्रकार के एकांकियों में 'टीगर टोळी'[7], 'ठापड़्या लागगी'[8], 'कुमनो फौज में'[9], 'सेठाँरी पगड़ी'[10] आदि एकांकियां

---

१. प्रो० गोविन्दलाल माथुर, राजस्थानी एकांकी : सं० गणपतिचन्द्र भंडारी, पृ० ६७
२. प्रो० गोविन्दलाल माथुर, सतरंगिणी।
३. वही
४. मरुवाणी, वर्ष ५, अंक ४, पृ० सं० १७
५. मधुमती, वर्ष ६–१०, अंक १२–१, पृ० सं० २५
६. वही, जुलाई १६७१, पृ० सं० ३१
७. श्री शोभाचन्द जम्मड़, राजस्थानी एकांकी, पृ० सं० १५२
८. ठापड़्या लागगी : मानचन्द बीना, पृ० सं० ७
९. कुमनो फौज में : श्री मानचन्द बीना, पृ० सं० ५
१०. मरुवाणी, वर्ष १, अंक ६, पृ० सं० ३१

को लिया जा सकता है एवं द्वितीय प्रकार के एकांकियों में 'आदर्श विद्यार्थी', 'इवनो सेठो', 'घर का टाबर', 'नुवों मारग' आदि को लिया जा सकता है। इन दोनों ही प्रकार के हास्य एकांकियों का हास्य, शिष्ट अनोचित नहीं कहा जा सकता। उनमें जनसाधारण को गुदगुदाने की भावना प्रमुख रही है और उनका झुकाव कुछ-कुछ ग्राम्य-हास्य की ओर रहा है। 'कुमलो फौज में' में 'कुमलो' नामक फौजी जवान की हिन्दी मिश्रित राजस्थानी, अंग्रेजी शब्दों का विकृत उच्चारण एवं 'कुमलो' पर घर में भी फौजी जीवन के नशे और आतंक के छाये रहने की स्थिति आदि बातें हास्य की सृष्टि करती हैं। इसी प्रकार 'आदर्श विद्यार्थी' में विशिष्ट देहाती शब्दों के प्रयोग, अनूठी रोचक उपमाओं और रैवतसिंह जैसे पात्र की हद दर्जे की अक्खड़ता भरी बातों के माध्यम से हास्य की सृष्टि की गयी है। इस प्रकार के अन्य सभी एकांकियों में भी प्रायः ग्रामीणों की अज्ञानता एवं अल्पज्ञता, उनकी भाषागत अपूर्णता एवं कहीं-कहीं मूर्खता भरे कार्यों को हास्य का आलम्बन बनाया गया है।

ऐसे साधारण हास्य एकांकियों की अपेक्षा 'टींगर टोळी' एवं 'सेठाँरी पगड़ी' जैसे एकांकियों में लेखकों की रुझान अपेक्षया शिष्ट एवं परिनिष्ठित हास्य की ओर रही है। 'टींगर टोळी' में एक निम्न-मध्यमवर्गीय परिवार के बच्चों की फौज, अपने उत्पातों से जो बवंडर घर में खड़ा करती है, वह दर्शकों के लिए पर्याप्त मनोरंजन की सामग्री जुटा देता है। 'सेठाँरी पगड़ी' में सेठ की हद दर्जे की कंजूसी एवं नाई की वाक् पटुता तथा प्रत्युत्पन्नमति के सहारे निर्मल हास्य की सृष्टि की गयी है। प्रो॰ गोविन्दलाल माथुर के एकांकियों में भी यत्र-तत्र दर्शकों को गुदगुदाने वाले मधुर संवादों की संयोजना हुई है।

राजस्थानी में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य-प्रधान एकांकियों की संख्या तो और भी कम रही है। वस्तुतः 'आपणो खास आदमी',[1] 'सम्पादक की मौत'[2], 'तोप रो लायसेन्स' एवं 'रंग में भंग'[3] आदि इने-गिने एकांकी ही ऐसे हैं जिन्हें व्यंग्य-प्रधान एकांकी कहा जा सकता है। 'आपणो खास आदमी' में भारत के आज के सिफारिशी जीवन और स्वार्थ प्रेरित समाज व्यवस्था पर करारा व्यंग्य प्रहार हुआ है, तो 'तोप रो लायसेन्स' में आज की भ्रष्ट शासन-व्यवस्था पर व्यंग्य की तीखी चोट की गयी है। 'सम्पादक री मौत' में आडम्बरपूर्ण, खोखले एवं निपट स्वार्थी शहरी जीवन पर बहुत अच्छी चुटकी ली गयी है। इनमें सभ्यता का आवरण ओढ़े बाहर से चमचमाती समाज-व्यवस्था के भीतरी खोखलेपन को कलात्मक ढंग से व्यंग्यपूर्ण प्रसंगों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है।

देश की सामयिक समस्याओं से प्रेरित होकर कतिपय राष्ट्रीय एकांकियों की सर्जना भी आधुनिक राजस्थानी साहित्य में हुई है। विशेष रूप से भारत-चीन और भारत-पाक संघर्ष ने ऐसे एकांकियों के सर्जन को प्रेरित किया। इन एकांकियों का उद्देश्य जनसाधारण में देशभक्ति की भावना जाग्रत करना रहा है। इनमें उन्हें देश की स्वतन्त्रता के लिए मर मिटने एवं बड़े से बड़ा त्याग करने को उद्बोधित किया गया है। इस दृष्टि से कहीं प्राचीन ऐतिहासिक प्रसंगों को युगानुरूप नूतन सन्देश का

---

१. श्री बैजनाथ पंवार, राजस्थानी एकांकी, पृ॰ सं॰ ७१

२. श्री रावत सारस्वत, वही, पृ॰ सं॰ २११

३. श्री विनोद सोमानी 'हंस,' मधुमती, जुलाई १९७१ ई॰, पृ॰ सं॰ ५६

वाहक बनाया गया है,[1] तो कहीं सामयिक प्रसंगों को ही चुना गया है।[2] इस दृष्टि से उल्लेखनीय एकांकी हैं—श्री नागराज शर्मा का 'हमलो',[3] श्री रामदत्त सांकृत्य कृत 'देसरो हेलो,' 'कुंवारी सींवा,' 'जलमभोम री मूरत,' 'सरग की पुकार' आदि। श्री रामदत्त सांकृत्य ने अपने प्रत्येक एकांकी के लेखन से पूर्व संक्षेप में इनके लेखन का अपना उद्देश्य भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है।

धार्मिक एवं पौराणिक प्रसंगों को लेकर एकांकी-लेखन की ओर राजस्थानी लेखक प्रवृत्त नहीं हुए हैं। हाँ, श्री मुरलीधर व्यास ने 'दर्प दळण'[4] नाम से एक पौराणिक एकांकी लिखने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु यह शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त कमजोर एवं शिथिल कथानक वाला एकांकी है। व्यक्ति-समस्या-परक, दार्शनिक, कल्पना-मूलक और मनोविश्लेषण-प्रधान एकांकियों का तो राजस्थानी में सर्वथा अभाव ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार एक-पात्रीय-नाटक (मोनोड्रामा), सूचना-मूलक-एकांकी (फीचर), प्रतीक-रूपक-एकांकी आदि के लेखन की ओर भी राजस्थानी एकांकीकारों का ध्यान नहीं गया है।

आकाशवाणी से विशेष प्रोत्साहन मिलने के कारण कुछ एक 'रेडियो रूपक' एवं 'संगीत रूपक' भी राजस्थानी में लिखे गये हैं। इन 'रेडियो रूपकों' में अधिकांशतः प्रचारात्मक दृष्टिकोण से लिखे या लिखवाये गये हैं। श्री नृसिंह राजपुरोहित का 'धरती गावे रे'[5] श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का 'देवता'[6] ऐसे ही प्रचारात्मक 'रेडियो रूपक' कहे जा सकते हैं। जहाँ 'धरती गावे रे' में वैज्ञानिक पद्धति से खेती करने के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है, वहाँ 'देवता' में साम्प्रदायिक सद्भावना, सहकारी जीवन, प्रेम एवं अहिंसा की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। संगीत-रूपकों में स्व० गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद' के 'वधाउडो'[7] 'धरती उतरण'[8] 'जुग-जांझरसो'[9] आदि उल्लेखनीय बन पड़े हैं। प्रगतिशील विचारधारा से प्रेरित इन संगीत-रूपकों में श्रम, सहकारी जीवन आदि की महत्ता प्रतिपादित की गयी है।

यहाँ तक राजस्थानी एकांकी के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर प्रकाश डालने के साथ-साथ विषयगत प्रवृत्तियों के आधार पर उनका विवेचन हुआ है। आगे शिल्प की दृष्टि से उन पर विचार किया गया है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि राजस्थानी के अधिकांश एकांकियों के सर्जन

१. (क) देसरो हेलो, श्री रामदत्त सांकृत्य, ओळमो, नवम्बर १९६६, पृ० ५
   (ख) जलमभोमरी मूरत, वही, पृ० सं० ३१
   (ग) देश रै वास्तै : डा० मनोहरचंद भंडारी, पृ० सं० २५, प्र० का०—१९६७ ई०
२. (क) कुंवारी सींवा . श्री रामदत्त सांकृत्य, ओळमो, नवम्बर १९६६, पृ० सं० १८
   (ख) सुरगरी पुकार, वही, पृ० सं० ४३
३. इब तो चेतो . श्री नागराज शर्मा, पृ० सं० ४७
४. मरवाणी, वर्ष ७, अंक १०, पृ० सं० १३
५. मरवाणी, वर्ष ४, अंक १०–११, पृ० सं० १२
६. राजस्थानी एकांकी, पृ० सं० २२७
७. मरवाणी, वर्ष १०, अंक १०, पृ० सं० ६१
८. वही, पृ० सं० ७१
९. वही, पृ० सं० ८०

के पीछे उन्हें जनसाधारण के सम्मुख अभिनीत किये जाने का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है; अतः इनका अभिनेय पक्ष स्वतः ही काफी सबल बन पड़ा है। राजस्थानी में अधिकांश एकांकी विशेष रूप से ग्रामों में अशिक्षित जनता के सम्मुख खेले जायें, इस दृष्टि से लिखे गये हैं, अतः ग्रामीण क्षेत्रों मे रंगमंचीय साधनों के अभाव से भली-भाँति अवगत होने के कारण इन एकांकीकारों का ध्यान इन्हें सहज अभिनेय बनाने पर ही रहा है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि राजस्थानी एकांकियों मे शिल्पगत जटिलता एवं रंगमंचीय प्रयोगों की नवीनता का अभाव रहा है। रंगमंच की परिष्कृत प्रणाली के उपयोग और आधुनिक टेकनीक के प्रयोग को ध्यान में रखकर तदनुरूप एकांकी रचना की ओर एकांकीकारों का ध्यान बहुत ही कम गया है। इस दृष्टि से डा० आज्ञाचन्द्र भंडारी कृत 'देस रै वास्तै' जैसे इने-गिने एकांकी ही प्रकाश में आ पाये हैं, जहां एकांकी के आधुनिक रंगमंचीय शिल्प को दृष्टिपथ में रख कर एकांकी सर्जना की गयी हो।

संकलन-त्रय का निर्वाह एकांकी के लिए कोई अनिवार्य शर्त नही है और न ही यह कहा जा सकता है कि संकलन-त्रय के निर्वाह के बिना एकांकी में अपेक्षित कसाव एवं चुस्ती नही आ पाती। फिर भी राजस्थानी एकांकियों मे इसका निर्वाह एक सीमा तक बड़ी सफलता के साथ हुआ है। श्री नागराज शर्मा एवं डा० आज्ञाचन्द्र भंडारी इस दृष्टि से विशेष सचेष्ट नजर आते हैं। श्री नागराज शर्मा के 'इब तो चेतो', 'सोवो मतना जागो', 'घर घर टावर' आदि, डा० आज्ञाचन्द्र भंडारी के 'देस रै वास्तै', 'कायर',[1] 'बदळा री आग'[2] आदि एवं श्री दिनेश खरे के 'नुवो मारग' आदि एकांकियों में संकलन-त्रय का निर्वाह कठोरता के साथ हुआ है। डा० मनोहर शर्मा, प्रो० गोविन्दलाल माथुर प्रभृति एकांकीकारों के एकांकियों में यदि स्वतः संकलन-त्रय का निर्वाह हो गया हो यह बात दूसरी है, अन्यथा उन्हें हम इस नियम के प्रति सतर्क नही पाते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ऐसा न होने से उनके एकांकियों की प्रभविष्णुता मे कमी आ गयी है।

कथानक, पात्र, वातावरण, संघर्ष आदि अन्य तत्वों की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि राजस्थानी एकांकीकार प्रायः इन सबके सम्यक् संयोजन में सफल रहे हैं। कैसे कहीं वातावरण प्रधान हो गया है, तो कहीं कथानक भारी, कहीं संघर्ष की तीव्रता पर एकांकीकार का ध्यान अधिक रहा है, तो कहीं संवादों को सजाने-संवारने और उनमें ताजगी लाने में वह अधिक सचेष्ट है। इतना सब कुछ होते हुए भी कहीं ऐसा नहीं हुआ है कि केवल एक ही बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित रखने के कारण अन्यत्र सन्तुलन गड़बड़ा गया हो।

सुधारवादी दृष्टिकोण से प्रेरित जिन एकांकियों में कथानक का चयन और विकास सैद्धान्तिक आदर्श के अनुरूप हुआ है, वहाँ भी वह अस्वाभाविक नहीं बन पड़ा है। अतः जहाँ जीवन के संघर्षपूर्ण एवं गतिशील क्षणों से उसका चयन हुआ है, वहाँ तो वह और अधिक प्रभावी बन गया है। इस दृष्टि से डा० मनोहर शर्मा, डा० आज्ञाचन्द्र भंडारी और प्रो० गोविन्दलाल माथुर के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो०

---

१. देस रै वास्तै': डा० आज्ञाचन्द्र भंडारी, पृ० सं० ३७

२. वही, पृ० सं० ६७

माथुर के एकांकियों में जीवन का कोई एक प्रसंग या अल्पकालिक कोई घटना गति से आगे बढ़ती हुई हमारे सामयिक जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण समस्या या मानव जीवन के किसी एक विशिष्ट पहलू पर तीव्र प्रकाश डाल जाती है। ऐसी स्थिति में अवान्तर कथाओं एवं गौण प्रसंगों के समावेश का कोई प्रश्न वैसे भी उपस्थित नहीं होता।

डा० मनोहर शर्मा ने राजस्थान के इतिहास से अपने एकांकियों के कथानक चुने हैं, किन्तु उनका उद्देश्य ऐसे कथानकों के माध्यम से न तो ऐतिहासिक घटनाओं को दुहराना रहा है और न ही अतीत का कोई भव्य चित्र ही अंकित कर दर्शकों को अभिभूत करना। उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से इतिहास के ऐसे प्रसंगों को खोज निकाला है जो अल्प प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध रहे हैं, किन्तु अपने आप में छोटा सा लगने वाला या साधारण सा दिखने वाला वह प्रसंग कई बार ऐसी मर्मभेदी चोट कर जाता है कि उस युग की वैभवशाली, देदीप्यमान तस्वीरें बुरी तरह थर्रा उठती हैं। 'सती री संकट' का कथानक एक ऐसे ही प्रसंग पर आधारित है। राजस्थान के चारण कवियों ने जिस सती-प्रथा की महिमा प्रतिपादित करने एवं उसका गुणगान करने मे दुनियाभर के पृष्ठ रंग डाले, उसके पीछे जो कारुणिक एवं हृदयद्रावक प्रसंग छिपे पड़े हैं, उनमे से एक की ओर डा० शर्मा ने अपने इस एकांकी मे संकेत किया है। न जाने ऐसी और कितनी ललनाओं की विवशता की कहानी यहाँ की सती-प्रथा के तथाकथित गौरवशाली इतिहास के गर्भ मे समाई हुई पड़ी है।

पात्रों के चरित्रांकन एवं उनके हृदयस्थ भावों के संघर्ष को, उनकी मानसिक ऊहापोह को, उनके मस्तिष्क मे चल रहे सत् और असत् विचारों के द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने में कुछ ही एकांकीकारों ने विशेष सजगता का परिचय दिया है। इनमे डाक्टर मनोहर शर्मा, प्रो० गोविन्दलाल माथुर एवं डा० आशाचन्द भंडारी का नाम उल्लेखनीय है। डा० आशाचन्द भंडारी ने 'देस रै वास्तै' में बूढ़ा मा री अन्तर्व्यथा को सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। डा० शर्मा के कतिपय पात्र अपने सजीव एवं आकर्षक व्यक्तित्व के कारण पाठकों के मन-मस्तिष्क पर अपने चरित्र की एक स्थायी छाप छोड़ जाने मे सफल हुए हैं। 'कवि रो कलंक' की 'उमादे', 'सुपियार दे'[1] की 'सुपियार दे', 'सोढ़ी राणी',[2] की 'सोढ़ी राणी' एवं 'राजदंड' की 'बलोचण जी' आदि ऐसे ही पात्र हैं। अन्य ऐतिहासिक एकांकियों के पात्र किसी एक विशिष्ट संदेश के संवाहक होते हुए भी, वर्ग-प्रतिनिधि या 'टाइप' पात्र के रूप मे सामने नहीं आते हैं। अपने जातीय गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाले इन पात्रों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही पूरे एकांकी में प्रभावी रहा है। हाँ, अलबत्ता सुधारवादी एकांकियों के 'मास्टर', 'डाक्टर' एवं 'शोषक', 'शोषित' श्रेणी के पात्र अवश्य ही वर्ग-प्रतिनिधि पात्र कहे जा सकते है।

पात्रों की सीमित संख्या एवं मुख्यपात्र के व्यक्तित्व का या फिर उससे सम्बन्धित समस्या का पूरे एकांकी मे छाये रहना सफल एकांकी के लिए आवश्यक है। राजस्थानी के अधिकांश एकांकियों में पात्रों की संख्या ५ और ७ से अधिक नहीं रही है। 'गांव सुधार रा सीगा जाट' एवं 'आदर्श विद्यार्थी' जैसे एकांकियों की संख्या कम ही रही है, जिनमे पात्रों की संख्या १० से २० तक पहुँच गयी है।

---

१. डा० मनोहर शर्मा, मरुवाणी, मार्च १९६५

२. डा० मनोहर शर्मा, मरुवाणी, अप्रेल १९६५

सामान्यत. किसी एकांकी मे कोई गौण चरित्र इतना अधिक नहीं उभर पाया है कि वह मुख्य पात्र एवं मुख्य समस्या को ही दाब ले । जहां कहीं ऐसा हुआ है वहां एकांकी के प्रभाव में कमी ही आई है । श्री धनंजय वर्मा का 'जय जलमभोम' एक ऐसा ही एकांकी है जिसमें गौण पात्रों का व्यक्तित्व मुख्य पात्रों की अपेक्षा अधिक सबल रूप से चित्रित हुआ है । 'जय जलमभोम' का मंत्री राणा की अपेक्षा अधिक दबंग एवं प्रभावी लगता है, यही नहीं उसकी सामान्य नर्तकी भी जिस मान-सम्मान एवं स्वतन्त्रता को प्राप्त किये हुए है, वह भी राणा और उसके राजदरबार के गौरव के अनुकूल नहीं कहा जा सकता । इन्हीं कारणों से यह एकांकी अपने मूल सन्देश को व्यंजित करने में असफल रहा है ।

पात्रों के वार्तालाप में वाग्-विदग्धता, वक्रता एवं चुटीलेपन का सफल निर्वाह प्रो० मायुर के एकांकियों मे विशेष रूप से देखने को मिलता है । वैसे श्री नागराज शर्मा और श्री कन्हैयालाल दूगड़ के एकांकियों मे भी इन सब बातों का अच्छा निर्वाह हुआ है । ऊबा देने वाले नीरस, उपदेशप्रद, लम्बे संवादों का प्रयोग बहुत ही कम एकांकियों मे हुआ है । श्रीनाथ मोदी के 'गांव सुधार या सोमा जाट,' श्री नागराज शर्मा के 'सोवो मत ना जागो' एवं प्रो० गोविन्दलाल मायुर के 'हरिजन' एवं 'शिक्षा का सवाल' जैसे कुछ ही एकांकी ऐसे हैं जिनमें अवश्य ही लम्बे एवं उपदेशप्रद संवादों के कारण पाठक ऊब जाता है । श्री सुबोधकुमार के 'दो पागडा'[१] में पात्रों ने खुलकर ठेठ देहाती शब्दों में जिन गालियों का उन्मुक्त आदान-प्रदान किया है, वह राजस्थानी एकांकियों मे अपने आप मे एक ही उदाहरण है । लोक-यथार्थ की सीमाओं का संस्पर्श करने वाले इस एकांकी को शायद कुछ आलोचक असंस्कृत एवं असंगत ठहरा सकते हैं ।

कथ्य के अनुकूल वातावरण की सर्जना राजस्थानी एकांकी की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता कही जा सकती है । ऐतिहासिक एकांकियों में यहां के रीति-रस्मों एवं परम्पराओं से सुपरिचित एकांकीकारों ने जिस जीवन्त वातावरण की सृष्टि की है, वैसा हिन्दी के ऐतिहासिक एकांकियों में कम मिलता है । यहां की सामन्ती संस्कृति के विशेष मान-मूल्यों, बातचीत एवं मान-मनुहार की उसकी अपनी विशिष्ट शैली की बारीकियों से सुपरिचित एकांकीकारों ने सजीव वातावरण की सर्जना में आशातीत सफलता प्राप्त की है । इस दृष्टि से रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत का 'सामधरमा मांजी,' श्री मूलंवरमल पारीक का 'बोळावण या प्रतिमामूर्ति', श्री गणपतिचन्द्र भंडारी का 'सोहणा जागा माव'[२] आदि एकांकी द्रष्टव्य हैं । प्रो० मायुर ने हमारे दैनन्दिन घरेलू जीवन के सुपरिचित वातावरण को उभारने में अच्छी सफलता प्राप्त की है ।

१. मरवाणी, वर्ष १, अंक ६, पृ० सं० ४६
२. राजस्थानी एकांकी, पृ० सं० १८१

संक्षेप में सुधार एवं उपदेश की भावना से प्रेरित ग्राम्यजनोचित सरल एकांकी लेखन से चली राजस्थानी एकांकी की यात्रा सांस्कृतिक मान-मूल्यों पर आधारित ऐतिहासिक एकांकियों, मानव-चरित्र की असंगतियों एवं उसके मिथ्या अहं को व्यंजित करने वाले ख्यात एवं वचनिकाओं के प्रसंगों पर आधारित एकांकियों एवं सामयिक सामाजिक समस्याओं से संघर्षरत मानव के उज्जवल एवं कलुषित-उभय पक्षों पर प्रकाश डालने वाले एकांकियों के लेखन तक पहुँच चुकी है। यद्यपि राजस्थानी एकांकीकार ने जीवन के विविध पक्षों को समेटने का प्रयास किया है किन्तु उसका मुख्य झुकाव ऐतिहासिक एवं सामयिक सामाजिक घटना प्रसंग की ओर ही विशेष रहा है। अभिनय तत्त्व की ओर से प्रारंभ से ही सजग होते हुए भी रंगमंच की आधुनिक विकसित प्रणाली को अपनाने में उसने कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की है और न ही शिल्पगत जटिलताओं में ही वह उलझा है।

※

निबन्ध

हिन्दी और राजस्थानी में निबन्ध शब्द प्रायः अंग्रेजी (ESSAY) के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है। संस्कृत में भी यह शब्द, विकास की कई सरणियों से गुजरते हुए अपने मूल रूप से काफी परे हट गया। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण ही निबन्ध हिन्दी जगत् में एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित हुआ है। अंग्रेजी साहित्य के समान ही यहाँ भी यह विस्तृत और संकुचित अर्थ में समान रूप से व्यवहृत होता रहा है। जहाँ एक ओर निबन्ध के अन्तर्गत समीक्षा, समालोचना, सम्पादकीय और सामान्य वर्णन लिये जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर निर्वैयक्तिक विचारों की अभिव्यक्ति तथा तीसरी ओर वैयक्तिकता एवं आत्मनिष्ठा से भरपूर किसी विषय पर लेखक के स्वतन्त्र विचारों की अभिव्यक्ति भी *निबन्ध के अन्तर्गत आती है। निबन्ध का यह सीमा-विस्तार यहाँ तक पहुँच गया कि गद्य की जो भी* रचना अन्य किसी साहित्यिक विधा में 'फिट' नहीं बैठती है, उसे निबन्ध की संज्ञा से अभिहित कर पल्ले से सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में चलाया जाता है। इसी अव्यवस्था के कारण निबन्ध को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन हो गया और आलोचकों ने यही कह कर कि—'निबन्ध वह, जो कि निबन्धकार की रचना है,'—सन्तोष किया। किन्तु इस प्रकार ढुलमुल दृष्टिकोण अपनाकर कोई भी आलोचक वास्तविक निबन्धों के साथ न्याय नहीं कर सकता। फलतः आज अधिकांश में उन सृजनात्मक गद्य-रचनाओं को निबन्ध माना जाता है, जिनमें लेखक का व्यक्तित्व स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होता हो। लेखक के व्यक्तित्व का समावेश और उसके प्रस्तुतीकरण की निजी शैली ही किसी सामान्य विचार या घटना-प्रसंग या वर्णन को निबन्ध बनाता है। इसके विपरीत, जहाँ केवल वर्णन मात्र हुआ हो, या स्थिति का तटस्थ प्रस्तुतीकरण भर हुआ हो, या भावनाओं से परे हटकर केवल बौद्धिक धरातल पर किसी विषय का प्रतिपादन हुआ हो, उन सबको लेख की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस प्रकार लेख और निबन्ध में भावात्मकता और वैयक्तिकता के आधार पर स्पष्ट अन्तर किया जा सकता है।

राजस्थानी में निबन्ध का प्रारम्भिक रूप श्री शिवचन्द्र भरतिया की राजस्थानी कृतियों की भूमिकाओं में देखने को मिलता है। इस दृष्टि से उनके 'कनक-सुन्दर' और 'फाटका जंजाल नाटक' की भूमिकाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें लेखक ने विस्तार से अपने समय की समस्याओं पर विचार किया है। विशेष रूप से मारवाड़ी समाज की दयनीय स्थिति और देश की पराधीनता को लेकर लेखक ने काफी विस्तार के साथ तर्कपूर्ण शैली में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इसी समय में प्रकाशित होने वाले 'मारवाड़ी भास्कर'[1] और 'मारवाड़ी'[2] जैसे पत्रों में प्रकाशित लेखों में भी राजस्थानी निबन्ध के प्रथम

---

1. सं० रामलाल बद्रीदास, प्र० का०—वि० सं० १९५४ (सोलापुर)
2. सं० किशनलाल बलदवा, प्र० का०—वि० सं० १९५४ (अहमदनगर)

चरण को देखा जा सकता है। दुर्भाग्य से ये पत्र आज देखने को नहीं मिल पाते हैं, ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि राजस्थानी निबन्धों का प्रथम चरण किस स्थिति में था। पश्चात् 'मारवाड़ी हितकारक'[1] (राज०) और 'पंचराज'[2] आदि हिन्दी पत्रों में भी सर्व श्री कावेरी कान्त, ब्रिजलाल बियाणी, सत्यवक्ता, धनुर्धारी आदि लेखकों के सुन्दर निबन्ध प्रकाशित हुए। श्री कावेरी कान्त का 'मारवाड़ी हितकारक' में प्रकाशित निबन्ध 'मांदगी मूं फायदा'[3] एक रोचक हास्य-निबन्ध है। इस पत्र में प्रकाशित राजस्थानी रचनाओं को 'मारवाड़ी अग्रवाल' आदि हिन्दी पत्र साभार पुनः प्रकाशित किया करते थे। इससे पत्र के स्तर का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 'पंचराज' में एक ओर जहाँ श्री ब्रिजलाल बियाणी के 'मोगरा कली'[4], 'गुलाब कली'[5] 'बड़ी फजर को दीवो'[6] एवं 'मारवाड़ी चोर्नी'[7] जैसे ललित निबन्ध प्रकाशित हुए तो 'धनुर्धारी' का 'बस म्हांने स्वराज्य होणो'[8] जैसे व्यंग्य-विनोदात्मक निबन्ध और 'सत्यवक्ता' के 'धनवाना की लक्ष्मी'[9] जैसे विचारपूर्ण निबन्ध भी प्रकाशित होते रहे है।

उपर्युक्त वर्णित सभी पत्र-पत्रिकाएँ एवं पुस्तकें राजस्थान से बाहर, इतर प्रान्तों में जहाँ-जहाँ प्रवासी राजस्थानी रहते थे, प्रकाशित हुई। राजस्थान में ऐसे साहित्यिक पत्रों का प्रकाशन काफी बाद में प्रारम्भ हुआ। इस दृष्टि से 'आगीवाण' का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। किन्तु यह मूलतः राजनैतिक पत्र था, साहित्यिक नहीं। अतः इसमें स्तर की साहित्यिक रचनाएँ कम और लोगों में राजनैतिक चेतना जागृत करने वाले समाचार अधिक प्रकाशित होते थे। फिर भी इसमें कुछ एक सम्पादकीयो के रूप में काफी भावपूर्ण लघु निबन्ध सामयिक समस्याओं के सन्दर्भ में प्रकाशित हुए हैं। इसमें प्रकाशित 'निछपीजो म्हांको भी तो सुणलो'[10] एक ऐसा ही भावपूर्ण लघु निबन्ध है। इसके अतिरिक्त यदा-कदा 'बाने कांई चाहिजे'[11] जैसे मनोरंजक निबन्ध भी इसमें प्रकाशित हुए हैं। पश्चात् 'जागती जोत'[12] 'मारवाड़ी'[13] 'राजस्थानी'[14] आदि पत्रों में भी कभी-कभी कुछ लेख आदि प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु किसी पत्र के नियमित प्रकाशन के अभाव ने राजस्थानी लेखक को इस ओर बढ़ने का अवसर ही प्रदान नहीं किया।

---

१. स० राधाकृष्ण चिसावा, प्र० का०—वि० सं० १९७६ (धामण गांव)
२. स० कन्वरदास कलश्री, प्रकाशन काल—वि० स० १९७२ (नासिक सिटी)
३. वर्ष ३, अंक २, पृ० स० ४३ (मई १९२१ ई०)
४. पचराज, वर्ष २, अक ४—५, पृ० १२५
५. पचराज, वर्ष २, पृ० स० ३१, (वैशाख–वि० स० १९७३)
६. पचराज, वर्ष ३, अक ८, पृ० स० ३१७
७. वही, वर्ष २, अंक ६, पृ० सं० २८१
८. वही, वर्ष २, अंक १२, पृ० सं० ३७५
९. वही, वर्ष ४, अक ८, पृ० स० २८४
१०. आगीवाण, वर्ष १, अक १ (मुख पृष्ठ मे)
११. वही, जयनारायण व्यास, वर्ष १, अक ३, पृ० सं० ८
१२. स०-श्री युगल, प्रकाशन काल-वि० स० २००४, (कलकत्ता, जयपुर)
१३. स०-श्रीमन्तकुमार व्यास, प्र० का० १९४७ ई० (जोधपुर)
१४. स०-श्री नरोत्तमदास स्वामी, प्र० का०-१९४६ ई० (कलकत्ता)

स्वतन्त्रता के पश्चात् सन् १९५३ ई० में 'मरुवाणी,' 'ओळमों' और 'जलमभोम' नामक पत्रों के मासिक रूप में काफी समय तक प्रकाशित होते रहने के कारण गद्य की अन्यान्य विधाओं के प्रकाशन के साथ-साथ निबन्ध भी कुछ मात्रा में प्रकाशित हुए, किन्तु यहाँ इतना निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि इन पत्रों के सम्पादकों का ध्यान भी कविता और कहानियों के प्रकाशन की ओर ही अधिक रहा। फलतः स्तर के निबन्ध इन पत्रों में भी काफी कम आ पाये। इन पत्रों में अधिकांशतः किसी उत्सव आदि के अवसर पर लिखे गये परिचयात्मक लेख ही निकले हैं या फिर साहित्यकार या साहित्यिक कृतियों से सम्बन्धित परिचयात्मक लेख। फिर भी, समय-समय पर सुन्दर एवं सशक्त निबन्ध भी ये पत्र प्रकाशित करते रहे हैं। इस ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, द्वारा प्रकाशित 'राजस्थानी निबन्ध संग्रह'[1] का अपना अलग महत्व है। यह राजस्थानी भाषा के निबन्धों का तो प्रथम संग्रह है ही, किन्तु साथ-ही-साथ इसने कुछ नये निबन्धकारों से भी राजस्थानी का प्रथम परिचय करवाया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी का निबन्ध साहित्य काफी क्षीण एवं अपुष्ट है। ऐसी स्थिति में इसमें विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन और विकास हो पाना संभव नहीं हुआ। फिर भी ७० वर्षों की लम्बी अवधि में जो सामग्री निबन्धों के रूप में प्रकाशित हुई है, आगे उसका प्रवृत्तिगत मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

राजस्थानी में सर्वाधिक रूप से लिखे गये हैं—वर्णनात्मक निबन्ध। इनका सपाट वर्णन अनेक बार पाठक के मन में यह दुविधा खड़ी कर देता है कि वह उसे निबन्ध माने भी या नहीं? वस्तुतः ऐसी रचनाएँ निबन्ध की अपेक्षा लेख के अधिक निकट होती हैं। राजस्थानी में अधिकांशतः सांस्कृतिक धरातल पर आधारित वर्णनात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे हैं। ये निबन्ध राजस्थानी में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक होने के नाते लिखे एवं प्रकाशित किये गये। इनकी भाषा सीधी एवं सरल है। इनमें मुख्यतः इसी बात का परिचय दिया गया है कि राजस्थान में अमुक पर्व या त्योहार किस रूप में मनाया जाता है। कभी-कभी इन निबन्धों में सम्पूर्ण राजस्थान को नहीं अपितु राजस्थान के किसी एक क्षेत्र विशेष को आधार बनाया गया है। रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत का 'मेवाड़ी फागण'[2], 'मेवाड़ी दिवाली'[3] आदि ऐसे ही निबन्ध हैं। ऐसे निबन्धों के पीछे वस्तु-सत्य को तथ्य रूप में प्रकट करने का दृष्टिकोण प्रमुख रहता है, फलतः कल्पना का रंगीन संस्पर्श और भावनाओं का कोमल संयोजन इनमें अपेक्षाकृत कम देखने को मिलता है। स्थिति को यथातथ्य रूप में प्रकट करने की भावना के प्रबल होने के कारण ऐसे निबन्धों में वैयक्तिकता और वैचारिकता के उभय पक्ष कमजोर होते हैं। इस श्रेणी के निबन्धों में श्री उदयवीर शर्मा का 'शेखावाटी रे हुड़दंग में बसन्तोत्सव रो रूप,'[4] श्री दीनदयाल का 'गणगौर पर्व होळी पर उणरी परम्परा'[5] प्रभृति उत्सवों एवं पर्वों पर आधारित निबन्ध, श्री रामगोपाल विजय-

---

१. सं०-श्री चन्द्रसिंह, प्र० भा०-१९६६ ई०
२. मरुवाणी, वर्ष १, अंक ६, पृ० सं० २७
३. वही, वर्ष २, अंक ५, पृ० सं० ३
४. जलमभोम, वर्ष १, अंक ५-६, पृ० सं० ६
५. वही, पृ० सं० ५

वर्गीय के राजस्थानी चित्रकला के सम्बन्ध में लिखे गये 'बून्दी री कलम'[1] एवं 'कोटे री कलम'[2] आदि निबन्ध और श्री मोहनलाल गुप्त का 'अलवर रो सिलेरानों'[3] तथा महेन्द्र भानावत का 'राजस्थान री पड़ चित्तरामकारी'[4] आदि अन्य परिचयात्मक निबन्ध उल्लेखनीय है । डा० मनोहर शर्मा के 'नागपसाव'[5] और 'घाड़वी' [6] जैसे निबन्ध भी परिचयात्मक निबन्धों की ही श्रेणी मे आते हैं, किन्तु डा० शर्मा का अध्ययन और इन लेखों की क्वचित् गभीरता इन्हें अन्य वर्णनात्मक या परिचयात्मक निबन्धों मे कुछ अलग ला खड़ा करती है । डा० नरेन्द्र भानावत का 'पाबूजी'[7] भी इसी परम्परा का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक निबन्ध है ।

वर्णनात्मक और परिचयात्मक निबन्धों का एक और क्षेत्र भी राजस्थानी लेखकों का विशेष कृपाभाजन रहा है । यह क्षेत्र है—शोध और खोज का । विभिन्न कवियो, लेखकों एव कृतियों पर दो-तीन पृष्ठों के परिचयात्मक एवं खोजपूर्ण लेख काफी संख्या में प्रकाशित हुए हैं । एक शोधार्थी की सूक्ष्म अन्तर्भेदी दृष्टि का परिचय ऐसी रचनाओं में कम मिलता है । वस्तुतः ऐसी रचनाओं को प्रकाशित करवाने के पीछे लेखकों की नवीन सूचना देने की वृत्ति ही प्रमुख रही है । तभी ऐसे लेखों का शीर्षक प्राय. 'एक अज्ञात कवि,' 'एक अज्ञात रचना' या फिर 'एक और अज्ञात कवि' जैसा रखा गया है । इस प्रकार के लेख प्रकाशित करवाने मे श्री अगरचन्द नाहटा का नाम ,अग्रगण्य है । कभी-कभी इन लेखों का शीर्षक कवि या कृति विशेष के नाम पर भी रख दिया गया है, यथा—'रामनाथ कविया,'[8] 'हिंगलाजदान कविया'[9] आदि । ऐसे शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाशित होने वाले लेखों में प्रायः सम्बन्धित कवि या कृति का मोटे तौर पर परिचय भर दिया गया है । इस प्रकार, साहित्यिक रचनाओं और साहित्यकारों पर लिखे गये परिचयात्मक लेखों में प्रमुख हैं—श्री अगरचन्द नाहटा के 'भगत कवि पीरदान लालस',[10] 'कवि लछमण री देवी विलास,'[11] 'मेहडू रिधदान री रचनावां,'[12] 'कवि दुरसाजी आढा री 'किरतार बावनी'[13] एवं डा० नरेन्द्र भानावत का 'करमसी रुणेचा री किसनजी री वेलि'[14] तथा डा० मनोहर शर्मा का 'मूंगर का घेसळा'[15] आदि-आदि ।

१. मरवाणी, वर्ष १, अंक ३, पृ० स० १०
२. वही, वर्ष १, अंक ४, पृ० सं० ५
३. वही, पृ० सं० ४५
४. हरावळ, वर्ष १, अक ६, पृ० स० २६
५. जनमभोम, वर्ष १, अक १, पृ० स० १२
६. वही, वर्ष १, अंक २, पृ० स० २०
७ आकाशवाणी जयपुर द्वारा प्रसारित ।
८. मरवाणी, वर्ष १, अंक ३, पृ० स ४
९. जोगीदान कविया, मरवाणी, वर्ष १, अक १, पृ० सं० ३१
१०. मरवाणी वर्ष १, अंक ५, पृ० सं० ४६
११. वही, वर्ष १, अक ४, पृ० स० २४
१२. वही, वर्ष ३, अंक १, पृ० सं० २०
१३. वही, वर्ष ४, अंक ७, पृ० सं० ११
१४. वही, वर्ष ४, अक १२, पृ० सं० ३
१५. वही, वर्ष ५, अक १, पृ० स० ५

उपर्युक्त निबन्धों की अपेक्षा वे निबन्ध अधिक महत्वपूर्ण बन पड़े हैं, जिनमें कथंचित् गहराई और अपेक्षित विस्तार के साथ साहित्य के किसी पक्ष विशेष का उद्घाटन हुआ है। इस दृष्टि से 'ढोला मारू में मारवणी रो विरह,'[1] 'बरसा रुत रा लोक गीतां में सिणगार री रमझोळ,'[2] 'जैन गीतां री रसधार,'[3] 'समीक्षक टी० एस० इलियट'[4] एवं 'राजस्थानी रो वेलि साहित्य'[5] आदि निबन्ध उल्लेखनीय बन पड़े हैं। इन निबन्धों में भी परिचय देने का भाव प्रमुख रहा है, किन्तु ये निबन्ध सामान्य परिचयात्मक निबन्धों की अपेक्षा अधिक सरस एवं हृदयग्राही बन पड़े हैं। इस प्रकार के निबन्धों की एक सामान्य विशेषता यह रही है कि इनके लेखक हर दो चार पंक्तियों के पश्चात् अपने कथन की पुष्टि में सम्बन्धित साहित्य की पंक्तियाँ उद्धृत करते चले गये हैं। ऐसे निबन्धों में भी मौलिक चिन्तन या नवीन स्थापनाओं का अभाव ही रहा है।

सामान्य विचार-प्रधान निबन्धों की अपेक्षा वे निबन्ध अधिक प्रभावी सिद्ध हुए हैं, जहाँ लेखक के वैयक्तिक विचारों का समावेश प्रमुख रूप से हुआ है। ऐसे निबन्ध, जहाँ चिन्तन की गहनता और विचारों की प्रौढ़ता होती है, पाठक के मस्तिष्क को तद्विषयक समस्या पर सोचने को विवश करते हैं। हम ऐसे निबन्धों को विवेचनात्मक निबन्धों की श्रेणी में रख सकते हैं। ऐसे विचारपूर्ण निबन्धों की दृष्टि से राजस्थानी निबन्धों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम में साहित्यिक विषयों से सम्बन्धित निबन्ध रखे जा सकते हैं और द्वितीय में साहित्येतर अन्य समस्याओं से सम्बन्धित निबन्ध। द्वितीय प्रकार के निबन्धों में श्री शिवचन्द्र भरतिया की राजस्थानी कृतियों की भूमिकाएँ, श्री ब्रिजलाल बियाणी का 'लुगायां में दानधर्म',[6] 'धनुर्धारी' का 'पूंजी और स्वार्थी विद्वान',[7] '[illegible]' का 'धनवानां की लक्ष्मी'[8], श्री अनन्तलाल कोठारी का 'समाजोन्नति का मूलमंत्र,'[9] श्री मदनगोपाल शर्मा का 'मिनख जमारो,'[10] श्री रावत सारस्वत का 'थोथी बातां',[11] श्री सुमेरसिंह शेखावत का 'राजस्थान मर उग रो जीवण-दरसण'[12] आदि निबन्ध रखे जा सकते हैं। इनमें भी अन्तिम तीन निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

'मिनख जमारो' एक चिन्तन-प्रधान निबन्ध है, जिसमें लेखक ने जीवन की सार्थकता, जीवन का उद्देश्य और मानव की सफलता के सन्दर्भ में माया, मोह, मागणो (मंगन), चिन्तन और मूढ़ एवं

---

१. मरुवाणी, वर्ष १, अंक ६, पृ० सं० १६
२. वही, वर्ष १, अंक ३, पृ० सं० ५७
३. वही, वर्ष १, अंक १, पृ० सं० २०
४. ओळमों, फरवरी १९६७, पृ० सं० ७
५. आकाशवाणी, जयपुर द्वारा प्रसारित।
६. पंचराज, वर्ष ३, अंक ६, पृ० सं० १८२
७. वही, वर्ष २, अंक ४-५, पृ० सं० ११३
८. वही, वर्ष ४, अंक ८, पृ० सं० २८४
९. वही, वर्ष ५, अंक १२, पृ० सं० ३११
१०. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ० सं० २६
११. वही, पृ० सं० ६३
१२. वही, पृ० सं० ३५

चिन्तन-प्रधान विषयों पर बड़े ही रोचक ढंग से विद्वत्तापूर्ण एवं तर्कयुक्त विचार व्यक्त किये हैं। निबन्ध में एकरसता नहीं आ जाये इसलिए लेखक ने कहीं प्रश्नों की झड़ी लगाई है, तो कहीं कहानी-किस्सों का सहारा लिया है, कहीं अछूती उपमाओं का अम्बार खड़ा किया है, तो कहीं काव्यांशों का सहारा लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पाठक को विषय की गंभीरता के कारण ऊब से बचाने के लिए और निरन्तर उसके मन को 'विलमाये' रखने की दृष्टि से अपनी बात को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। श्री रावत सारस्वत का 'पोथी वालां' भी सशक्त विचारात्मक निबन्ध है। विचार ऐसे कि जिन्हें बड़े-बड़े पोथों को पढ़कर या महान उपदेशों को सुनकर ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु अनुभव की घाटियों से गुजर कर जिन्हें संचित किया गया है। विचार बोझिलता के कारण निबन्ध में कहीं-कहीं पाठक को नीरसता का अहसास होने लगता है, किन्तु अधिकांश में मन की एक के बाद एक उपटनी पर्तों को सत्य के साथ खोलकर रखने की स्थिति ने पाठक को ऊब का शिकार बनने से बचा लिया है। वैचारिक निबन्धों में श्री सुमेरसिंह शेखावत के 'राजस्थान अर उण रो जीवण-दरसण' का भी एक विशिष्ट स्थान है। गूढ़ विषय को सरलता से प्रस्तुत करने के लेखकीय कौशल के अतिरिक्त उसके मौलिक विचारों से भी पाठक काफी प्रभावित होता है। ओजपूर्ण शैली और वाक्य-वाक्य तथा शब्द-शब्द में झलकता 'राजस्थानीपन' भी निबन्ध की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। इस प्रकार संक्षेप में दिये गये इन निबन्धों का परिचय जहाँ एक ओर राजस्थानी वैचारिक निबन्धों के स्तर को स्पष्ट करता है वहाँ दूसरी ओर राजस्थानी गद्य की सक्षमता और प्रौढ़ता को भी संकेतित करता है। गंभीर-से-गंभीर विषय पर किये गये गूढ़-से-गूढ़ चिन्तन को व्यक्त करने की राजस्थानी गद्य की क्षमता इनसे भलीभांति प्रकट हो जाती है।

साहित्यिक विषयों को लेकर लिखे गये विवेचनात्मक निबन्धों में डा० मनोहर शर्मा का 'राजस्थानी साहित्य री एक झांकी'[1], श्री ओंकार पारीक का 'नुंई कविता रै गोखै सूं'[2], डा० गोवर्धन शर्मा का 'साहित अर उणरो भेद'[3] और कुंवर कृष्ण कल्ला का 'काव्य री परख'[4] उल्लेखनीय बन पड़े हैं। 'राजस्थानी साहित्य री एक झांकी' डा० मनोहर शर्मा का एक लम्बा निबन्ध है। इसमें डा० शर्मा ने सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। निबन्ध का विषय इतना व्यापक है कि उस पर स्वतंत्र रूप से एक ग्रन्थ लिखा जावे तो भी थोड़ा है। फलतः परिचय वृत्ति प्रमुख रही है और अपेक्षित गहनता कम आ पाई है, फिर भी राजस्थानी साहित्य से अनभिज्ञ पाठक को राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण उपलब्धि का सही-सही भान करवाने में प्रस्तुत निबन्ध अवश्य सफल होता है। डा० गोवर्धन शर्मा के 'साहित अर उणरो भेद' में लेखक ने अपने ढंग से साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने और उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। किन्तु साहित्य की सन्तुलित एवं स्पष्ट व्याख्या करने के लिए जिस बौद्धिक जागरूकता और चिन्तन पर नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, उस ओर डा० गोवर्द्धन शर्मा ने कम ध्यान दिया है। फलतः कई स्थलों पर लेखक भावनाओं के जोर में लिखा बह

---

१. ओळमो, जुलाई १९६७
२. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ० सं० ८९
३. वही, पृ० सं० १००
४. वही, पृ० सं० ७५

गया है कि बात स्पष्ट होने की अपेक्षा उलझ अधिक गई है। लेखक ने जिन शब्दों में साहित्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है, वहाँ ऐसा लगता है कि वह साहित्य को परिभाषित करने या उसके स्वरूप को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसका यशोगान कर रहा है। आगे जहाँ लेखक ने साहित्य के भेदों पर विचार किया है, वहाँ अवश्य ही लेखक ने अपनी स्थापनाएँ तर्क सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त निबन्धों की अपेक्षा कुंवर कृष्ण कल्ला का 'काव्य री परख' अधिक सशक्त बन पड़ा है। यद्यपि लेखक ने वैज्ञानिक ढंग से विषय के एक-एक पक्ष को लेकर क्रमशः सर्वपूर्ण विशद विवेचन नहीं किया है, किन्तु विषय के जिन पहलुओं को उसने छुआ है, उनमें वह पूरी तरह रम गया है। लेखक के प्रस्तुतीकरण का ढंग तो सर्वथा आकर्षक है ही, किन्तु साथ-ही-साथ उसके विचार भी बड़े सुलझे हुए हैं तथा भाषा पर उसका अच्छा अधिकार है। धाराप्रवाह-शैली, अछूती, ओपती और अनूठी उपमाएँ, चमत्कारी वक्र-उक्तियाँ इस निबन्ध की अपनी विशेषताएँ हैं। ये गिने-चुने निबन्ध स्वयं घोषित कर रहे हैं कि राजस्थानी में साहित्य के विविध पक्षों को लेकर गंभीर चिन्तन-प्रधान और विवेचनात्मक निबन्ध काफी कम लिखे गये हैं और जो भी लिखे गये हैं, उनमें प्रथम श्रेणी के निबन्ध तो और भी कम हैं।

साहित्यिक विषयों को लेकर लिखे गये निबन्धों के साथ उन भूमिकाओं (या सम्पादकीय) की चर्चा भी असंगत न होगी जो विशेष संकलनों के सम्पादकीय रूप में लिखी गयी हैं। इस दृष्टि से 'राजस्थानी एकांकी',[1] 'ओळमों' का कविता अंक,[2] 'आजरा कवि'[3], 'जलमभोम' के प्रतिनिधि कथाकार[4] एवं प्रतिनिधि कवि—अंक[5] तथा 'राजस्थानी एक'[6] विशेष उल्लेखनीय बन पड़े हैं। इनमें भी 'राजस्थानी एक' को छोड़कर अन्य कृतियों की भूमिकाओं में सम्बन्धित विधा का ऐतिहासिक विकास-क्रम एवं तत्सम्बन्धी परिचय देने की प्रवृत्ति ही प्रमुख रही है। 'राजस्थानी एक' में अवश्य ही विस्तार के साथ आधुनिक राजस्थानी काव्य-यात्रा पर एक आलोचक की दृष्टि से विचार हुआ है एवं साथ-ही-साथ राजस्थानी नयी कविता के सम्बन्ध में कुछ स्थापनाएँ भी की गयी हैं। वैसे यदि इन भूमिकाओं को स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत किया जाये तो ये समीक्षात्मक निबन्धों के अन्तर्गत आयेंगी।

हास्य और व्यंग्य-मूलक निबन्धों की दृष्टि से राजस्थानी का क्षेत्र काफी सूना-सूना-सा नजर आता है। वैसे श्री ब्रिजलाल बियाणी के निबन्धों में यत्र-तत्र व्यंग्य की मीठी चुटकी और हास्य के निर्मल

---

१. सं०—श्री गणपतिचन्द्र भण्डारी, प्र० का—१९५९ ई०

२. सं०—श्री किशोर कल्पनाकांत, प्र० का०—मई १९६७ ई०

३. सं०—श्री रावत सारस्वत, वेदव्यास, (भूमिका लेखक—श्री रावत सारस्वत) प्र० का०—१९६८ ई०

४. सं०—श्री मूलचंद 'प्राणेश', प्र० का०—वि० सं० २०२६

५. वही,

६. सं०—श्री तेजसिंह जोधा, प्र० का०—१९७१ ई०

छींटे बिखरे हुए मिलेंगे; किन्तु पूर्णतः हास्य या व्यंग्य-प्रधान निबंध लिखने में उस युग के लेखक बहुत कम प्रवृत्त हुए है। इस दृष्टि से श्री कावेरीकान्त का 'मांदगी मूं फायदा' प्रथम उल्लेखनीय निबन्ध है। यह एक विनोदपूर्ण लेख है। सामान्य प्रचलित बात से विपरीत बात इसमें पाठक के लिए काफी रोचक सामग्री उपस्थित कर देती है। पश्चात् व्यंग्यात्मक निबन्धों में उल्लेखनीय निबन्ध श्री 'धनुर्धारी' का 'बम म्हाने स्वराज्य होणो' है। इसमें लेखक ने बड़े सरस ढंग से अभिनय की सी भाव-भंगिमाएँ बनाते हुए तात्कालिक मारवाड़ी समाज के कर्णधारों की कायरता का अच्छा खासा मजाक उड़ाया है। सुधार के नाम पर बड़ी-बड़ी बातें बघारने वाले रायबहादुर और अन्य मोटे उपाधिधारी वहीं तक सुधारक हैं, जहाँ तक उन्हें सरकारी कोप का भाजन न बनना पड़े। अपने स्वार्थो पर कुठाराघात की बात से ही वे कितने घबरा जाते हैं इसका बड़ा मनोरंजक चित्र प्रस्तुत निबन्ध में खींचा गया है। पश्चात् काफी समय तक ऐसा सुन्दर परिहासपूर्ण निबन्ध राजस्थानी में देखने में नहीं आता है। इस दिशा में काफी अन्तराल के बाद डा० मनोहर शर्मा, श्री कृष्णगोपाल शर्मा, श्री मिश्रीमल जैन तरंगित, श्रीलाल नथमल जोशी प्रभृति लेखक प्रवृत्त हुए। डा० शर्मा ने अधिकांशतः कथात्मक व्यंग्य निबन्ध लिखे हैं। उनके व्यंग्यात्मक निबन्धों में 'रोहीड़ै रा फूल'[1], 'नौकरां रो कारखानों'[2] आदि प्रमुख हैं। इनमें मुख्यतः आज की भ्रष्ट स्थिति पर तीखा व्यंग्य हुआ है। श्री कृष्णगोपाल शर्मा मन की मौज में लिखने वाले निबन्धकार हैं। बात को बड़े आत्मीय लहजे में प्रस्तुत करते हुए पाठक के साथ सहज ही आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेना इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इनके 'ग्रेनक'[3], 'चोंठो'[4], 'आरज्-पुराण'[5] आदि काफी सरस निबन्ध हैं। 'ग्रेनक' में सामयिक परिस्थितियों पर की गई तीखी चोट और ली गई मीठी चुटकियां बरबस पाठक के होंठों पर मुस्कान बिखेर देती है। इस दृष्टि से कुछ अन्य उल्लेखनीय निबन्धों में प्रमुख हैं—श्री मिश्रीमल जैन 'तरंगित' का 'आपां काईं खावां हां'[6] और श्री श्रीलाल नथमल जोशी का 'साच बोल्यां किया पार पड़ै'[7]।

भावपूर्ण शैली में ललित-निबन्ध लिखने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास श्री ब्रिजलाल बियाणी द्वारा हुआ। कल्पना-प्रधान, कवित्वमयी शैली एवं वैयक्तिक निबन्धों की दृष्टि से राजस्थानी का आधुनिक साहित्य अपेक्षाकृत समृद्ध कहा जा सकता है। राजस्थानी के ललित निबन्धों में कल्पना के घोड़ों को स्वच्छन्द विचरण करते हुए तो सर्वत्र देखा जा सकता है, किन्तु विचरण की दिशाएँ उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित कर देती हैं। एक ओर ऐसे निबन्ध हैं, जहाँ विचारों का अश्व धरा को छोड़ कल्पना के सुनहरे गगन-क्षेत्र में मुक्त विचरण करता है, तो दूसरी ओर धरा के यथार्थ क्षेत्र में ही, वह मन की मौज में स्वच्छन्द विचरता चलता है। प्रथम प्रकार के निबन्ध लेखकों में श्री ब्रिजलाल बियाणी और श्री गिरिराज 'भवर' के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री ब्रिजलाल बियाणी का ध्यान ऐसे निबन्धों के ब्याज से अपने

१. मरुवाणी, वर्ष ७, अंक ५, पृ० सं० १७
२. जलमभोम, वर्ष १, अंक ५–६, पृ० सं० १८
३. ओळमों, फरवरी १९६४, पृ० सं० २२
४. वही, अक्टूबर १९६४, पृ० सं० ३६
५. ओळमों, जुलाई १९६८, पृ० सं० २२
६. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ० सं० ४६
७. वही, पृ० सं० ५

समय की किसी एक ज्वलन्त समस्या की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करने में प्रमुख रूप से रहा है एवं श्री गिरिराज 'भंवर' समस्याओं से सर्वथा परे हट कर कुछ रम्य चित्र अंकित करने में अधिक तत्पर रहे हैं। वैसे दोनों ही निबन्धकारों के निबन्धों में प्रकृति के आकर्षक चित्र देखने को मिलते हैं। श्री वियोगी के 'मोगरा कली', 'बड़ी फजर को दीवो', 'मारवाड़ी बोली' आदि कथात्मक निबन्ध सम्बोधन एवं आत्मनिवेदनात्मक शैली में लिखे गये हैं। इन निबन्धों में लेखक स्वयं श्रोता का स्थान ग्रहण करता है। इन निबन्धों की शैली बड़ी भावपूर्ण और कल्पना-प्रधान है। निबन्ध में काव्यात्मक स्थलों के वर्णन के समय भाषा सहज रूप से संस्कृतनिष्ठ हो गई है। अछूती उपमाएँ और अनूठी कल्पनाएँ सहृदय के हृदय में गुदगुदी पैदा किये बिना नहीं रहती। पाठक लेखक की नवीन सूझ-बूझ से सहज ही चमत्कृत हो जाता है। अस्ताचलगामी सूर्य का मुख इसलिए आरक्त हो रहा है कि दिन भर की कड़ी मेहनत के पश्चात् भी उसे अपनी मजदूरी (पगार) नहीं मिली है। ऐसी स्थिति में उसका क्रोधित होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार वियोगी जी के निबन्धों में यत्र-तत्र फैली नवीन एवं सरल उद्भावनाएँ निबन्ध को अत्यन्त सरस बना देती हैं।

श्री गिरिराज 'भंवर' के निबन्ध अपने आप में बोलते शब्द-चित्र हैं। चिन्तन का एक झीना तन्तु इन विविध चित्रों को एक साथ पिरोए रखता है। प्रकृति के नाना रूपों को एवं जिन्दगानी के पल-पल बदलते चित्र को देखने को तो, हम-आप-वे सभी देखते हैं किन्तु एक साधारण व्यक्ति के देखने और एक कलाकार की सूक्ष्म अन्तर्भेदी दृष्टि के देखने में जो अन्तर होता है, उसका स्पष्ट अहसास श्री गिरिराज 'भंवर' के निबन्धों को पढ़ने के पश्चात् भलीभांति हो जाता है। उनका निबन्ध 'पणघट री सांझ'[1] पाठक को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' का स्मरण करवा देता है। श्री गिरधरदान बारहठ का 'बिरहण-बिरखा'[2] और श्री मांगीलाल शर्मा का 'गाडिया लुहार'[3] भी इस दृष्टि से पठनीय है।

ये निबन्ध, जहाँ निबन्धकार अधिकांश में कल्पनाओं के रंगीन जाल बुनने में निमग्न रहता है, से भिन्न किसी एक विचार-बिन्दु को लेकर जहाँ निबन्धकार आगे बढ़ता है और कल्पना की रम्य घाटियों को छोड़, विचारों के बीहड़ जंगल में किसी एक विचार पगडण्डी पर संचरण करते हुए भी प्रकृति की मोहक छटा से आकर्षित मनस्तत्व मन की मौज में भटक कर पुनः उसी पगडण्डी पर आ जाते हैं, वैयक्तिक निबन्धों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। राजस्थानी में वैयक्तिक निबन्धकार के रूप में श्री कृष्णगोपाल शर्मा का नाम अग्रगण्य है। वैसे तो अन्यान्य वैचारिक निबन्ध-लेखकों में भी इन उनके व्यक्तित्व की हल्की छाप को देख सकते हैं, किन्तु उनके विचार मौलिक चिन्तन से प्रेरित होने की अपेक्षा अध्ययन और मनन से अधिक प्रभावित है। श्री कृष्णगोपाल शर्मा के निबन्ध विचार के लिए विचार या एक प्रबुद्ध नागरिक होने के नाते सामयिक समस्याओं पर अपने विचार प्रकट कर अपनी जागरूकता प्रकट करने की दृष्टि से नहीं लिखे गये हैं, अपितु सामाजिक विसंगतियों से क्षुब्ध मन की तीव्र प्रतिक्रिया की

---

1. राजस्थानी निबन्ध संग्रह, पृ० सं० ४५
2. ओळमों, अगस्त १९६७, पृ० सं० ८
3. मरुवाणी, वर्ष ९, अंक १०-११, पृ० सं० १६

व्यक्त करने की दृष्टि से लिखे गये हैं। उनका 'ग्रै उतरयोडा घड़ा'[1] एक ऐसा ही सशक्त निबन्ध है। इसमें समाज के कुछ उपेक्षित वर्गों का दयनीय चित्र खींच कर सामान्य जन का ध्यान इस ग्रोर ग्राकर्षित करने का प्रयास हुग्रा है। इन उपेक्षितों की कष्टपूर्ण स्थिति से ग्राहत कवि-हृदय से जो करुणा के स्वर फूटे हैं, उन्हें उसने वक्र-उक्तियों के सहारे व्यक्त किया है। यहां लेखनी बुद्धि के ग्राग्रह पर नहीं ग्रपितु हृदय की ग्रपील पर ग्रागे बढी है। फलतः निबन्ध मे व्यक्त विचार सीधे पाठक के हृदय पर चोट करते हैं।

समग्र रूप से विचार करते हैं, तो पाते हैं कि राजस्थानी मे वर्णन-प्रधान परिचयात्मक निबन्धों का ही प्राधान्य रहा है। चाहे उनका विषय साहित्यिक रहा हो या कि सांस्कृतिक या फिर सामाजिक, उन सबमें अधिकांशत. लेखक का ध्यान परिचय पर ही ग्रधिक रहा है। फलतः वे न तो पाठकों की स्मृति-पटल पर ग्रपना कोई स्थायी प्रभाव ही छोड़ पाने में सफल हुए है ग्रौर न ही साहित्यिक जगत् में ग्रपना कोई स्थायी स्थान ही बना सके हैं। ऐसे वर्णनात्मक निबन्धो की ग्रपेक्षा संख्या मे सीमित होते हुए भी विवेचनात्मक निबन्ध अधिक प्रभावी बन पड़े हैं, किन्तु हिन्दी की तुलना मे राजस्थानी के विवेचनात्मक निबन्ध कहीं नही ठहर पाते, यह तो स्वीकार करना ही होगा। यही स्थिति भाव-प्रधान ललित निबन्धो की रही है, इस क्षेत्र मे भी दो चार निबन्धों के ग्रतिरिक्त ग्रन्य कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नही रही है। हास्य एवं व्यग्य-प्रधान निबन्धों की संख्या तो ग्रौर भी कम है। इस प्रकार विवेचनात्मक, समीक्षात्मक, वैचारिक, वैयक्तिक, ललित एवं हास्य-व्यंग्य-प्रधान निबन्धों के क्षेत्र मे राजस्थानी निबन्धों की ग्रपुष्ट स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि ग्राधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य की सार्वधिक उपेक्षित विधा ही निबन्ध रहा है। इसका कारण राजस्थानी गद्य में प्रौढ़ता एवं सक्षमता का ग्रभाव नही ग्रपितु लेखकों का निबन्ध-लेखन के प्रति उदासीनता का भाव ही रहा है।

१. म्रोळमो, नवम्बर १९६४ ई०, पृ० सं० २१

रेखाचित्र एवं संस्मरण

अंग्रेजी 'स्केच' के लिये हिन्दी और राजस्थानी में 'रेखाचित्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। वैसे इसका समानार्थक शब्द 'शब्दचित्र' भी यहाँ सामान्यतः से व्यवहृत होता रहा है। "रेखाचित्र किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भाव का कम-से-कम शब्दों में मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण एवं सजीव अंकन है। रेखाचित्र पूर्ण चित्र नहीं है—वह व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि का एक निश्चित दृष्टि से प्रस्तुत किया गया प्रतिबिम्ब है, जिसमें विवरण की न्यूनता के साथ-साथ तीव्र संवेदनशीलता वर्तमान रहती है।[1]"

राजस्थानी रेखाचित्र का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। ई० सन् १९४६-४७ के लगभग राजस्थानी में रेखाचित्र लिखे जाने लगे हैं। अद्यावधि प्राप्त जानकारी के अनुसार श्री भंवरलाल नाहटा का 'लाभू बावो'[2] राजस्थानी का प्रथम संस्मरणात्मक रेखाचित्र है। इसी अवधि में राजस्थानी के क्षेत्र में दो अन्य रेखाचित्रकारों ने प्रवेश किया। ये हैं—श्री मुरलीधर व्यास और श्रीलाल नथमल जोशी। श्रीलाल नथमल जोशी का प्रथम रेखाचित्र 'फरामस' ई० सन् १९४६ में जोधपुर से प्रकाशित होने वाले 'मारवाड़ी' पत्र में छपा था। तबसे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनके अनेक रेखाचित्र प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें कतिपय 'सबड़का'[3] नाम से पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। इसी अवधि में श्री मुरलीधर व्यास के संस्मरणात्मक रेखाचित्र भी 'राजस्थान-भारती,' 'मरुवाणी' आदि पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आने लगे। इनका और श्री मोहनलाल पुरोहित *का संयुक्त रूप से लिखित 'जूना जीवता चितराम' नामक संस्मरण एवं रेखाचित्र संग्रह भी १९५५ ई०* में साहित्य अकादमी (संगम) उदयपुर, से प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकार ई० सन् १९४६-४७ से ही राजस्थानी में इस नवीन विधा का सूत्रपात हो गया। वैसे तो विगत २३-२४ वर्षों से छुटपुट रूप से कई लेखकों के रेखाचित्र और संस्मरण राजस्थानी में प्रकाशित हुए हैं, किन्तु इनमें सर्वाधिक चर्चित रहे हैं—श्रीलाल नथमल जोशी, श्री मुरलीधर व्यास, श्री मोहनलाल पुरोहित, श्री शिवराज छंगाणी एवं श्री भंवरलाल नाहटा। इनके अतिरिक्त श्री दाऊदयाल जोशी, प्रो० नेमनारायण जोशी, श्री सूर्यशंकर पारीक एवं श्री विश्वेश्वरप्रसाद के भी सरस एवं प्रभावी रेखाचित्र समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं।

राजस्थानी के ये रेखाचित्र मुख्यतः चरित्र-प्रधान हैं। अपने घनिष्ठ सम्पर्क में आये हुए अथवा आसपास के वातावरण में विचरते हुए व्यक्तियों को ही, किसी विशिष्टता के कारण, लेखकों ने अपने रेखाचित्रों व संस्मरणों का आधार बनाया है। वैसे, मानव-चरित्र अनेक गुत्थियों का भण्डार है और

---

१. हिन्दी साहित्यकोश (भाग १), सम्पादक–डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० सं० ७२१

२. राजस्थानी (१), सं०-श्री नरोत्तमदास स्वामी, पृ० सं० ८६

३. प्रकाशक–राजस्थानी साहित्य परिषद् कलकत्ता, १९६० ई०

उसके विभिन्न पहलुओं को प्रमुखता देते हुए उसका नाना रूपों में अंकन किया जा सकता है, किन्तु राजस्थानी रेखाचित्रकार जिन परिस्थितियों के कारण प्रभावित हुए हैं, उनके आधार पर हम राजस्थानी के इन रेखाचित्रों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) श्रद्धा-स्नेह समन्वित रेखाचित्र
(२) संवेदनात्मक रेखाचित्र
(३) तथ्यात्मक रेखाचित्र ।

श्रद्धा-स्नेह समन्वित रेखाचित्रों में वे रेखाचित्र आते हैं जिनमें लेखक किसी चरित्र के विशिष्ट गुणों से श्रद्धाभिभूत हो उनके जीवन का अंकन करते हैं । यहां वह पूज्य-बुद्धि से प्रेरित रहता है । ऐसे चित्रों में लेखक प्रस्तुत पात्र के केवल उन्हीं गुणों का चित्रण करता है जिनसे वह प्रभावित हुआ है और जिनके कारण उस पात्र विशेष के प्रति उसके मन में श्रद्धा या स्नेह की भावना उमड़ी है । ऐसे रेखा-चित्रों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसके पात्र समाज के विशिष्ट व्यक्ति ही रहे हों, क्योंकि बहुधा सामान्य व्यक्तियों के जीवन की किसी विशेषता के भी हम प्रशंसक हो जाते हैं और मन-ही-मन वहां एक आदर का हल्का-सा भाव भी हम उनके प्रति रखते हैं । ऐसे श्रद्धा-स्नेह समन्वित भाव से लिखे गये रेखा-चित्रों में श्रीलाल नथमल जोशी के 'मांसा',[1] 'इन्द्रा',[2] श्री भंवरलाल नाहटा के 'सरगवासी ओझाजी',[3] 'पंडित केसरी प्रसाद जी',[4] 'प्रेमसुखजी नाहर'[5] आदि उल्लेखनीय हैं ।

संवेदनात्मक रेखाचित्रों में वे रेखाचित्र आते हैं, जहां लेखक प्रस्तुत पात्र के जीवन की विवशताओं से द्रवित होकर लेखनी उठाने को प्रेरित हुआ हो । संवेदनात्मक रेखाचित्रों की दृष्टि से श्री मुरलीधर व्यास एवं श्री मोहनलाल पुरोहित का स्थान सर्वोपरि है । 'जूना जीवता चित्राम' में संगृहीत इनके अधिकांश रेखाचित्र इसी प्रकार के हैं । लेखक द्वय अपने जीवन की लम्बी यात्रा में अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आये, जिनमें कुछ पात्रों की सरलता, विवशता एवं दयनीयता ने इनकी हृत्तंत्री को झंकृत किया । इन रेखाचित्रों में जहां एक ओर प्रस्तुत पात्रों का कठोर, श्रमयुक्त, सरस एवं सात्विक जीवन, लेखकीय स्नेह का पात्र बना, वहां समाज द्वारा उनकी उपेक्षित एवं दयनीय स्थिति लेखकीय सहानुभूति एवं करुणा का आधार बनी । इस कोटि के रेखाचित्रों में 'रामलो भंगी',[6] 'नन्दो मोद',[7] 'मनजी मचकांवाळो',[8] 'भीखो भेटियारो',[9] 'सुगनो बही भाट'[10] आदि मुख्य हैं । श्री शिवराज छंगाणी के

१. सवड़का, पृ०सं० १४१
२. वही, पृ०सं० १३२
३. वानगी, पृ० सं० १
४. वही, पृ०सं० ४
५. वही, पृ०सं० १५
६. जूना जीवता चित्राम : श्री मुरलीधर व्यास, श्री मोहनलाल पुरोहित, पृ०सं० २६
७. वही, पृ०सं० ६१
८. वही, पृ०सं० ६८
९. वही, पृ०सं० १७
१०. वही, पृ०सं० १४

'उणियारा'[1] में संगृहीत 'पूरणियों भंगी' (पृ० २३), 'लाम्पियो संती' (पृ० २८), 'गरीबदासजी' (पृ० ३७), 'बछीमानो' (पृ० ५६) आदि रेखाचित्र भी इसी श्रेणी के हैं।

'जूना जीवता चित्राम' में संगृहीत अधिकांश रेखाचित्रों में श्री मुरलीधर व्यास एवं श्री मोहनलाल पुरोहित ने सामान्यतः समाज के उपेक्षित पात्रों की जीवनचर्या का एक हल्का सा 'स्केच' खींच कर उनके प्रति पाठकों की सहानुभूति बटोरने का प्रयास तो किया है, पर वे स्वयं अपने ऊंचे आसन से नीचे उतरकर उनसे गले मिलने को उत्सुक नजर नहीं आते। फलतः यहां उपेक्षितों के प्रति करुणा का भाव प्रमुख हो उठा है। महादेवी वर्मा के समान अपने पात्रों के साथ एकरस होने का भाव यहां परिलक्षित नहीं होता। इसीलिए ये रेखाचित्र इतने भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी नहीं बन सके हैं, जितने कि महादेवी के रेखाचित्र हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि राजस्थानी रेखाचित्रकार महादेवी की तरह कवि नहीं है। इस दृष्टि से श्रीलाल नथमल जोशी का 'पड़ी मापनी'[2] पाठक की हृत्तंत्री के कोमल तारों को झंकृत करने में अधिक सफल हुआ है। अपनी भावपूर्ण शैली के कारण इसे भावात्मक रेखाचित्र की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

तथ्यात्मक रेखाचित्रों में स्थिति के यथातथ्य चित्रण की ओर लेखक की दृष्टि प्रमुख रूप से लगी रहती है। यथासंभव वह तटस्थ रूप से प्रस्तुत पात्र के जीवन पर प्रकाश डालता चलता है। इस प्रकार के रेखाचित्रों में लेखक अपनी भावनाओं पर पर्याप्त नियन्त्रण रखने का प्रयास करता है। श्री मुरलीधर व्यास के 'कायली नसीरुद्दीन',[3] 'बीजो माली',[4] 'सिणगारी मैसण'[5], 'श्री गोपाल ओझा',[6] 'सिरदार रंगारो'[7] आदि रेखाचित्र इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इनमें लेखक ने यथासंभव तटस्थ रहकर पात्र विशेष के गुणावगुणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इस प्रकार के तथ्यात्मक रेखाचित्रों में श्री भंवरलाल नाहटा अधिक सफल हुए हैं। उनके 'गान्धाम सरकार'[8], 'मन्नू सेठ'[9] आदि रेखाचित्रों में सर्वथा तटस्थ होकर स्थिति के यथातथ्य चित्रण की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से लक्षित होती है।

चरित्र-चित्रण के समान ही राजस्थानी रेखाचित्रों में हास्य एवं व्यंग्य की प्रवृत्ति भी समान रूप से मुखर रही है। श्रीलाल नथमल जोशी, श्री दाऊदयाल जोशी, श्री मूलशंकर पारीक, श्री विश्वेश्वर प्रसाद तिवारी प्रभृति लेखकों के अधिकांश रेखाचित्र हास्य-व्यंग्य प्रधान रहे हैं। इन हास्य-व्यंग्य प्रधान रेखाचित्रों के पीछे मूलतः इनमें वर्णित पात्रों का अटपटा आचरण ही इनके लेखन का प्रेरणा-स्रोत रहा है। स्वयं लेखकों की, ऐसे पात्रों या परिस्थितियों में विशेष रस लेने की आदत भी इनके सृजन का एक

---

१. प्र०—कल्पना प्रकाशन, बीकानेर (१९७० ई०)
२. सबड़का, पृ० सं० २०३
३. जूना जीवता चित्राम, पृ० सं० २०
४. वही, पृ० सं० ७६
५. वही, पृ० सं० ७८
६. वही, पृ० सं० ३६
७. वही, पृ० सं० ३६
८. मानखो, पृ० सं० १४
९. वही, पृ० सं० १३

प्रमुख कारण कही जा सकती है। साथ-ही-साथ कुछ विचित्र, कुछ विलक्षण या सामान्य से विपरीत एवं भिन्न स्थितियों का चित्रण कर पाठकों के मन में गुदगुदी पैदा करने का लेखकीय दृष्टिकोण भी इसके पीछे प्रेरक कारण रहा है। श्रीलाल नथमल जोशी के 'हरियो,'[1] 'रमतियो',[2] श्री सूर्यशंकर पारीक के 'फगडळ'[3] एवं श्री दाऊदयाल जोशी के 'लोग कँवे कमावे कोनी करां कमावा वीरा'[4] आदि को उदाहरण स्वरूप पेश किया जा सकता है।

श्रीलाल नथमल जोशी के हास्य-प्रधान रेखाचित्रों का आलम्बन कोई ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र अथवा कोई असामान्य घटना नहीं रही है, अपितु वर्तमान जीवन में सचरण करने वाले कुछ व्यक्तिनुमा 'प्राणी' ही यहाँ हास्य के प्रमुख आलम्बन बने हैं। यहाँ भी उनकी शारीरिक बेडोलता या कुरूपता का भौंडा चित्र खींचकर हँसाने का प्रयास नहीं हुआ है, वरन् उनके कार्यकलापों का वर्णन ही कुछ इस विशिष्टता से हुआ है कि पाठक हँसे बिना रह नहीं सकता। विशेष रूप से ऐसे पात्रों की मूर्खतापूर्ण बातें या कथनी से सर्वथा विपरीत उनका आचरण, हँसी के लिये कच्चामाल उपलब्ध करते हैं, फिर लेखक अपनी सरस शैली की रासायनिक प्रक्रिया द्वारा इस कच्चे माल को 'ए ग्राड' शिष्ट हास्य में परिणत कर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। श्रीलाल नथमल जोशी की तरह ही श्री सूर्यशंकर पारीक भी कुछ 'उद्बुदे' प्राणियों के विचित्र कार्यों और असम्बद्ध बातों का ऐसा चित्र खींचते हैं कि सहज रूप से हास्य की सृष्टि हो जाती है। श्रीलाल नथमल जोशी में हास्य के साथ कहीं-कहीं व्यंग्य के तीखे स्वर भी उभरते हुए स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। उन्होंने कहीं-कहीं एक-आध पंक्ति में ही, ऐसी तीखी चोट की है जिससे प्रस्तुत पात्र के चरित्र का एक ऐसा पहलू उभर कर सामने आ गया जिसके लिए सामान्यतः कई पंक्तियों या एक छोटी-मोटी घटना की आवश्यकता होती। 'गुनदर्शगन' के स्वभाव का वर्णन करते समय लिखी गयी प्रस्तुत पंक्ति—"सांधै ऊपर गमछो, जिको जूता अर मूंढो दोनूं पूंछण नै आडो आवै,"[5] इसका अच्छा उदाहरण है।

श्री दाऊदयाल जोशी के रेखाचित्र हास्य की अपेक्षा व्यंग्य-प्रधान हैं। इनका आग्रह किसी व्यक्ति विशेष के 'उद्बुदेपन' के अंकन की ओर न होकर, किसी एक स्थिति या प्रसंग को व्यंग्यात्मक लहजे में प्रस्तुत करने की ओर प्रमुख रूप से रहा है। इनका 'लोग कँवे कमावे कोनी करां कमावां वीरा' एवं 'भैसो होय नै मिनख री बोली बोले'[6] आदि ऐसे ही व्यंग्य-प्रधान रेखाचित्र हैं। हास्य-व्यंग्य प्रधान रेखाचित्रों की दृष्टि से श्री विश्वेश्वर प्रसाद नियाड़ी का 'आ भाटा पै महल चिणसी'[7] नामक रेखाचित्र

---

१. सयड़का, पृ० सं० १६०

२. वही, पृ० सं० ३०

३. ओळमों, फरवरी १९६४, पृ० सं० २६

४. मरवाणी, वर्ष १, अंक ६, पृ० सं० १४

५. सयड़का, पृ० सं० ३७

६. ओळमों, मार्च, १९६४, पृ०सं० २५

७. मरवाणी, वर्ष २, अंक १, पृ० सं० ५

भी उल्लेखनीय बन पड़ा है। इसमें आज के विद्यार्थी जीवन पर तीखा व्यंग्य किया गया है। राजस्थानी के अन्य उल्लेखनीय व्यंग्य-प्रधान रेखाचित्र है—'मजबधर रा बूटेदार',[1] 'भागचन्द',[2] 'गोवण भाभी',[3] 'लैरी',[4] 'लाधू',[5] 'पीटी पकड़'[6] आदि।

शैली की दृष्टि से राजस्थानी रेखाचित्र कथात्मक, वर्णनात्मक, संवादात्मक एवं सम्बोधनात्मक शैली में ही विशेष रूप से लिखे गये हैं। इनमें भी प्रथम दो शैलियों की ही प्रधानता रही है।

कथा की तरह अपनी बात को सरस और रोचक बनाकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति तथा किसी पात्र की चारित्रिक विशेषताओं को उभारकर प्रकट करने की वृत्ति के कारण रेखाचित्रकार कथात्मक शैली को ही विशेष रूप से अपनाता है। वैसे भी कहानी और रेखाचित्र का काफी निकट का सम्बन्ध रहा है। पढ़ने में कहानी जैसा ही आनन्द प्रदान करने वाले कुछ बड़े सरस रेखाचित्र राजस्थानी में लिखे गये हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं—श्री नेमनारायण जोशी कृत 'कूदणा बाबो',[7] श्रीलाल नथमल जोशी कृत 'गुनछरांमल', 'फर्रांमल'[8] आदि। इन रेखाचित्रों में कुछ घटनाओं का प्रस्तुतीकरण इस कथात्मक ढंग से हुआ है कि उससे पात्र के किसी अभीष्ट पहलू पर तो प्रकाश पड़ता ही है, पर साथ-साथ पाठक के लिये मनोरंजन की अच्छी सामग्री भी प्रस्तुत हो जाती है। बीच-बीच में दी गई लेखकीय प्रतिक्रियाएं एकतानता को भंग करने के साथ-साथ पात्र विशेष की किसी-न-किसी चारित्रगत विशेषता को भी उद्घाटित करती चलती है।

कथात्मक शैली के ही एक अन्य भेद के रूप में हम आत्मकथात्मक शैली को मान सकते हैं। इसके अन्तर्गत पात्र स्वयं ही आत्मकथा के रूप में अपने जीवन की किसी घटना विशेष या या अपनी जीवनचर्या का इस रोचकता के साथ वर्णन करता है कि पाठक की आँखों के आगे पूरी की पूरी घटना एक चित्र के रूप में अंकित हो जाती है। इस शैली में लिखे गये रेखाचित्रों में श्री दाऊदयाल जोशी का 'लोग कैवे कमावै पोती करां कमाया चोरा' एवं श्री विश्वेश्वरप्रसाद तिवाड़ी का 'मा भाटो रै मैल धिराणी' उल्लेखनीय है।

कथात्मक एवं आत्मकथात्मक शैली के अतिरिक्त राजस्थानी रेखाचित्रकारों ने वर्णनात्मक शैली को ही विशेष रूप से अपनाया है। इसके अन्तर्गत लेखक अभीप्सित पात्र या घटना का स्वयं ही वर्णन करता चलता है। श्री मुरलीधर व्यास और श्री मोहनलाल पुरोहित ने विशेष रूप से इसी शैली को अपनाया है। इनके अधिकांश रेखाचित्रों में प्रस्तुत पात्र की जीवनचर्या का वर्णन होता है। जहाँ-जहाँ

---

१. बानगी, पृ०सं० २५
२. सबड़का, पृ०सं० १८१
३. वही, पृ०सं० १७८
४. वही, पृ०सं० १६८
५. वही, पृ०सं० १५०
६. उजियारा, पृ०सं० १५
७. ओळमो, दीपावली १९६३, पृ०सं० ३१.
८. सबड़का, पृ०सं० २२

बीच-बीच में हर तीन-चार पंक्तियों के पश्चात् लेखक उन पंक्तियों से ध्वनित होने वाले पात्र के गुण का उल्लेख करते चलते हैं। इनके 'मोळो मड़ा नारायणियो',[1] 'हुसेन्नो गूजर',[2] 'मुखो बारीदार,'[3] 'रमजान न्यारियो',[4] 'रामलो भंगी',[5] 'भीलियो गवास'[6] आदि अधिकांश रेखाचित्रों में इसी शैली को अपनाया गया है।

श्रीलाल नथमल जोशी ने भी यत्र-तत्र वर्णनात्मक शैली को अपनाया है, किन्तु इनके प्रस्तुतीकरण का ढंग व्यास जी से सर्वथा भिन्न है। कहीं-कहीं तो ये अपनी बात इस प्रकार रखते हैं मानो पाठक उनके सामने खड़ा है और ये सीधे पाठक से सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। 'फदड़ पच' में उनका यह कथन—"इणारी जे आपनै टा पड़ जावै तो हूँ होड करण ने त्यार हूँ"[7], और 'रंडवो' की यह पंक्ति—"जे बदाम कोई चोखो टाबर आपरे ध्यान में आवे तो, झटपट चिट्ठी पत्तरो लिख दिया, हजार पाच सौ आपनै भी मिल जासी",[8] इस कथन की पुष्टि करते हैं। श्री व्यास और श्रीलाल नथमल जोशी की तरह भवरलाल नाहटा ने भी अधिकांश रेखाचित्र वर्णनात्मक शैली में ही लिखे हैं, यथा—'रावतियो नाई,'[9] 'लाभू बाबो,' 'गाल्हराम सरकार' आदि।

पात्रों के परस्पर के वार्तालाप के माध्यम से भी कोई अच्छा-सा शब्द-चित्र खड़ा किया जा सकता है। इस प्रकार के शब्द-चित्र, शैली की दृष्टि से संवादात्मक रेखाचित्रों की श्रेणी में आते हैं। श्री व्यास और श्री श्रीलाल नथमल जोशी दोनों ने अपने रेखाचित्रों में इस शैली का प्रयोग यत्र-तत्र किया है। इस दृष्टि से श्री व्यास के 'मीतरी मालण'[10], 'मघो फेरीवाळो'[11] एवं श्रीलाल नथमल जोशी के 'फर्रामन', 'हरियो', 'रमतियो' आदि रेखाचित्र उल्लेखनीय हैं।

श्री जोशी के उपर्युक्त रेखाचित्रों में तो अधिकांशतः संवाद शैली का ही सहारा लिया गया है। उनमें प्रारम्भ या बीच में बहुत कम स्थलों पर वर्णनों का सहारा लिया गया है। संवाद शैली में लिखे गये रेखाचित्रों में रेखाचित्रकार का उद्देश्य वार्तालाप के माध्यम से ही अपने पात्र की विशेषताओं और उसके स्वभाव का अंकन करना होता है। ये संवाद ही अपने पात्र की चारित्रिक रेखाओं को अंकित करते चलते हैं। आद्यान्त संवाद शैली में लिखा गया रेखाचित्र तो राजस्थानी में नहीं मिलता, परन्तु प्रारम्भ से

---

१. जूना जीवता चितराम, पृ० १.
२. वही, पृ०सं० ४
३ वही, पृ०सं० ८
४. वही, पृ० सं० ११
५. वही, पृ०सं० २६
६. वही, पृ०सं० ४६
७. सबड़का, पृ०सं० ८६
८. वही, पृ०सं० ६३
९. बानगी, पृ०सं० १०
१०. जूना जीवता चितराम, पृ० सं० ५८
११. वही, पृ०सं० ४६

लेकर अन्त से कुछ पूर्व तक, संवादों के माध्यम से ही अपने पात्र के स्वरूप की एक-एक रेखा खींचते हुए उसके चरित्र को उभारने का प्रयास श्रीलाल नथमल जोशी के 'जंवरोजो'[1] में हुआ है।

सम्बोधनात्मक शैली में लिखा गया राजस्थानी का उल्लेखनीय रेखाचित्र है—श्रीलाल नथमल जोशी का 'पड़ौ मायलो'[2]। यह एक भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी रेखाचित्र है। लेखक ने दिल्ली के किसी फुटपाथ पर एक सलौने नयनों वाली, कृशकाय, श्यामवर्णा भिखारिन को देखा था। उसके व्यक्तित्व में एक ऐसा आकर्षण था कि लेखक उसके जीवन के अज्ञात रहस्यों को जानने के लिए ही पुनः दिल्ली जाता है, किन्तु वहाँ उसे न पाकर वह उसे सम्बोधित करता हुआ उसके कल्पित मधुर जीवन एवं व्यथाओं से दारुण बने वर्तमान जीवन का बड़ा मर्मस्पर्शी एवं सजीव चित्र खींचता है। लेखक ने प्रस्तुत रेखाचित्र का प्रारम्भ ही उस अज्ञात रहस्यमयी भिखारिन को सम्बोधित करते हुए, इन मार्मिक शब्दों में किया है—"कुण जाणै तैं आंख्या फाड़तै सावन री गोद आय'र हरो भरो करो ? कुण जाणै थूं भादवै री दूधां भरी छाती सूं पड़ी पलक माथ अळगी नहीं हुई ?' कुण जाणै जे तूं सात बीरां री मोनल बाई होती।

कुण जाणै हरख कोड सूं गाजे-बाजे सूं थारो ब्याव हुयो तो ? कुण जाणै 'इतरो गमछो रो लाड़ छोड़'र बाई सिध चाली ए। लेग्यो टोळी माय सूं टाळ कोयलड़ी हद बोली ए,' गावतै-गावतै माँ रो गळो भरीज्यो हुवै अर बीं गीत नैं अध-बीच में छोड़ दियो हुवै तो ?"[3]।

उपर्युक्त विवेचन से राजस्थानी रेखाचित्रों के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें उभर कर सामने आती हैं। प्रथम तो यह कि राजस्थानी रेखाचित्रों में केवल वर्तमान समय के व्यक्तियों को ही साकार बनाया गया है, किसी ऐतिहासिक पात्र या घटनाक्रम, किसी प्राकृतिक दृश्य या मनोवृत्ति विशेष को प्रधानता देकर उस ओर प्रवृत्त होने में राजस्थानी रेखाचित्रकारों ने सामान्यतः कोई उत्साह नहीं दिखाया है। द्वितीय, सूक्ति शैली, डायरी शैली, एवं तरंग शैली का उपयोग भी किसी रेखाचित्रकार ने यथावधि नहीं किया है। अब तक वर्णनात्मक शैली या कथात्मक शैली में लिखे गये चरित्र-चित्रण एवं हास्य-व्यंग्य-प्रधान रेखाचित्रों की ही प्रधानता बनी हुई है। तृतीय, हिन्दी की तुलना में या कालावधि की दीर्घता को देखते हुए रेखाचित्र एवं संस्मरण लेखन के विकास की गति काफी धीमी प्रतीत होती है पर जब हम आधुनिक राजस्थानी साहित्य की अन्यान्य गद्य विधाओं की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो लगता है कि कहानी के पश्चात् राजस्थानी गद्य लेखकों का ध्यान सर्वाधिक रूप से जिस विधा की ओर गया है, वह विधा रेखाचित्र एवं संस्मरण ही है।

१. गवाड़का, पृ०सं० १४२
२. वही, पृ०सं० २०१
३. वही, पृ०सं० २०३.

गद्य-काव्य

संस्कृत से भिन्न अर्थों में हिन्दी और राजस्थानी में 'गद्य-काव्य' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत में जिस विधा को गद्य-काव्य संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है, उसमें अलंकरण की प्रवृत्ति विशेष रूप से मुखर होती है, किन्तु हिन्दी और राजस्थानी में इसके विपरीत गद्य-काव्य में भाव तत्व की प्रधानता रहती है। "अन्विति के साथ गद्य की भाषा में भावों का वह प्रकाशन जिसमें रमणीयता, आह्लाद, प्रभावोत्पादकता, चारुत्व, आध्यात्मिकता, अलौकिक आनन्द तथा पर्याप्त सरसता होती है, गद्य-काव्य की संज्ञा प्राप्त करता है। इस प्रकार की रचना में छन्द तो नहीं होने पर भावों की प्रवणता, विरह-संगीत की लय, वक्रोक्ति, ध्वनि, सांकेतिकता आदि विशेषताएँ रहती है।"[1]

राजस्थानी गद्य-काव्य का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। राजस्थानी रेखाचित्र के साथ-ही-साथ इसका सर्जन भी प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम १९४६ ई० में 'राजस्थानी'[2] में श्री चन्द्रसिंह के कुछ एक गद्य-काव्य 'सीप' नाम से प्रकाशित हुए। उसी समय से 'राजस्थान-भारती' में भी श्री कन्हैयालाल सेठिया, श्री चन्द्रसिंह, श्री मुरलीधर व्यास प्रभृति लेखकों के गद्यकाव्य प्रकाशित होने लगे। १९५३ ई० में, 'मरुवाणी' एवं 'ओळमो' के प्रकाशन ने इस क्षेत्र में कुछ नये हस्ताक्षरों से हमारा परिचय करवाया। इनमें उल्लेखनीय हैं—श्री बैजनाथ पंवार एवं रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत। इसी प्रगति में 'वरदा' त्रैमासिक ने एक नये गद्य-काव्यकार को साहित्य-रसज्ञों के सम्मुख प्रस्तुत किया, वे गद्य-काव्यकार हैं—डा० मनोहर शर्मा। इसी पत्रिका में उनके ४४ गद्य-काव्य 'फूंना-मासरा,' 'सोनागी,' 'रोहीड़ै रा फूल' और 'सोनल-भीग' शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाशित हुए हैं। इन गद्य-काव्यकारों के अतिरिक्त भी, श्री शान्तिदेव शर्मा, श्री माणिक तिवारी 'बन्धु' आदि कुछ अन्य सर्जकों को भी आगे बढ़ने का प्रोत्साहन, इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं से मिला है। अद्यावधि श्री कन्हैयालाल सेठिया के अतिरिक्त किसी भी लेखक का गद्य-काव्यों का सकलन पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुआ है।

स्वतन्त्र रूप से लिखे गये गद्य-काव्यों से पूर्व राजस्थानी की कुछ कृतियों में गद्य-काव्य जैसे ही प्रवाहपूर्ण, आकर्षक, भाव-संश्लिष्ट एवं ऋजु गद्य के सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते है। इस दृष्टि से श्री ब्रिजलाल बियाणी के भावात्मक निबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके 'मोगरावली,' 'गुलाबकली,' 'बडो फजर को दीवो'[3] आदि ललित-निबन्धों के कुछ स्थल, यदि इन्हें स्वतन्त्र रूप से

---

१. हिन्दी गद्यकाव्य : उद्भव और विकास, पृ० सं० २४

२. राजस्थानी (भाग २), सं०—नरोत्तमदास स्वामी, प्र०—राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता।

३. श्री बियाणी जी के ये सभी भावात्मक एवं ललित निबन्ध, नागपुर से प्रकाशित होने वाले 'पंचराज' (हिन्दी) मासिक में प्रकाशित हुये हैं। विशेष विवरण—'निबन्ध' में देखिये।

प्रस्तुत किया जाय तो श्रेष्ठ गद्य-काव्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इनमें जहां प्रकृति का मनोहारी एवं नवीन उपमाओं से युक्त चित्रण हुआ है, वे स्थल पाठक के हृदय को अपने सौन्दर्य और नवीनता के कारण सहज ही मुग्ध कर लेते हैं। इस दृष्टि से ठाकुर रामसिंह का 'प्रेमाश्रम' एवं 'आशीर्वाद' के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित 'निद्रमी जी म्हांरी भी सुणजो' उल्लेखनीय है। इसमें की गई विवश हृदय की यह करुण पुकार किसे द्रवित नहीं करेगी ?

"मां, आज दीवाली है। आज म्हां लोग थाकी पूजा कर रैया हां, पिण मां, थां कठै हो। अमावस की काली रात के साथ ही म्हांको भाविष्यां के सामने तो अंधारो ही अंधारो दीखे है। मां कठै हो थे, बोलो।

कठै ही तो बिजली की रोशनी है, कठै ही बिजली और तेल का दिवाटिया जल रैया है, कठै ही मैण बतियां है। हां चांदणो तो है पिण मां ई चांदणे में तो थे म्हांनै दीखो नहीं। ई चांदणो में तो देश की गरीबी, देश की दरिद्रता ही'ज दीखै है। मांजी छुपग्यूं गया, आप कठूं गया?"[1]

२४-२५ वर्षों की कालावधि को देखते हुए राजस्थानी में लिखे गये गद्य-काव्यों की संख्या बहुत ही सीमित है। इस क्षेत्र में प्रवृत्तिगत वैविध्य भी नहीं लक्षित होता। यहां चिन्तन-प्रधान गद्य-काव्य ही प्रमुख रूप से लिखे जाते रहे हैं। हां, प्रकृति एवं ईश्वर को आलम्बन बनाकर, सरस एवं भावपूर्ण गद्य-काव्य लिखने की चेष्टा भी यदा-कदा अवश्य होती रही है।

चिन्तन-प्रधान गद्य-काव्य लेखकों में श्री कन्हैयालाल सेठिया अप्रतिम हैं। उनके गद्य-काव्य में उनके विचारक रूप के साथ-साथ उनका कवि रूप भी प्रायः कदम-से-कदम मिलाकर चलता हुआ देखा जा सकता है। विचारक एवं कवि रूप के इस मणि-कांचन संयोग से जिन विचार-सूक्तियों की सृष्टि हुई है—वे राजस्थानी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। जहां उनका विचारक रूप कवि को भूलकर अकेला ही विचरण करने लगा है, वहां रमणीयता के अभाव में विचार शुष्क सूक्तियों के अधिक निकट पहुंच गये हैं। 'गळगचिया' में संगृहीत गद्य-काव्यों में ऐसी सूक्तियों को सहज ही अलग से पहचाना जा सकता है, यथा—

(क) 'हाथी रो पगोथो कीड़ी रो' क दिवले री लो नै कोनी बींद सकै।'[2]

(ख) 'मैलो घणो पड़सी जद मजलो मर्यां ही छुटकारो आस्यागो।'[3]

ऐसी बात नहीं है कि श्री सेठिया अपने विचारक के इस रूप से परिचित न हों। उन्होंने स्वयं ने इस स्थिति की ओर इंगित करते हुए 'गळगचिया' की भूमिका में स्पष्ट लिखा है—"मन री कथणगी बातड़ियां, विचार री धारा में यूं गळगचिया छोट-छोट'र चुग्या है। थां में किस्यो कालजियो [illegible] है पर किस्यो गळगचियो कोड़ी, ई रो निरणय तो पारखी ही कर सकैला।"[4]

---

1. आशीर्वाद, वर्ष १, अंक-१, नवम्बर १९३७, सं०—[illegible]
2. गळगचिया, पृ० सं० ६६
3. वही, पृ० सं० ३०
4. वही, पृ०सं० ११ ([illegible])

यह सही है कि अन्योक्ति के सहारे, मानवेतर प्रकृति के कार्य-कलापों के माध्यम से कल्पना के स्वप्निल जाल में गूंथी हुई विचार-मणियाँ ही 'गळगचिया' मे अधिक है, नीति एवं सूक्ति-कथन कम। जहाँ विचार बोझिलता से सर्वथा परे हट कर किसी मनोरम कल्पना का चित्रांकन हुआ है, वहाँ से पाठक का ध्यान हटाना सहज नहीं है, यथा—

'दिन रै छोरै रै हाथ स्यूं सूरज रो दड़ो छट'र नीचे जा पड़्यो, बापड़ै छोरै रो मूंडो कळूंठीजग्यो'र आंख्या मे आंसू आग्या,

अणसमझां रै भावूं तो अन्धेरो पडग्यो'र तारा चिमकण लाग्या ।'[1]

वैसे तो श्री सेठिया के अधिकांश गद्य-काव्य मानवीय चरित्र के किसी-न-किसी पहलू को प्रकाशित करते है[2] किन्तु जहाँ कहीं व्यंग्य प्रमुख रूप से उभरा है, उस स्थल की सराहना देखते ही बनती है—

(क) 'बन्दूक उठा'र दाग दी, बापडो पंखेरु तड़फडा'र नीचै आ पड़्यो, लोग कयो किस्यो'क हुंस्यार ठाईदार है ।

दूसरे दिन घड़ी री चाल बन्द हू'र ठाईदार मरग्यो, लोग कयों, मौत किसी'क निरदई है ?'

(ख) 'मिनख कयो-उळझयोड़ी जेवडी, मैं तनै सुलझा'र थारो कत्तो उपगार करूं हूं ।

जेवडी बोली तूं किस्योक उपगारी है जको म्हारै स्यूं छानू कोनी । कोई ओर नै उळझाणै खातर मनै सुळझातो हुसी ।'[3]

विचार एव चिन्तन-प्रधान गद्य-काव्य की दृष्टि से श्री कन्हैयालाल सेठिया के पश्चात् डा० मनोहर शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा० शर्मा ने अपने अधिकांश विचार-प्रधान गद्य-काव्यों में आत्मकथात्मक एवं संवाद शैली को अपनाया है। प्रथम पुरुष (मैं) शैली मे लिखे गये वे गद्य-काव्य लेखक के जीवन की घटनाओं से सीधे सम्बन्धित है।[4] इन घटनाओं के माध्यम से लेखक का उद्देश्य अपनी जीवन-गाथा अंकित करना नहीं, वरन् किसी-न-किसी शाश्वत सत्य को उद्घाटित करना रहा है। मानव मन की गहराइयों को छूने तथा मानव स्वभाव की सामान्य रूप से व्याख्या करने की दृष्टि से ही इन घटनाओं को गद्य-काव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसे स्थल बहुत ही प्रभावशाली बन पड़े हैं[5], किन्तु जहाँ किसी सामान्य उक्ति, नीति-कथन या सामान्य अनुभव को प्रमुखता देकर उसके लिए किसी घटना का संयोजन किया गया है—वे गद्य-काव्य किसी सूक्ति या लोकोक्ति से अधिक प्रभावित नहीं करते।[6]

---

१. गळगचिया, पृ०सं० ७०

२. गळगचिया में संकलित मिनख कयो (पृ०सं० ४६), आगोज रो महीनूं (पृ०सं० ४८), मानखै री मां कयो (पृ०सं० ५२), जीभ नै काबू मे (पृ०सं० ५३) आदि गद्य-काव्य इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

३. गळगचिया, पृ० सं० ४६

४. 'मन मे उमग उठी', 'एक घर मे एक फूटी', 'बाजार मे भीड़', (सोनल भींत)। 'मैं सगी सगी', 'एक घर मे बाजार जावै', 'मारे दिन', (सोमाणी) आदि। वरदा, १०/१ पृष्ठ ८/३

५. सोमाणी (८), वरदा, वर्ष ८, अंक ३, पृ० ४६

६. सोनल भींत, वरदा, वर्ष १०, अंक १, पृ० ५३

शैली की दृष्टि से संवादात्मक, कथात्मक एवं सम्बोधनात्मक शैली को ही राजस्थानी गद्य-काव्यकारों ने विशेषरूप से अपनाया है। इनमें भी संवाद-शैली एवं कथा-शैली का अधिक प्रयोग हुआ है। श्री सेठिया के तो अधिकांश गद्य-काव्य संवाद-शैली में ही लिखे गये हैं। मानव एवं मानवेतर पात्रों के परस्पर वार्तालाप के माध्यम से ही उन्होंने अपना कथ्य प्रस्तुत किया है। इस शैली को अपनाने का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि जो बात अन्य किसी शैली में रखे जाने पर शायद पृष्ठों में फैलकर भी उस प्रभावान्विति का अहसास नहीं करवा पाती वह यहाँ कुछेक पंक्तियाँ ही करवा जाती हैं।[1]

कथात्मक शैली में लिखे गये गद्य-काव्यों में डा० मनोहर शर्मा के अधिकांश गद्य-काव्य, श्री मुरलीधर व्यास के सामाजिक समस्याओं पर लिखे गये गद्य-काव्य, श्री शांतिदेव शर्मा का विचारो दिनकर' एवं श्री सेठिया के कुछ एक गद्य-काव्य आते हैं। ऐसे गद्य-काव्यों में किसी रोचक या आकर्षक घटना का चित्रण होते हुए भी लेखक का अभीष्ट उस घटना को चित्रित करना नहीं होता है, वह तो उसके व्याज से अपनी बात को तीव्रता एवं रोचकता के साथ प्रस्तुत करना चाहता है। इनमें सामान्यत: अन्योक्ति की प्रधानता रहती है।

सम्बोधनात्मक शैली यहाँ के गद्य-काव्यकारों को विशेष प्रिय रही है। कभी उपालम्भ रूप में, तो कभी निवेदन के रूप में अपनी बात कहने में ये गद्य-काव्यकार विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। श्री बैजनाथ पंवार के 'बसन्त आयो'[2] एवं 'स्याम',[3] रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत का 'मातभोम',[4] श्री प्रकाशकुमार जैन का 'मरुवाणी'[5] आदि गद्य-काव्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। भावावेग के कारण जब

बैल ने धीरे-धीरे अपनी गर्दन उठाई और उसकी पुकार बिल्कुल अनसुनी करते हुए सगर्व उत्तर दिया—

'आखिर मुझे खड़ा होने को भी कहीं स्थान चाहिए। तुझे अपने पैरों के नीचे रौंदे बिना मैं पेट कैसे भर सकता हूँ।'

निर्झर और पाषाण श्री तेजनारायण काक, पृ० सं० २६

(ख) दूबटी कयो–'गाय चरतो भलोई, पण चीथ मती।'
गाय बोली-'काई करूं ? रामजी म्हारी भूगर्न पागळी को बणाई नी।'

गळगचिया : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ० सं० २४

१. (क) दही पूछ्यो–'झरणा, रोजीना मन-मथ'र म्हारो माजनूं बिगाडूं, की थारै ही दन्नो पडूं है'क नी ?' झरणूं बोल्यो—'कोड्या तो बाळजो रायूं पूंटै ही है और'न की देख्योनी।'

गळगचिया : श्री सेठिया, पृ० सं० ५६

(ख) डूमडी पूछ्यो–'झरणा, तू घनेक ही मिलल्यो कोनी रवै, तूं पून को आयोड़ो है के ?'
झरणूं बोल्यो–'भली सिखाण करी ? मैं तो डूंगरां रै आयोड़ो हूँ जका पगवारो ही को फेरैनी।'

गळगचिया, श्री सेठिया, पृ० सं० २०

२. बसन्त आयो : श्री बैजनाथ पंवार, मरुवाणी, वर्ष २, अंक ३-४, पृ० सं० ६

३. स्याम : श्री बैजनाथ पंवार, मरुवाणी वर्ष ६, अंक ३-४, पृ० १४

४ मातभोम : रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत, मरुवाणी, वर्ष २, अंक ३-४, पृ० सं० ७

५. श्री प्रकाशकुमार जैन, मरुवाणी, वर्ष १, अंक ८, पृ० २

हृदय उमड़ पड़ता है तब कल्पना-चक्षुओं के समक्ष अभीष्ट को खड़ा कर, भावुक हृदय वाणी के रूप में बह निकलता है।

उपर्युक्त विवेचन में राजस्थानी गद्य-काव्य के विषय में दो तीन बातें विशेषरूप से उभर कर सामने आयी हैं। प्रथम तो राजस्थानी गद्य-काव्य में लघु कलेवर वाले कथात्मक गद्य-काव्यों की ही विशेष रूप से सर्जना हुई है। द्वितीय, चिन्तन-प्रधान गद्य-काव्यों की तुलना में दार्शनिक युक्तियों से रमने वाले, प्राकृतिक सौन्दर्य को रूपायित करने वाले, किसी व्यक्ति विशेष की स्मृति को गद्गद् श्रद्धांजलि अर्पित करने वाले या फिर किसी ऐतिहासिक घटना को अपने भावपूर्ण उद्गारों से जीवन्त रूप प्रदान करने वाले गद्य-काव्य बहुत कम लिखे गये हैं। यही नहीं, आत्मा-परमात्मा के प्रणय-प्रसंग (जो कि गद्य-काव्यकारों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है) पर आधारित गद्य-काव्य भी, विचार-प्रधान गद्य-काव्यों की तुलना में अल्पमात्रा में ही लिखे गये हैं। शैली की दृष्टि से संवाद शैली एवं कथात्मक शैली का ही विशेष प्रयोग हुआ है। वैसे यदा-कदा सम्बोधन शैली को भी अपनाया गया है। विषय की सीमितता एवं शैलीगत वैविध्य की न्यूनता के बावजूद भी कलेवर की लघुता एवं संवाद शैली का सांगोपांग प्रयोग राजस्थानी गद्य-काव्य क्षेत्र की स्पृहणीय उपलब्धियाँ मानी जा सकती है।

❀

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन में हमने आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं का जो प्रवृत्तिमूलक अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. उपन्यास के क्षेत्र में लोक उपन्यासों की सर्जना और उन्हें सामयिक सन्दर्भों में नूतन व्याख्या के साथ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति राजस्थानी उपन्यासों की उल्लेखनीय विशेषता रही है।

२. कहानी के क्षेत्र में सामाजिक कहानियों का प्राधान्य रहा है। आधुनिक राजस्थानी की ऐतिहासिक कहानियाँ तात्कालिक युग को सम्पूर्णता और सजीवता में प्रस्तुत करने की दृष्टि से बड़ी सफल रही हैं।

३. नाटकों में सामाजिक जीवन की समस्याओं पर आधारित सुधारवादी नाटकों का प्राधान्य रहा है। आधुनिक राजस्थानी में 'बाचवा लायक' एवं 'खेलवा लायक' दोनों प्रकार के नाटक लिखे गये हैं।

४. राजस्थानी नाटकों की भाँति राजस्थानी एकांकियों में भी सुधारवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य रहा है। ऐतिहासिक एकांकियों में तात्कालिक समाज के उज्ज्वल एवं कलुष उभय पक्षों को प्रतिपाद्य बनाया गया है।

५. निबन्धों की संख्या अन्य विधाओं की अपेक्षा सीमित रही है। अधिकांश में वर्णन-प्रधान एवं परिचयात्मक लेख लिखे गये हैं, किन्तु इस अवधि में थोड़े से विचार-प्रधान स्तरीय निबन्ध सामने आये हैं, वे राजस्थानी गद्य साहित्य की अभिव्यक्ति-क्षमता को भलीभाँति उजागर करते हैं।

६ राजस्थानी रेखाचित्र एवं संस्मरण क्षेत्रीय लोक-जीवन को सही रूप में परिभाषित करने में सफल हुए हैं। इनमें अधिकांशतः समाज के निम्न-मध्यमवर्गीय एवं मध्यमवर्गीय पात्रों को आधार बनाया गया है।

७. कलेवर की लघुता, चिन्तन-मनन-प्रधान अनुभूतियों का प्राधान्य एवं संवाद शैली का सांगोपांग निर्वाह राजस्थानी गद्य-काव्यों की उल्लेखनीय विशेषता रही है।

समग्र रूप से आधुनिक राजस्थानी गद्य साहित्य की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

१. आधुनिक राजस्थानी साहित्य के प्रथम चरण (१६००-१६३० ई०) में प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों का प्राधान्य रहा। वैसे तो उन साहित्यकारों ने उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आदि गद्य विधाओं को भी अपनाया किन्तु उनका झुकाव मुख्यतः नाटक की ओर रहा।

२. समग्र रूप से आधुनिक राजस्थानी गद्य क्षेत्र में सुधारवादी एवं आदर्शवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य रहा है।

३. पिछले दशक से राजस्थानी गद्यकार का झुकाव आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर हो चला है।

४. आधुनिक युगीन गद्य, आलंकारिकता एवं काव्यत्व की ओर झुकाव की (प्राचीन गद्य की) प्रवृत्ति को त्याग चुका है।

पिछले कुछ ही वर्षों में राजस्थानी साहित्य जगत् में गद्य साहित्य की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा है। गद्य साहित्य के प्रति बढ़ती हुई रुझान को देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि आगामी कुछ ही वर्षों में साहित्य क्षेत्र में गद्य का वर्चस्व स्थापित हो जायेगा।

❁

चतुर्थ खण्ड

पद्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ

राजस्थानी पद्य साहित्य का सामान्य परिचय

प्रबन्ध काव्य

प्रकृति काव्य

नीति काव्य

प्रगतिशील काव्य

वीर एवं प्रशस्ति काव्य

हास्य एवं व्यंग्य

पद्य कथाएँ

भक्ति काव्य

नीति काव्य

नयी कविता

4 पद्य साहित्य की प्रवृत्तियाँ

राजस्थानी साहित्य का प्राचीन काल कितना समृद्ध रहा है, इसका अनुमान तो इसी बात से लग जाता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के जिस आदिकाल की स्थापना की, उसका मुख्य आधार राजस्थानी साहित्य ही रहा। इसी भांति भारतीय साहित्य में जब वीर काव्य की चर्चा चलती है तो अपने विपुल और उत्कृष्ट वीरकाव्य के कारण राजस्थानी काव्य का नाम इस दृष्टि से सर्वप्रथम लिया जाता है। यही कारण है कि आज भी सामान्यतः राजस्थानी काव्य वीर काव्य का पर्याय बना हुआ है, किन्तु राजस्थानी साहित्य को केवल इसी कारण वीर काव्य तक ही सीमित कर देना सर्वथा अनुचित है। वीर काव्य की भांति ही राजस्थानी का भक्ति एव प्रेम काव्य भी उतना ही महत्वपूर्ण बना हुआ है। १३वीं से १५वीं शताब्दी के मध्य का राजस्थानी-गुजराती साहित्य तो दोनों ही भाषाओं की समान थाती है, किन्तु उसके पश्चात् का विपुल परिमाण में उपलब्ध राजस्थानी का काव्य धर्माधिकारियों, राज्याश्रय प्राप्त कवियों और सामान्य जनों द्वारा समान उत्साह के साथ लिखा जाकर-सहज ही यह प्रतिपादित करता है कि राजस्थानी साहित्य का क्षेत्र किसी वर्ग विशेष या रस विशेष तक ही सीमित नहीं था।

राजस्थानी के विपुल प्राचीन साहित्य को देखने से यह स्पष्ट होता है कि उस समय के राजस्थानी साहित्यकार की वीरता, प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में समान गति रही। उसने जिस उत्साह से योद्धाओं के रोमांचक शौर्य का अंकन किया है, उसी उत्साह से अमर-प्रेमियों की प्रणय गाथाओं का चित्रण भी। वीरता और प्रेम की तरह भक्ति के क्षेत्र में भी उसने बड़ी तन्मयता से प्रभु-भक्ति के गीत गुनगुनाये हैं।

योद्धाओं के रोमांचकारी शौर्य का जैसा प्रभावी अंकन राजस्थानी काव्य में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। राजस्थानी साहित्यकार ने केवल योद्धाओं के बाह्य कार्य-कलापों का ही व्यापक वर्णन नहीं किया, अपितु उनके आन्तरिक उत्साह की भी बड़ी मार्मिक व्यंजना की है। प्रबन्ध काव्यकारों और मुक्तक काव्यकारों के मध्य वीर रस समान रूप से प्रिय रहा है। यों तो सैकड़ों प्रबन्ध काव्यों और सैकड़ों गीतादि मुक्तकों में वीर रस की सुन्दर व्यंजना हुई है, किन्तु इन सबमें काव्य सौष्ठव और लोकप्रियता की दृष्टि से 'हाला झाला रा कुण्डलिया'[1] और 'वीर सतसई'[2] विशेष

---

1. बारहठ ईसरदास
2. सूर्यमल्ल मिश्रण

उल्लेखनीय बन पड़े हैं। राजस्थानी वीर काव्य की एक और उल्लेखनीय बात यह रही है कि इसमें वीर पुरुष की तरह, वीर नारी के मनोभावों का भी बड़ा ही प्रभावी अंकन हुआ है।

राजस्थानी वीर काव्यों की भांति ही राजस्थानी प्रेम काव्यों की भी समृद्ध परम्परा रही है। इनमें शृंगार के उभय पक्षों का बड़ा ही अनूठा किन्तु संयत वर्णन हुआ है। राजस्थानी प्रेम काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इनमें 'काम' को बड़े ही सहज रूप में लिया गया है। यही कारण है कि इनमें 'सेक्स' (काम-वासना) की कुण्ठारहित अभिव्यक्ति हुई है। फलस्वरूप कुत्सित वासना के स्वर इनमें कहीं भी हावी नहीं हुए हैं। प्रबन्धात्मक प्रेम काव्यों में 'ढोला मारू रा दूहा'[1] और 'माधवानल-कामकन्दला'[2] तथा मुक्तक प्रेम काव्यों में 'जेठवा ऊजळी' तथा 'बींझा सोरठ' के दोहे बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

वीरता और प्रेम के क्षेत्र में समान उत्साह प्रकट करने वाले राजस्थानी के प्राचीन कवि भक्ति के क्षेत्र में भी पीछे नहीं रहे। मीरां जैसी प्रसिद्ध कवयित्री राजस्थानी साहित्य की ही देन है। हिन्दी के सन्त कवियों की परम्परा की तरह राजस्थानी के सन्त कवियों की परम्परा भी पर्याप्त समृद्ध रही है। जाम्भोजी, जसनाथजी, एवं दादूदयालजी जैसे पंथ-प्रवर्तक सन्त कवियों के काव्य ग्रन्थों की भाषा मूलतः राजस्थानी ही रही है। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक कवियों ने उत्कृष्ट भक्ति-काव्यों की रचना की है, जिनमें 'वेलि क्रिसन रुकमणि री'[3] एवं 'हरिरस'[4] विशेष उल्लेखनीय हैं।

समग्र रूप से प्राचीन राजस्थानी पद्य साहित्य की निम्नलिखित उल्लेखनीय विशेषताएं कही जा सकती हैं—

१. प्राचीन राजस्थानी काव्य में वीर एवं शृंगार रस-प्रधान रचनाओं का प्राधान्य रहा है और ये दोनों अधिकांश में एक-दूसरे के पूरक या सहायक के रूप में लिखित हुए हैं।

२. अतिशयोक्ति पूर्ण एवं अतिरंजना पूर्ण वर्णनों के बावजूद भी बहुत सी पद्य रचनाएं ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। विशेष रूप से 'गान री कविता' जैसी रचनाएं तो इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

३. 'गीत' नामक विशिष्ट छन्द का प्रयोग प्राचीन राजस्थानी साहित्य की अपनी ही विशेषता है। ९० के आस-पास भेदों वाला यह छन्द एक विशिष्ट लहजे में पढ़ा जाता है।

४. 'वयण सगाई' अलंकार राजस्थानी का अपना अलंकार है और प्राचीन कवियों में बहुतायत से इसका प्रयोग हुआ है।

ऊपर प्राचीन राजस्थानी पद्य साहित्य की जिन सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया गया है वे आधुनिक युग में परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ में नूतन रूप धारण कर चुकी हैं। फलतः आधुनिक पद्य साहित्य की प्रवृत्तियां भी काफी बदल चुकी हैं। आगे इस तरह के सन्दर्भों में आधुनिक

---

१. कवि कल्लोल
२. कवि गणपति
३. पृथ्वीराज राठौड़
४. बारहठ ईसरदास

राजस्थानी पद्य साहित्य के प्रबन्ध और मुक्तक क्षेत्र की निम्नलिखित प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. प्रबन्ध काव्य
२. प्रकृति काव्य
३. गीति काव्य
४. प्रगतिशील काव्य
५. वीर एवं प्रशस्ति काव्य
६. हास्य एवं व्यंग्य
७. पद्य कथाएँ
८. भक्ति काव्य
९. नीति काव्य
१०. नयी कविता

प्रबन्ध काव्य

राजस्थानी में प्रबन्धात्मक काव्य-लेखन का प्रारम्भ तो उसके आदिकाल से ही हो चुका था और तब से लेकर आजतक अनेक कवियों ने विविध विषयों पर नाना प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना की है। उनमें मानव-जीवन के अनेक पहलुओं को छूने और उसे विविध दृष्टि-बिन्दुओं से आंकने का प्रयत्न हुआ है। इन प्रबन्ध काव्यों की एक मुख्य प्रवृत्ति वीर-भावना की रही है। वीरत्व तो जैसे राजस्थान की माटी के कण-कण में समाया हुआ है। यहां एक से एक विकट योद्धाओं ने भी जन्म लिया और उनके अद्वितीय शौर्य को अंकित कर उनकी यशकीर्ति को अमर कर देने वाले कवियों ने भी। वीर-चरित्रों को आधार बनाकर लिखे जाने वाले प्रबन्ध काव्यों में 'पृथ्वीराज-रासो' का विशेष महत्त्व है। इन प्रबन्ध काव्यों के नायक चूंकि ऐतिहासिक पुरुष होते हैं और उनमें चरित-नायक के गुणों का गुणगान ही विशेष रूप से होता है, अतः इनमें वीर काव्य, चरित काव्य और ऐतिहासिक काव्य का मिला-जुला रूप ही अधिक देखने को मिलता है।

वीर-धारा के अतिरिक्त भक्त कवियों की भक्ति गंगा भी राजस्थान में बराबर प्रवाहित होती रही है। भक्त कवियों ने अधिकांशतः धार्मिक और पौराणिक कथानकों को आधार बनाकर प्रबन्ध काव्यों की रचना की। इन दो धाराओं के अतिरिक्त एक अन्य धारा भी आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही है, वह है—लोक-काव्यधारा। इसमें लोक कथानकों के आधार पर जहां एक ओर विशुद्ध प्रणय-गाथाओं को प्रबन्ध काव्यों के रूप में आबद्ध किया गया है, वहां दूसरी ओर लोकवीरों और लोक देवताओं के प्रेरणास्पद जीवन को भी आधार बनाया गया है। इस प्रकार आधुनिक काल से पूर्व के राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों की तीन मुख्य धाराएं समान रूप से प्रवाहित होती रही हैं, वे हैं—वीरता, धर्म और लोक काव्य।

आधुनिक काल में भी राजस्थानी प्रबन्ध काव्यकार उपर्युक्त परम्परा को नहीं छोड़ पाये हैं। समयानुकूल किंचित् परिवर्तन के अतिरिक्त अब भी उनके काव्यों के प्रेरणा स्रोत मुख्य रूप से वे ही वीर चरित एवं पौराणिक कथानक रहे हैं। युगीन समस्याओं के समाधान और युगानुरूप दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के लिए अधिकांश में आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यकार ने इन्हीं धार्मिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक गाथाओं का सहारा लिया है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य में अद्यावधि जितने भी प्रबन्ध काव्य लिखे गये हैं उनमें से एक-दो को छोड़कर शेष सभी काव्यों का कथानक इतिहास-ग्रन्थों, पौराणिक या धार्मिक ग्रंथों और लोक-काव्यों से ही लिया गया है।

राजस्थानी साहित्य में आधुनिक विचारधारा का सन्निवेश तो इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही हो गया था, किन्तु प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में उसका विधिवत् प्रवेश बहुत बाद, लगभग स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ-साथ ही हुआ। हाँ, स्फुट प्रयास इससे पूर्व भी होते रहे। इस दृष्टि से श्री अमृतलाल माथुर की 'गीत रामायण'[1] और श्री ऊमरदान लालस की 'छपना रो छंद'[2] कृतियों का विशेष महत्त्व है। प्रथम कृति अपने समय की उन रचनाओं[3] का प्रतिनिधित्व करती है जिनकी रचना लगभग उन्हीं दो तीन दशाब्दियों में हुई और जिनकी भाषा शुद्ध राजस्थानी न होकर खड़ी बोली या ब्रज भाषा से पर्याप्त प्रभावित रही है। दूसरी कृति 'छपना रो छन्द' कोई प्रसिद्ध कथा नायक को लेकर लिखा गया प्रबन्ध काव्य नहीं है, अपितु एक घटना को आधार बनाकर लिखी गयी लम्बी प्रबन्धात्मक कविता है। इसमें कवि ने राजस्थान में वि० संवत् १९५६ में पड़े भीषण अकाल और तद्जन्य मरुवासियों की दुर्दशा का अत्यन्त कारुणिक एवं प्रभावी चित्र अंकित किया है। यद्यपि इसमें उस समय की स्थिति का विस्तृत एवं प्रामाणिक वर्णन हुआ है, फिर भी, निश्चित कथा या पात्रों के अभाव के कारण इसे प्रबन्ध काव्य के आज के स्वीकृत अर्थ में नहीं रखा जा सकता। उपर्युक्त दो कृतियों के पश्चात् प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत उन लम्बी कथात्मक कविताओं[4] (पद्यकथाओं) का स्थान आता है जिनका प्रारंभ ई० सन् १९४४ में रचित श्री मेघराज 'मुकुल' की 'सेनाणी'[5] के साथ हुआ माना जा सकता है।

आधुनिक राजस्थानी में स्वतन्त्र रूप से प्रबन्ध काव्यों का प्रणयन स्वातन्त्र्योत्तर राजस्थानी साहित्य की प्रमुख घटना है। इस अवधि में जो प्रबन्ध काव्य प्रकाश में आये हैं, उनमें डा० मनोहर शर्मा

---

१. प्र०—गारासणी ठाकुर श्री भीमसिंह, वि० सं० १९९५

२. 'ऊमर काव्य,' पृ० सं० ३२१, प्र०-मैसर्स मनसुखप्रताप न्यायी एंड को० बुकसेलर्स व जनरल मर्चेन्टस् जोधपुर, (तृ० सं०) सन् १९३० ई०।

३. श्री भूपतिराम साकरिया ने 'आधुनिक राजस्थानी साहित्य' नामक कृति में इस काल की ऐसी अनेक कृतियों का परिचय दिया है जिनकी भाषा अधिकांश में मायुरकड़ी (ब्रजभाषा मिश्रित राजस्थानी या खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी) रही है। उनके द्वारा उल्लिखित कतिपय प्रमुख कृतियाँ हैं—श्री केशवलाल राजगुरु कृत 'श्री रामदेव रामायण', 'श्री बजरंग रामायण,' 'श्री मर्यादा पुरुषोत्तम रामलीला,' श्री रघुनाथदास कृत 'रघुनाथ सागर,' श्री जानकीदास निरंजनी कृत 'जीवनचरित्र' आदि।

४. पृष्ठों लम्बी ये पद्यकथाएँ प्रबन्ध काव्यों की श्रेणी में तो निश्चित रूप से आती हैं, किन्तु एक तो राजस्थानी में ऐसी अत्यधिक पद्यकथाओं के लिखे जाने के कारण और द्वितीय, इनमें इतिवृत्त-प्रधान कथा-तत्त्व की ही प्रधानता होने के कारण यहाँ उनपर विचार न कर पद्यकथा शीर्षक के अन्तर्गत आगे अलग से विचार किया गया है। यहाँ तो इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि इन पद्यकथाओं ने राजस्थानी के आधुनिक प्रबन्ध काव्यों के लिए अच्छी भूमिका तैयार की है।

५. सेनाणी री जागी जोत, श्री मेघराज 'मुकुल,' पृ० सं० ?, प्र०—अनुपम प्रकाशन, जयपुर।

कृत 'कुंजा,'[1] 'अमर फळ,'[2] 'मरवण,'[3] 'गोपीगीत,'[4] 'पंछी,'[5] 'अंतरजामी',[6] श्री श्रीमन्तकुमार व्यास कृत 'रामदूत',[7] श्री सत्यप्रकाश जोशी कृत 'राधा',[8] श्री सत्यनारायण 'अमन' प्रभाकर कृत 'सीमदान,'[9] श्री कान्ह महर्षि कृत 'मरमरंक,'[10] श्री बनवारीलाल मिश्र 'सुमन' कृत 'देखूं थो नो दिवलो,'[11] श्री गिरधारीसिंह पड़िहार कृत 'मानखो,'[12] श्री विश्वनाथ 'विमलेश' कृत 'रामकथा'[13] एवं श्री मनोहरलाल बारहठ कृत 'शकुन्तला'[14] उल्लेखनीय है।

विषय की दृष्टि से हम आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों को इस रूप में विभाजित कर सकते हैं—

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्य

- पौराणिक एवं धार्मिक
  - रामकथा पर आधारित
  - महाभारत कथा पर आधारित
  - अन्य
- ऐतिहासिक
  - विशुद्ध ऐतिहासिक (जिनमें इतिहास तत्व प्रमुख है)
  - अर्द्ध ऐतिहासिक (जिनमें इतिहास तत्व गौण है)
- लोक कथात्मक
  - लोक-कथाओं पर आधारित
  - अन्य

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में सर्वाधिक संख्या पौराणिक कथानकों को आधार बनाकर लिखे गये प्रबन्ध काव्यों की है। रामकथा के आधार पर जहाँ 'गीत-रामायण,' 'रामकथा,'

---

१. मरवण, वर्ष १, अंक १
२. वही, वर्ष १, अंक २
३ वही, वर्ष १, अंक ३
४. वही, वर्ष १, अंक ४
५. वही, वर्ष २, अंक ४
६. वही, वर्ष ५, अंक ३
७. प्र०-नवयुग ग्रंथ कुटीर, बीकानेर।
८. प्र०-रूपायन संस्थान, बोरूंदा, प्र० सं०-१९६० ई०
९. प्र०-आदर्श प्रकाशन, सुजानगढ़, प्र० सं०-वि० सं० २०१८
१०. प्र०-रामकृष्ण प्रिंटिंग प्रेस, कोटा, प्र० सं० १९६१ ई०
११. प्र०-सुमन प्रकाशन, बिसाऊ, प्र० सं०-वि० सं० २०२०
१२. प्र०-जगदीशचन्द्र मनोहर मानव ट्रस्ट, श्री कोलायत जी, प्र० सं०-१९६४ ई०
१३ प्र०-साहित्य प्रकाशन मंदिर, झुंझुनू (राजस्थान) प्र० सं०-१९६३ ई०
१४. बारहठ प्रकाशन, चैनपुरा, प्र० सं०-१९६७ ई०

और 'पूंछ मूंछ की मुलाकात'[1] आदि की रचना हुई है, वहाँ महाभारत के प्रसंगों और पात्रों को लेकर लिखे गये काव्यों की संख्या भी कम नहीं है। 'मानखो,' 'राधा,' 'शकुन्तला' और 'गोपीगीत' के उपजीव्य महाभारत या महाभारत के प्रमुख पात्रों से संबंधित पौराणिक-प्रसंग रहे हैं। इन्हीं काव्यों से थोड़ा हटकर उपनिषदों के प्रसंगों के आधार पर 'अमर फळ' और 'अन्तरजामी' की रचना हुई है। ऐतिहासिक कथावृत वाले काव्यों में 'देळ्यां को दिवलो' में जहाँ ऐतिहासिक तथ्यों की रचना करने में कवि ने काफी सतर्कता का परिचय दिया है, वहाँ ऐतिहासिक पात्रों और प्रसंगों को अपनाते हुए भी 'मरु-मयंक' एवं 'सीसदान' में अलौकिक घटना-प्रसंगों और चामत्कारिक कार्यों को विशेष प्रश्रय दिया गया है। लोककाव्य को आधार बनाकर लिखे गये प्रबन्ध काव्यों में 'मरवण' एवं काल्पनिक कथानक वाले काव्यों में डा० मनोहर शर्मा कृत 'पंछी' एवं 'कुंजां' उल्लेखनीय हैं।

काव्य-रूप की दृष्टि से विचार करने पर आधुनिक राजस्थानी काव्यों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्य

महाकाव्य	एकार्थकाव्य	खण्ड काव्य

वस्तुतः उपर्युक्त तीनों प्रकारों में भी अन्तिम दो प्रकार के ही प्रबन्ध काव्य आधुनिक राजस्थानी में लिखे गये हैं, किन्तु कतिपय कृति-लेखकों, उन कृतियों की भूमिका-लेखकों और एक-आध आलोचकों ने कुछ रचनाओं को महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित किया है; अतः यहाँ उन पर उस दृष्टि से विचार करना भी आवश्यक हो गया है।

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में ऐसी कृतियाँ, जिनके कृति-लेखकों, उनके भूमिका-लेखकों और कतिपय आलोचकों ने महाकाव्य कहा है, तीन हैं—१. मरु-मयंक, २. शकुन्तला और ३. रामदूत।

जहाँ तक 'मरु-मयंक' के महाकाव्यत्व का प्रश्न है, इसके लेखक ने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। वह तो इसे चरित-काव्य से अधिक कुछ नहीं मानता है,[2] किन्तु 'आधुनिक राजस्थानी साहित्य' के लेखक श्री भूपतिराम साकरिया के मतानुसार—"'मरु-मयंक' सर्गबद्ध प्रबन्ध काव्य है। इसे महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।"[3] इस प्रकार 'मरु-मयंक' के महाकाव्य का दावा कवि द्वारा नहीं अपितु एक आलोचक द्वारा किया गया है। महाकाव्य के कतिपय बाह्य लक्षणों का निर्वाह कर देने मात्र से ही कोई कृति महाकाव्य नहीं बन जाती। 'मरु-मयंक' के चरितनायक के धीरोदात्त, उच्च क्षत्रिय वंशी होने और इसकी सर्ग संख्या १४ होने के कारण ही इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। यदि महाकाव्य की यही कसौटी है तो फिर 'रामदूत' ने क्या अन्याय किया है? उसके नायक भी उच्च कुलोत्पन्न धीरोदात्त क्षत्रिय हैं और उसकी सर्ग संख्या भी १६ है। यही नहीं, संस्कृत आचार्य दंडकारों द्वारा निर्धारित कतिपय

1. पूंछ मूंछ की मुलाकात, श्री कन्हैयालाल दूगड़, प्र०-लाला सीताराम हनुमान प्रसाद, भिवानी।
2. 'मरु-मयंक', मुखपृष्ठ एवं स्वयं लेखक ने 'मरु-मयंक' लिखने के पश्चात् (रामदेव-चरित) लिख कर अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है।
3. आधुनिक राजस्थानी साहित्य : भूपतिराम साकरिया, पृ० सं० ८४

अन्य बाह्य लक्षणों को भी यह काव्य पूरा करता है, किन्तु इतने भर से ही तो इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महाकाव्य इन सबसे परे कुछ और होता है। हिन्दी साहित्य कोश, भाग—१ में महाकाव्य के सभी प्रमुख लक्षणों को ध्यान में रखते हुए उसे इस प्रकार परिभाषित किया गया है—"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक रूप है, जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित सांगोपांग और जीवन्त कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमें यथार्थ कल्पना या संभावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक रूप में वर्णन हो, जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी-न-किसी रूप में प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमें किसी महत्प्रेरणा से अनुप्राणित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण, गंभीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष या युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त हो कि युग-युगान्तर तक महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान कर सके।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा को ध्यान में रखते हुए विचार करते हैं तो पाते हैं कि 'मद-मर्दन' महाकाव्य तो क्या उसके आस-पास भी कहीं नहीं ठहर पाता है। न उसमें बृहद् कथा है, न उसकी शैली उदात्त है न उसमें सम्पूर्ण युग की संस्कृति को समाहित करने की क्षमता है और न ही महाकाव्योचित गरिमा तक वह पहुँच पाया है। उपदेश और इतिवृत्त की प्रधानता एवं सामान्य कविता के कारण यह एक आदर्श कथा नायक एवं गौरवशाली कथा सूत्र को लेकर चलने के पश्चात् भी सामान्य चरित-काव्य से अधिक कुछ नहीं बन पाया है।

अब रहा 'ऋतुम्भरा' का प्रश्न। न केवल इसके रचयिता ने ही इसे महाकाव्य कहा है, अपितु इसके भूमिका-लेखक श्री चन्द्रदान चारण ने भी इसे महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।[2] सम्भवतः इसी कारण श्री भूपतिराम साकरिया ने भी बिना किसी विचार के इसे एक महाकाव्य स्वीकार कर लिया है।[3] जहाँ तक 'मद-मालव' और 'रामदूत' से तुलना का प्रश्न है, यह कृति आकार और प्रकार के लक्षणों की दृष्टि से निःसन्देह भारी पड़ती है, किन्तु उपर्युक्त दो तथाकथित महाकाव्यों से श्रेष्ठ ठहरने के नाते ही तो इसे सहज रूप से महाकाव्य नहीं स्वीकारा जा सकता क्योंकि महाकाव्य के लिए अपेक्षित ऊँचाइयों तक यह नहीं पहुँच पाई है। महाकाव्योचित शैली और गरिमानुरूप उच्च कवि-कल्पना का अभाव, जीवन के विविध पक्षों की गहरी एवं सांगोपांग विवेचना की न्यूनता, अभिनव युग की सांस्कृतिक चेतना को पूर्णरूपेण न प्रस्तुत कर सकने की विवशता एवं पात्रों के चरित्र के लिए अपेक्षित महानता के अभाव के कारण ही 'ऋतुम्भरा' महाकाव्य पद की अधिकारिणी नहीं बन सकी है। इसके अतिरिक्त स्वप्न दोनों का आयोजन इसकी प्रबन्धात्मकता में व्यवधान उपस्थित करता है। इसका अनु ... और दो

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० सं० ६७३, सं०—धीरेन्द्र वर्मा आदि।
2. ऋतुम्भरा, भूमिका पृ० सं० ७ और ८
3. "'ऋतुम्भरा' कवि की नवीनतम रचना है। यह एक महाकाव्य है।"
   आधुनिक राजस्थानी साहित्य, भूपतिराम साकरिया पृ० सं० ८८

महाकाव्य की परिसीमा में प्रविष्ट होने देने में बाधा उपस्थित करता है। यही नहीं, प्रस्तुत काव्य में कहीं-कहीं उभरा हलकापन भी इसे महाकाव्य के योग्य नहीं ठहरने देता है। वारांगनाओं की भांति 'नैण मटकाती', 'कमर लचकाती' हुई नायिका शकुन्तला महाकाव्योचित गरिमा का निर्वाह कहां कर पाती है—

अठै फिरै
शकुन्तला
नैण मटकाती
कमर लचकाती
बिलमाती
अपणी सायण्यां नै।[1]
यही नहीं जिस नायिका के महत्त्व के प्रति कवि स्वयं शंकालु बना हो—
कुण ही वा ?
विश्वामित्र री करणी
मेनका री जायी,
के
पापाचार री ?
नहीं—
हेत भाव री
नहीं
वासना री बेटी[2]

उस कृति को महाकाव्य के उच्च आसन पर कैसे बैठाया जा सकता है ? इन सब बातों से कृति के भूमिका लेखक परिचित हैं और उन्होंने स्वयं इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है—"ऐ 'शकुन्तला' रे बाबत भी कह सकै है के इणै रो आकार छोटो है, इणै में महाकाव्य जिसी गंभीरता और व्यापकता कोनी और गीतां रै कारणै कथा बिखरयोड़ी सी है।"[3] इसीलिए उन्हें आगे यों समाधान भी प्रस्तुत करना पड़ा है—"पण ऐ सारी बातां कैता थकां इणै बात रो भी ध्यान राखणो चाइजै कै 'शकुन्तला' नयै जमानै रो नयो महाकाव्य है। जे इणै में कोई पुराणी सर्त पूरी न भी होवै तो भी इणै रो काव्य सन्देश देख'र इणै नै महाकाव्य री संज्ञा दी जा सकै है।"[4] पर इस प्रकार नये जमाने का नया महाकाव्य घोषित करने से कोई बात नहीं बनती और न ही केवल काव्य-सन्देश की महत्ता ही किसी कृति को महाकाव्य बना देने के लिए पर्याप्त होती है।

---

१. शकुन्तला : कल्याणसिंह राजावत, पृ० सं० ३८–३९
२. वही, पृ० सं० ३९
३. वही, (भूमिका, से उद्धृत)
४. वही, भूमिका, पृ० सं० ६

इसी क्रम में एक और कृति का उल्लेख भी आवश्यक हो गया है, जिसे महाकाव्य मानने का आग्रह उसके कथा विस्तार एवं बाह्य लक्षणों की पूर्ति के आधार पर किया जा सकता है। यह कृति है— श्री विश्वनाथ 'विमलेश' की 'रामकथा'। इसमें कवि ने राम-जन्म से लेकर राम के वनवास से लौटकर राज्याभिषेक तक की कथा विस्तार के साथ ५ सर्गों में लगभग ६०० पृष्ठों में कही है। जहाँ तक कथा-विस्तार और नायक के उच्च कुलोत्पन्न धीरोदात्त होने का प्रश्न है, रामकथा दोनों ही स्थितियों में खरी उतरती है। यही नहीं, इसका शाश्वत-सन्देश, पात्रों का आदर्श चरित्र और वर्णन-विस्तार आदि भी इसे महाकाव्य की सीमा के निकट ला खड़ा करते हैं, किन्तु इसके महाकाव्यत्व के पथ में बाधा उपस्थित करने वाली सबसे बड़ी बात है, प्रस्तुत काव्य की इतिवृत्त-प्रधानता। सारा काव्य ही लगभग बड़े सपाट ढंग से लिखी गयी घटनाओं का समुच्चय भर बनकर रह गया है। वस्तुतः यह रामकथा का गद्य के स्थान पर अलंकरणहीन पद्यमय वर्णन भर बन पड़ी है। ऐसी स्थिति में इसे महाकाव्य की संज्ञा कैसे प्रदान की जा सकती है? न इसमें वर्णनों की रम्य छटा है, न कल्पना की ऊंची उड़ान, न चरित्रों को सशक्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है और न ही किसी नवीन विचारधारा का प्रतिपादन ही। इन सबके अतिरिक्त तात्कालिक युग की सांस्कृतिक ऊंचाइयों को छूने का प्रयास भी इसमें नहीं हुआ है। यहाँ तो केवल कथा कहने का आग्रह ही प्रमुख रहा है। इन्हीं सब कारणों से यह कृति महाकाव्य के गौरव-पूर्ण आसन पर पदासीन होने की अधिकारिणी नहीं बन सकी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो गया कि ये कृतियाँ महाकाव्य तो नहीं मानी जा सकतीं। तो क्या हम इन्हें खण्ड काव्य की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं? किन्तु इनका कथा-विस्तार, प्रस्तुत पात्र की लगभग सम्पूर्ण जीवन गाथा का इनमें समाहित होना, प्रासंगिक कथाओं का आयोजन, वर्णन-विस्तार आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो कि इन्हें खण्ड काव्य की श्रेणी में रखने से आपत्ति करती हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि इन्हें फिर कौनसी श्रेणी में स्थान दिया जाये? इस प्रश्न का समाधान हमें हिन्दी साहित्य के इतिहास से मिलेगा, क्योंकि वहाँ भी इस प्रकार के अनेक काव्यों की रचनाएं हुई हैं जो महाकाव्य और खण्ड काव्य दोनों की ही परिधि में नहीं आतीं। ऐसे काव्यों के लिए उनके सामान्य लक्षणों के आधार पर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने एक नया ही वर्ग तैयार किया है और वह वर्ग है 'एकार्थ काव्य' का। एकार्थ काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश' में कहा गया है—

"१. एकार्थ काव्य की रचना भाषा या विभाषा में होती है। २. यह सर्गबद्ध होता है। ३. यह एकार्थ प्रवण होता है, अर्थात् चतुर्वर्ग में से कोई एक ही इसका उद्देश्य होता है। ४. इसमें सभी सन्धियाँ नहीं होती हैं, कुछ ही सन्धियाँ होती हैं। इसमें अनेक रस समभाव रूप से अथवा एक रस प्रधान रूप में रहता है।"[1]

एकार्थ काव्य की इस परिसीमा में पड़ते हुए हिन्दी के कतिपय तथाकथित महाकाव्यों पर समालोचनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए साहित्य कोशकार ने जो बातें लिखी हैं, कमोबेश रूप में राजस्थानी के इन आधुनिक प्रबन्ध काव्यों पर भी लागू होती हैं। स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हुए उनके

१. हिन्दी साहित्य कोश : सं० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति, पृ० सं० १८१

लिखा गया है—"अधिकतर कृतियों के शीर्षकों के साथ 'महाकाव्य' शब्द का संयोग तथा उनमें महाकाव्य के स्थूल लक्षणों–सर्गीकरण, सर्गान्त में छन्द परिवर्तन आदि का अनिवार्यतः पालन इस बात के प्रमाण हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग का कदाचित् ही कोई एकार्थ काव्य सर्गहीन है। फिर भी युगान्तर व्यापी सत्य, गंभीर जीवन–दर्शन, विराट कल्पना एवं शैली में गरिमा और उदात्तता के अभाव के कारण ये एकार्थ काव्य की सीमा से आगे नहीं जा सके हैं।"[1] यही स्थिति राजस्थानी के के इन तथाकथित महाकाव्यों के साथ रही है, अतः हम इन्हें एकार्थ काव्य से अधिक और कुछ नही मान सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन में आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों के सम्बन्ध में कतिपय विशिष्ट बिन्दुओं पर विचार करने के पश्चात् अब आगे प्रबन्ध काव्यों के सर्व स्वीकृत तत्वों के आधार पर उनकी सामान्य प्रवृत्तिगत विशेषताओं पर विचार किया जायेगा। ये तत्व हैं—१. कथावस्तु, २ चरित्र विधान, ३ वैचारिक एवं सांस्कृतिक परिवेश, ४. वर्णन, ५. रस–व्यंजना, ६. कला विधान एवं ७. सन्देश।

१. कथावस्तु

आधुनिक राजस्थानी के अधिकांश प्रबन्ध काव्यों का कथानक पुराण ग्रंथों, धार्मिक स्रोतों या इतिहास से लिया गया है। इस प्रकार स्वतन्त्र या कल्पित कथानक—जहां कि लेखक कथा को चाहे जैसा मोड़ दे सकता है—का आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में बहुत कम प्रचलन रहा है। पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक या पूर्व प्रसिद्ध कथानक को लेकर काव्य रचना करने वाले कवि को कथा संगठन की दृष्टि से पर्याप्त सतर्कता का परिचय देना पड़ता है। वह ऐसे कथानकों में एक सीमा तक ही परिवर्तन कर सकता है, जहाँ तक कि कथा के मूल स्वरूप को कोई आँच नहीं पहुँचे। ऐसे कथानकों में परिवर्तन मुख्य रूप से दो प्रकार से हो सकता है, प्रथम, कवि स्वीकृत कथानक के कुछ ऐसे प्रसंगों को छोड़ सकता है जो उसकी दृष्टि में महत्वपूर्ण नहीं है और काव्य को किसी भी प्रकार से आकर्षक या सुरुचि बनाने में सहायक नहीं हो रहे हों। द्वितीय, वह मूल कथानक में कुछ ऐसे (सम्भावित) प्रसंगों की कल्पना कर सकता है जो पात्रों के चरित्र में निखार ला सके एवं कृति को और अधिक आकर्षक तथा प्रभावी बना सकें। इन दोनों स्थितियों से आगे बढ़ने का प्रयास जब कभी किसी कवि द्वारा किया जाता है तो वह अनधिकार चेष्टा ही कही जायेगी। आधुनिक राजस्थानी के प्रबन्ध काव्यकारों ने अपनी सीमा का अतिक्रमण करते हुए कथा में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया है जो उसके मूल स्वरूप को ठेस पहुँचाता हो। जहाँ यह प्रवृत्ति शुभ मानी जायेगी वहाँ कहीं-कहीं इसकी कट्टरता से निर्वाह आज के बुद्धिजीवी पाठक के लिए एक उलझन भरी स्थिति भी उपस्थित कर देता है। क्योंकि पौराणिक एवं धार्मिक प्रसंगों और ऐतिहासिक घटनाओं के साथ बहुधा अनेक अलौकिक घटनाएं तथा किंवदन्तियां जुड़ी रहती हैं-जिन्हें यथा-तथ्य रूप में रखना आज का पाठक स्वीकारता नहीं है। वह इतिहासकार से यही अपेक्षा करता है कि वह कुशलतापूर्वक ऐसे प्रसंगों को निरस्त कर या तार्किक आधार प्रदान कर कथा को अधिक सुगठित एवं प्रामाणिक रूप प्रदान करे। आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यकारों में बहुतों ने इस बिन्दु की ओर ध्यान नहीं दिया है, फलतः उनके कथानकों में ऐसे प्रसंग सहज रूप में ही आ गये हैं। 'सीमदान', 'मद-मर्दन'

---

1. हिन्दी साहित्य कोश : सं० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति, पृ० सं० १६२

किसी देवी-देवता की स्तुति में न लिखी जाकर नारी-शक्ति की स्तुति में लिखी गयी है। 'रामदूत' में भी कविने प्रत्येक सर्ग से पूर्व उसके केन्द्रीय भाव की व्यंजक पंक्तियाँ रखी है।[1]

कथानक में नवीन प्रसंगों की उद्भावना एवं सोद्देश्य किये गये परिवर्तनों की दृष्टि से 'शकुन्तला,' 'राधा,' 'मानखो' एवं 'अमरफळ' उल्लेखनीय हैं। 'शकुन्तला' में महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' एवं कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के तो सभी महत्वपूर्ण प्रसग स्वीकारे ही गये हैं, किन्तु विवाह के पश्चात् शकुन्तला का स्वप्न में दुष्यन्त-दर्शन, गौतमी द्वारा शकुन्तला की स्थिति की ओर कण्व ऋषि का ध्यान आकर्षित करने का प्रसंग, दुष्यन्त द्वारा ठुकराये जाने पर शकुन्तला का स्वेच्छापूर्वक कश्यप के आश्रम में पहुँचना आदि कवि की मौलिक उद्भावनाएं हैं जो कि कथा-विस्तार एवं चरित्र-चित्रण में सहायक बन पड़ी हैं। 'राधा' में पूर्व स्वीकृत प्रसंगों को अपनाते हुए भी सम्पूर्ण कथा को एक नया अर्थ देने का प्रयास किया गया है। राधा और कृष्ण का प्रेम पारम्परिक न होकर विश्व के विशुद्ध प्रेम-भाव का प्रतीक है—जहाँ न छल है, न छद्म, न राग है, न द्वेष। 'राधा' की कथा भी स्थूल नही है। यहाँ राधा के प्रणय जीवन से सम्बन्धित सभी प्रमुख प्रसंगो को कवि ने अलग-अलग शीर्षकों[2] से प्रगीतों के रूप मे प्रस्तुत किया है। फलतः कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि 'राधा' में प्रबन्धात्मकता का सम्यक् निर्वाह नहीं हो सका है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। राधा मे कथा-सूत्र कहीं-कहीं अत्यन्त विरल होते हुए भी एकदम विच्छिन्न नही हुआ है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी स्मरणीय है कि जन-मानस मे राधा-कृष्ण की कहानी इस रूप मे समायी हुई है कि किसी गौण प्रसग के छूट जाने पर भी उसे कथासूत्र टूटा-टूटा-सा नजर नहीं आता। उसका संस्कारी मन स्वयं कथा के उन विशृंखलित धागों को जोड़ लेता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों की परम्परा से सर्वथा भिन्न यह कथा-रूप 'राधा' में कहाँ से आया ? स्पष्ट है कि 'राधा' के कथा-संघटन में कवि 'कनुप्रिया' से प्रभावित है।

---

१. प्रथम सर्ग प्रारम्भ करने से पूर्व कवि ने निम्न पंक्तियाँ प्रारम्भ में प्रसग से दी है —

राम लखण सूं मिलणे री आ पैली वेळा
धार वटुक रो रूप करयो जगळ में मेळा
जाण राम सूं भूतकाळ री सगळी का'णी
दो दुनियां में मेळ करावण उमटी वाणी।

रामदूत, पृ० सं० ८

इसी प्रकार हर सर्ग से पूर्व उसके केन्द्रीय भाव को व्यंजित करने वाली पंक्तियां रखी गयी है।

२. (१) मुरली (२) पैं'ड़ा पैं'ड़ (३) पूजा (४) दरसण (५) निरघट
(६) मागरा (७) बदनामी (८) मिलन (९) गोरधन (१०) रूठाव
(११) रास (१२) रूसणो (१३) होळी (१४) विदा (१५) पांख
(१६) रासलीलो (१७) घनश्याम (१८) विजोग (१९) पावणो (२०) जुध

राधा : सत्यप्रकाश जोशी

२. चरित्र-विधान

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों के अधिकांश पात्र धार्मिक, पौराणिक या ऐतिहासिक ग्रन्थों से सम्बन्धित रहे हैं। इस कारण उनका मूल स्वरूप सामान्यतः पहले से निश्चित रहा है और कवियों को नये सिरे से उनकी सृष्टि नहीं करनी पड़ी है। पर इस सुविधा के कारण कवियों को अपने पात्रों के चरित्रांकन में विशेष सजग भी रहना पड़ा है, क्योंकि साधारण पाठक जहाँ लोक-मानस में प्रतिष्ठित चरित्रों का अपवाद सहन नहीं कर सकता वहाँ लोक-तिरस्कृत पात्रों का उदात्तीकरण भी उसे अच्छा नहीं लगता है। पौराणिक, धार्मिक या ऐतिहासिक पात्रों के सन्दर्भ में उक्त दोनों स्थितियों से भिन्न एक और भी स्थिति हो सकती है और वह है—युगीन समस्याओं के निराकरण हेतु ऐसे पात्रों का आधुनिक नूतन रूप।

उपर्युक्त स्थितियों के सन्दर्भ में जब आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि कवियों ने पात्रों के मूल स्वरूप में अधिक परिवर्तन नहीं किया है। अधिकांश में वे अपने पूर्व निश्चित रूप में ही चित्रित हुए हैं। हाँ, कहीं-कहीं एकाध कवियों ने इस दृष्टि से कल्पना की अतिशय दौड़ लगाने की कोशिश की है, किन्तु इस अतिरेकपूर्ण दौड़ में वे ऐसे गिरे हैं कि अपने साथ कृति को भी ले गिरे हैं। 'रामदूत' में कई स्थलों पर ऐसा हुआ है। एक स्थल पर तो राम को सहज मानवीय कमजोरियों से युक्त चित्रित करने के मोह में कवि ने उनके मुख से सीता के प्रति ऐसे मनोद्गार भी व्यक्त करवा दिये हैं—

जे रावण में रमगी जोगी, पत घाई सूं सीरो।[1]

इस प्रकार राम का सीता के प्रति किया गया अनावश्यक सन्देह, राम और सीता दोनों के चरित्र की गरिमा के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। आगे भी एक स्थल पर सीता का यह कथन—

'दूजी तीजी मन' न कोई सूझे माता'[2]

उनके गौरवशाली चरित्र के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। वियोगिनी सीता, राम को सन्देश भेजते समय अपनी भूख-प्यास-जन्य व्याकुलता का उल्लेख करे, यह गंभीर आदर्शवाद की धनी एवं सहनशक्ति की साक्षात् प्रतिमूर्ति सीता के लिए कहाँ तक शोभनीय कहा जा सकता है?

'राधा,' 'ऋतुम्भरा' और 'देहूपां की डिकरी' में पात्रों के चरित्र को अधिक सजीव एवं प्रभावी बनाने की दृष्टि से यथोचित परिवर्तन किये गये हैं। 'राधा' में श्री जोशी ने राधा को प्रेम की एक सर्वोच्च मूर्ति के रूप में चित्रित किया है। उसे इस बात से कोई फर्क नहीं है कि उसका प्रिय सबको मुक्त हस्त से प्रेम का दान करता है। जब गोपियाँ अब राधा का प्यार इस ओर [illegible] का [illegible] करती हैं, तो वह कृष्ण की इस सादगी पर हँस पड़ती है।[3] श्री [illegible] एक [illegible] के [illegible]

1. रामदूत : श्रीमन्तकुमार व्यास, पृ० सं० २४
2. वही, पृ० ६८
3. राधा : श्री सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० ४१ (द्वितीय संस्करण)

में—"राधा के प्रेम ने विश्व की समस्त पीड़ा को आत्मसात कर लिया है। वह पवित्र प्रेम का चिर प्रतीक है, वह विश्व के सृजनात्मक तत्त्वों का पोषक है।"[1]

राधा का चित्रण प्रेम की समर्पित मूर्ति एवं आत्म-विस्मृत नायिका के रूप में तो अन्य काव्यों में भी देखने को मिलता है पर इस काव्य में राधा का जो मातृ-वत्सला रूप प्रस्तुत किया गया है वह बड़ा ही अनूठा, मार्मिक और सांकेतिक बन पड़ा है। उसके मन की कोई अधूरी साध है तो—

> दूधा कद भीजै म्हारी कांचळी,
> कद म्हारै कांधै पड़सी लाळ
> कद तो धोऊंला पीळा पोतड़ा।[2]

वह भयानक जंगल में कृष्ण की बाट जोहती, पग-पग पर आपत्तियों से जूझती निसदिन घूमती थी? अपने प्यार की निशानी के रूप में एक सलोने बालक की प्राप्ति के लिए ही तो। इसीलिए तो उसे अपनी प्रीत 'अडोळी' लगती है और 'अलूणी' गोद के कारण ही तो वह यह कहने को विवश है कि—

> प्रीतड़ली निरफळ म्हारै भाग,
> कोई गूंण तो अपगूंणा म्हारै होय,
> करम तो माड़्या वेमाता झूरणा।[3]

'राधा' की भांति ही 'शकुन्तला', 'मानखो' तथा 'देळ्या को दिवलो' में उनके रचयिताओं ने प्रमुख पात्रों को सजाने संवारने में विशेष उत्साह दिखलाया है। तन्वंगी शकुन्तला "कामदेव री रमणीय रती" और "मंजुलता री मूरत मनहर" ही नहीं अपितु आज के युग की स्वाभिमानी नारी भी है, जो अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग एवं निश्चय के प्रति दृढ़ है।

दुष्यन्त के यहाँ से तिरस्कृत होकर लौटने पर शकुन्तला के साथ गयी कण्व ऋषि के आश्रम की वृद्ध महिला मां गौतमी शकुन्तला से आग्रह करती है कि वह पुनः पितृ-गृह लौट चले। शकुन्तला अन्धकार पूर्ण भविष्य को देखते हुए भी जिस दृढ़ता से मां के उस प्रस्ताव को ठुकरा देती है, वह शकुन्तला के स्वाभिमानी चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है—

> बोली शकुन्त, 'माता मेरी,
> माइत रै घर स्यूं विदा हुई।
> माइत तो फरज निभा दीन्यो,
> माइत घर लागूं घणी बुरी।
> जे नारी साची हूँ माता,
> तो नारी धरम निभाऊंली।
> मैं देखूं'ली दुरवासा नै,
> हूँ अमर जोत जगाऊंली।'[4]

---

1. राधा सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० २६ (द्वितीय संस्करण)
2. वही, पृ०सं० ८६ (द्वितीय संस्करण)
3. वही, पृ०सं० ८६ ,, ,,
4. शकुन्तला, पृ०सं० १०३

२. चरित्र-विधान

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों के अधिकांश पात्र धार्मिक, पौराणिक या ऐतिहासिक प्रसंगों से सम्बन्धित रहे हैं। इस कारण उनका मूल स्वरूप सामान्यतः पहले से निश्चित रहा है और कवियों को नये सिरे से उनकी सृष्टि नहीं करनी पड़ी है। पर इस सुविधा के कारण कवियों को अपने पात्रों के चरित्रांकन में विशेष सजग भी रहना पड़ा है, क्योंकि साधारण पाठक जहाँ लोक-मानस में प्रतिष्ठित चरित्रों का अवरोह सहन नहीं कर सकता वहाँ लोक-तिरस्कृत पात्रों का उदात्तीकरण भी उसे अच्छा नहीं लगता है। पौराणिक, धार्मिक या ऐतिहासिक पात्रों के सन्दर्भ में उक्त दोनों स्थितियों से भिन्न एक और भी स्थिति हो सकती है और वह है—युगीन समस्याओं के निराकरण हेतु ऐसे पात्रों का आधुनिक कृत रूप।

उपर्युक्त स्थितियों के सन्दर्भ में जब आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि कवियों ने पात्रों के मूल स्वरूप में अधिक परिवर्तन नहीं किया है। अधिकांश में वे अपने पूर्व चित्रित रूप में ही अंकित हुए हैं। हाँ, कहीं-कहीं एकाध कवियों ने इस दृष्टि से कल्पना की अतिशय दौड़ लगाने की कोशिश की है, किन्तु इस अविवेकपूर्ण दौड़ में वे ऐसे फिसले हैं कि अपने साथ कृति को भी ले गिरे हैं। 'रामदूत' में कई स्थलों पर ऐसा हुआ है। एक स्थल पर तो राम को सहज मानवीय कमजोरियों से युक्त चित्रित करने के मोह में कवि ने उनके मुख से सीता के प्रति ऐसे संशयोद्गार भी व्यक्त करवा दिये हैं—

जे रावण में रमती जोवै, घर आई तूं सीरां।[1]

इस प्रकार राम का सीता के प्रति किया गया अनावश्यक सन्देह, राम और सीता दोनों के चरित्र की गरिमा के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। आगे भी एक स्थल पर सीता का यह कथन—

'भूखी तीसी मरू न कोई पूछै साता'[2]

उसके गौरवशाली चरित्र के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। वियोगिनी सीता, राम को सन्देश भेजते समय अपनी भूख-प्यास-जन्य व्याकुलता का उल्लेख करे, यह गंभीर व्यक्तित्व की धनी एवं सहनशक्ति की साक्षात् प्रतिमूर्ति सीता के लिए कहाँ तक शोभनीय कहा जा सकता है ?

'राधा,' 'शकुन्तला' और देळ्यां की दिवलो' में पात्रों के चरित्र को अधिक सजीव एवं प्रभावी बनाने की दृष्टि से अभीष्ट परिवर्तन किये गये हैं। 'राधा' में श्री जोशी ने राधा को प्रेम की एक समर्पित मूर्ति के रूप में चित्रित किया है। उसे इस बात से कोई डाह नहीं है कि उसका प्रिय सबको मुक्त हस्त से प्रेम का दान करता है। अन्य गोपियां जब राधा का ध्यान इस ओर खींचने का प्रयास करती हैं, तो वह कृष्ण की इस नादानी पर हँस पड़ती है।[3] श्री कोमल कोठारी एवं विजयदान देथा के शब्दों

1. रामदूत : श्रीमन्नकुमार व्यास, पृ०सं० २५
2. वही, पृ० ६२
3. निरख, राधा : श्री सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० २१ (द्वितीय संस्करण)

में—"राधा के प्रेम ने विश्व की समस्त पीड़ा को आत्मसात कर लिया है। वह पवित्र प्रेम की चिर प्रतीक है, वह विश्व के सृजनात्मक तत्त्वों की पोषक है।"[1]

राधा का चित्रण प्रेम की समर्पित मूर्ति एवं आत्म-विस्मृत नायिका के रूप में तो अन्य काव्यों में भी देखने को मिलता है पर इस काव्य में राधा का जो मातृ-वत्सला रूप प्रस्तुत किया गया है वह बड़ा ही अनूठा, मार्मिक और सांकेतिक बन पड़ा है। उसके मन की कोई अधूरी साध है तो—

> दूधां कद भीजै म्हारी काचळी,
> कद म्हारै कांधे पड़सी लाळ
> कद तो धोऊंला पीळा पोतड़ा।[2]

वह भयानक जंगल में कृष्ण की बाट जोहती, पग-पग पर आपत्तियों से जूझती किसलिए घूमती थी? अपने प्यार की निशानी के रूप में एक सलोने बालक की प्राप्ति के लिए ही तो। इसीलिए तो उसे अपनी प्रीत 'अदोळी' लगती है और 'अलूणी' गोद के कारण ही तो वह यह कहने को विवश है कि—

> प्रीतड़ली निरफळ म्हारै भाग,
> कोई सूंणा तो अपसूंणा म्हारै होय,
> करम तो माड्या बेमाता झूरणा।[3]

'राधा' की भांति ही 'शकुन्तला', 'मानखो' तथा 'देळ्या को दिवलो' में उनके रचयिताओं ने प्रमुख पात्रों को सजाने संवारने में विशेष उत्साह दिखलाया है। तनवीं शकुन्तला "कामदेव री रमणीय रती" और "मजुलता री मूरत मनहर" ही नहीं अपितु आज के युग की स्वाभिमानी नारी भी है, जो अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग एवं निश्चय के प्रति दृढ़ है।

दुष्यन्त के यहां से तिरस्कृत होकर लौटने पर शकुन्तला के साथ गयी कण्व ऋषि के आश्रम की वृद्ध महिला मां गौतमी शकुन्तला से आग्रह करती है कि वह पुनः पितृ-गृह लौट चले। शकुन्तला अन्धकार पूर्ण भविष्य को देखते हुए भी जिस दृढ़ता से मां के उस प्रस्ताव को ठुकरा देती है, वह शकुन्तला के स्वाभिमानी चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है—

> बोली शकुन्त, 'माता मेरी,
> माइत रै घर स्यूं विदा हुई।
> माइत तो फरज निभा दीन्यो,
> माइत पर लागू घणी बुरी।
> जे नारी साची हूं माता,
> तो नारी धरम निभाऊंली।
> मैं देखूंली दुरवासा नै,
> हूं अमर जोत जगाऊंली।'[4]

1. राधा: सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० २६ (द्वितीय संस्करण)
2. वही, पृ०सं० ८६ (द्वितीय संस्करण)
3. वही, पृ०सं० ८६
4. शकुन्तला, पृ०सं० १०३

शकुन्तला का यह निश्चय जहाँ अपमानित एवं आहत नारी-हृदय के क्षोभ एवं आक्रोश को व्यक्त करता है, वहाँ उसके मर्दित अहं एवं चोट खाये हृदय की मनोविज्ञान सम्मत प्रतिक्रिया को भी। शकुन्तला के इस निश्चय के पीछे आज की स्वाभिमानिनी नारी का दर्प देखा जा सकता है। उसकी यह ललकार - "मैं देखूंली दुरवासा नैं" उसके अन्तर में छिपे इस निश्चय—

जग जाणै है नारी कोंगी,
आंसू री वणी पोटळी है।
पण जग ने हूँ जतळा देस्यूं
आ मोटी शक्त जोत री है।[1]

की ही प्रतिध्वनि है।

नारी चरित्रों को 'राधा' एवं 'शकुन्तला' मे ही प्रधानता नही मिली है, अपितु 'मानखो' एवं 'देळ्यां को दिवलो', मे भी वह छायी हुई है। डा० मनोहर शर्मा के 'मरवण' का नामकरण भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। उन्होंने 'ढोला-मारू' के प्रसिद्ध कथानक को अपनाते हुए भी अपनी कृति का नाम 'ढोला-मरवण' या 'ढोला' न रख कर, नारी प्राधान्य के कारण ही 'मरवण' रखा है। 'देळ्यां को दिवलो' मे प्रधान चरित्र महाराणा प्रताप का होते हुए भी पन्नाधाय, कविवर पृथ्वीराज की पत्नी किरण और महाराणा की पत्नी पदमा को पर्याप्त महत्व दिया गया है। 'मानखो' की सुभद्रा का तेजस्वी व्यक्तित्व तो पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। 'मानखो' में जहाँ एक ओर उसकी नारी सुलभ कोमलता एवं मातृवत्सलता को उभारा गया है, वहाँ दूसरी ओर उसके क्षत्रियाणी तेजस्वी व्यक्तित्व को भी दृढ़ता के साथ प्रस्तुत किया गया है। नारी सुलभ करुणा एवं राजकुलोत्पन्न गर्विमावश वह चित्रसेन गन्धर्व को अन्याय का नाम सुनकर ही अभय दान दे देती है और बाद मे उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में अपने सगे भाई कृष्ण को जान कर भी वह अपने वचनों से पीछे नहीं हटती है। इस परिस्थिति मे उसका आक्रोश कुछ और बढ़ जाता है। युद्ध के लिए अर्जुन को तत्पर करने से पूर्व के वार्तालाप एवं पश्चात् रणांगण मे कृष्ण के साथ हुए बाहुयुद्ध में आक्रोश मग्न सुभद्रा का जो रूप निखरता है वह भुलाये नहीं भूलता। युद्ध भूमि में कृष्ण के बाण से आहत अर्जुन मूर्छित पड़ा है, बहिन की ममता के वशीभूत कृष्ण सांत्वना देने आगे बढ़ते हैं किन्तु कथानक के इस चरम बिन्दु पर एकाएक सुभद्रा की आर्द्र कण्ठ की वाणी गूँज उठती है—

हरि आता देख, सुभदरा उठ
गळ गळी बणी "थमज्याया थे।
मैं पाग पड़ यां भुज भाई
पाछू रै मती मनाया थे।"[2]

और केवल वाणी रूप में ही नहीं, अपितु क्रिया रूप मे भी वह—

अँ इयां हाथ गांडीव लियो,
गीली पलका मे रीस रमी।[3]

कृष्ण से युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाती है।

---

१. शकुन्तला, पृ०सं० १०३
२. मानखो : गिरधारीसिंह पड़िहार, पृ०सं० ७६
३. वही, पृ०सं० ७७

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में उभरे प्रखर नारी-चरित्रों की तुलना में पुरुष-चरित्र इतने प्रभावशील नहीं बन पड़े हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके चरित्रों में ऐसा कोई मोड़ या परिवर्तन नहीं आया हो—जिसे उल्लेखनीय माना जावे। 'मरुमयंक', 'रामदूत', 'देळ्यां को दिवलो', 'रामकथा' आदि प्रबन्ध काव्यों में पुरुष चरित्र को अपेक्षित महत्त्व प्रदान करते हुए, उन्हें युगीन विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में पुनर्मूल्यांकित किया गया है। रामदेव जनसाधारण में भौतिक-कष्ट-निवारक, चामत्कारिक सिद्धियों के स्वामी और 'परचों' के देने वाले के रूप में लोकप्रिय एवं पूजित हैं। जन-साधारण में उनके प्रति जो श्रद्धाभाव है उसका मूल रामदेव की अलौकिक शक्तियां एवं उनसे सम्बद्ध चामत्कारिक घटनाओं की किंवदन्तियां हैं। पर 'मरुमयंक' के प्रणेता ने रामदेव के सम्बन्ध में प्रचलित इन किंवदन्तियों को विशेष महत्त्व नहीं दिया है, अपितु उसने उन्हें अपने युग के एक महान् जन-नेता के रूप में चित्रित किया है। रामदेव की लोकप्रियता का कारण उनका चमत्कारी व्यक्तित्व नहीं अपितु उनका जन-साधारण की समस्याओं में गहरी रुचि लेना और राजकीय वैभव को त्याग, सामान्य-जन के साथ एकमेव हो जाना रहा है। उच्च राजवंश में उत्पन्न होकर भी उन्होंने जहाँ एक ओर ऊंच-नीच और छूआ-छूत की भावनाओं को समाप्त किया, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की तात्कालिक आवश्यकता के अनुरूप हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार रामदेव का 'परचों' और चमत्कारों से अलग हटा यह लोकोपकारी मानवीय स्वरूप अधिक स्वाभाविक और मार्मिक बन पड़ा है।

'मरु-मयंक' की भांति ही 'रामदूत' में भी नायक हनुमान के चरित्र को उभारने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। राम कथा के साथ तो हनुमान का उल्लेख प्रायः सर्वत्र मिल जायेगा किन्तु उनके व्यक्तित्व को लेकर ही स्वतंत्र काव्य-लेखन अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। 'रामदूत' में इसी बिन्दु को ध्यान में रखते हुए हनुमान के व्यक्तित्व की एक पूर्ण झांकी प्रस्तुत की गई है। पूरे काव्य में हनुमान के व्यक्तित्व के तीन रूप उभर कर सामने आते हैं—प्रथम है–नीति-कुशल एवं कूटनीतिज्ञ हनुमान, द्वितीय है–निर्भीक एवं पराक्रमी हनुमान तथा तृतीय है–पूर्ण समर्पित एवं स्वामीभक्त हनुमान। राम–सुग्रीव मैत्री एवं लंका में दौत्यकर्म प्रसंग में जहाँ हनुमान के व्यक्तित्व का प्रथम स्वरूप उभर कर सामने आया है, वहीं समुद्र-लंघन, लंका-दहन एवं राम-रावण युद्ध के प्रसंगों में बाहुबलि हनुमान का ओजस्वी रूप उभरा है और राम-दरबार प्रसंग में पूर्ण समर्पित भक्त हनुमान के दर्शन होते हैं।

'देळ्यां को दिवलो' के नायक राणा प्रताप का चरित्र अनेक ऐतिहासिक विवादों के पश्चात् भी जन-साधारण में स्वतन्त्रता के अनन्य उपासक के रूप में अति लोकप्रिय रहा है। प्रस्तुत कृति में भी कवि ने यथा-सम्भव उनके लोक-स्वीकृत, ओजस्वी, संघर्षशील एवं स्वातन्त्र्य प्रेमी चरित्र को ही उभारने का प्रयास किया है—यद्यपि उसने उनके सहज मानवीय रूप को भी नहीं भुलाया है। कहीं वे अत्यधिक उत्तेजित नजर आते हैं तो कहीं विचलित और कहीं परिवार के मोह में मग्न।

समग्र-रूप से आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में गांधी, शकुन्तला और सुभद्रा का प्रखर व्यक्तित्व, मां गोतमी का मातृवत्सला-स्वरूप, रामदेव का समन्वयवादी चरित्र, राणा प्रताप का सहज मानवीय रूप, रामकथा के राम का पारम्परिक आदर्श रूप, नचिकेता का अध्यात्म-प्रधान व्यक्तित्व एवं गुरु गोविन्दसिंह का दुर्दमनीय और तेजस्वी स्वरूप उल्लेखनीय बन पड़ा है।

३. वैचारिक एवं सांस्कृतिक परिवेश

किसी भी साहित्यकार का अपने युग की सांस्कृतिक एवं वैचारिक धारा से अछूता रह पाना सम्भव नहीं है। वस्तुतः उसे अपने युग का चितेरा उसी स्थिति में कहा जा सकता है, जबकि युग-चिन्तन की प्रतिध्वनि उसके काव्य में सुनी जा सके। इसके लिए आवश्यक नहीं की काव्य का विषय अनिवार्य रूप से वर्तमान जीवन से सीधे सम्पृक्त हो, पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों के माध्यम से भी वह युगीन विचारधारा का प्रतिपादन करता चलता है। ऐसे प्रसंगों के चयन के साथ उससे यह आशा की जाती है कि वह उन पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रसंगों को भी युगानुरूप नवीन अर्थवत्ता प्रदान करे तथा जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों एवं बदलते मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उन्हें नवीन सन्दर्भों में प्रस्तुत करे। इस दृष्टि से जब आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि जहां उनमें प्राचीन कथा और पात्रों के साथ युगीन विचारधारा संपृक्त है वहीं राजस्थान की संस्कृति भी अपने स्थानीय रंगों के साथ मुखर है।

आज की वैज्ञानिक प्रगति ने मानव की चिन्तन प्रक्रिया को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। *आज वह सहज रूप से किसी बात को नहीं स्वीकारता। जो बुद्धिगम्य और तर्कसंगत है वही* उसके लिए मान्य है। आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यकार युग की बौद्धिकता व तार्किकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं।

प्रजातन्त्र शासन प्रणाली ने आज जन-शक्ति के महत्व को बहुत बढ़ा दिया है। आज जनता से ऊंची और कोई सत्ता नहीं है। जनशक्ति की अवहेलना, किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं कही जा सकती। तभी तो पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों के मुख से भी ऐसे उद्गार व्यक्त हुए—

क. जुलम ज्यादती कदे न सहसी आज जागती जनता।[1]

ख. जनता री आवाज दिशाणै यैं राजा अब रहसी।
जुलम ज्यादती मनमानी करणा'ळा बेगा ढहसी।[2]

ग. जनसेवा सूं पावै राजा निस्चै ही निसतारो।[3]

जागती जनता की इस चेतना का उल्लेख स्पष्टतः वर्तमान कालिक चिन्तन का ही प्रभाव है। १५वीं शती के रामदेव भी जनता के साथ मिलकर शासन-प्रबन्ध करने की बात सोचते हैं—

रामराज री भार,
सिताजी सूंप्यो सारो,
मिलकर करां प्रबन्ध,
जर्द में हित आपां रो।[4]

यही नहीं, वे तो जीवन के हर क्षेत्र में सहकारिता को लाना चाहते हैं—

१. रामदूत, पृ०सं० ५७
२. वही, पृ० सं० ७२
३. वही, पृ० सं० ७२
४. समर्पण, पृ० सं० १०१

बणसी उतणो लाभ
सदा सगळा नै मिलसी
हुसी हकरो न्याव,
चाव सूं भेळो मिलसी[1]

इससे भी आगे बढ़कर मानव-समता की जो बात कवि ने उनके मुख से कहलायी है, वह निश्चय ही आज के सुलझे हुए प्रगतिशील चिन्तक की वाणी लगती है—

अब मिनख-मिनख में भेद नहीं,
सगळां में एक अलख जागो,
श्री रामदेव रै राजस में,
हिन्दू मुस्लिम रो भ्रम भागो।[2]

स्पष्ट है कि मानव-समता और साम्प्रदायिक एकता के ये भाव १५ वीं शती की उपज नहीं, अपितु इनके पीछे कवि का अपना ही युग बोल रहा है।

आज हमारे चिन्तन का धरातल काफी बदल गया है। अब ईश्वर और उनके अवतारों की गरिमा चमत्कारपूर्ण कार्यों में न रहकर उनके जनसेवक रूप में समाहित हो गई है—

रीत रायतां रो जाळ मर्यादा में सब नै ढाळ
हिम्मत हार हुयां बिना भोम नैं सुधारूंला
लुच्चाई रो लोप बाट सच्चा रो धर्म ठाट
जनसेवा रो सांचो जुग सुर्ग सूं उतारूंला[3]

'रामदूत' के राम भी अपने जीवन की सार्थकता, मर्यादा की स्थापना और जनसेवा का सच्चा आदर्श प्रस्तुत करने में ही मानते हैं, भक्तों से अपना ईश्वरत्व मनवाने में नहीं।

जीवन-संघर्षों से दूर, गहरे जंगलों और गहन गुफाओं में तपस्यारत होने को आज जीवन से पलायन माना जाने लगा है। जीवन के रहस्यों और मानव समस्याओं का समाधान जीवन से पलायन कर नहीं, अपितु उनके बीच गुजरते हुए नव पथ का अन्वेषण कर ही किया जा सकता है। जीवन से भागकर जीवन की परिभाषा कैसे समझी जा सकती है—

जे काया माया में रैती,

ममता री अकल मगज आती।
जग में रहणै स्यूं जीवण री
परिभाषा नहीं समझ आती।[4]

---

१. मरु-मयंक, पृ० सं० ११०
२. वही, पृ० सं० १०८
३. रामदूत, पृ० सं० १६
४. मृगतृष्णा पृ० सं० ५१

'राधा' और 'शकुन्तला' में भी स्थानीय प्रभाव को परिलक्षित किया जा सकता है, किन्तु उसका विस्तार खटकने की सीमा तक नहीं हुआ है। 'शकुन्तला' काव्य में 'कूंजा' के हाथों शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त को भेजे गये सन्देश में 'कूंजा' शुद्ध राजस्थानी परिवेश की उपज है, फिर भी आलोचकों की आपत्तियों की शिकार नहीं है। 'राधा' में कृष्ण की मंगल-कामना के लिए राधा द्वारा बोले गये 'राती-जोगे' भी तो स्थानीय प्रभाव का ही तो परिणाम है—

> जद काळी नाग नैं नाथण
> कान्ह जमना में चिमकी मारी
> तो उणरी कुशळ कामना सारू
> देई-देवता नैं
> रातीजगा री बोलवां कुण बोली ?[1]

कृति के मूल कथ्य के साथ तालमेल बैठने के कारण ऐसे वर्णन आलोचना का विषय नहीं बन सकते।

इस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सायास या अनायास राजस्थानी के ये प्रबन्ध काव्य स्थानीय वातावरण से प्रभावित-प्रेरित हैं। इनमें न केवल राजस्थानी *संस्कृति एवं सामाजिक मान्यताएं* ही प्रतिबिम्बित हुई हैं, वरन् यहाँ की प्रकृति भी बीच-बीच में यथा-प्रसंग अपनी झलक दिखाती रही है। इतना सब कुछ होते हुए भी इनका आंचलिक रंग या स्थानीय प्रभाव इतना गाढ़ा नहीं हो गया कि कोई कृति केवल आंचलिक कृति भर बनकर रह गयी हो।

वर्णन—

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में—विशेष रूप से पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानक पर आधारित काव्यों में-इतिवृत्त की प्रधानता होने के कारण अपेक्षित वर्णन-विस्तार मिलता है। ये वर्णन कहीं काव्य-कथा को विस्तार देने की दृष्टि से, तो कहीं कथानक की आवश्यकता के आधार पर और महाकाव्य शास्त्रीय लक्षणों की पूर्ति की दृष्टि से किये गये हैं। इन वर्णनों में युद्ध-वर्णन, प्रकृति-वर्णन और पुत्र-जन्म, विवाहादि उत्सवों पर संपादित किये जाने वाले रीति-रस्मों से सम्बन्धित वर्णन ही अधिक हुए हैं।

युद्ध-वर्णन के प्रसंग 'रामकथा,' 'रामदूत,' 'मरु-मयंक,' 'मानखो,' 'शकुन्तला,' 'राधा,' 'देळ्यां को दियनो' आदि प्रबन्ध काव्यों में विस्तार या संक्षेप से अवश्य आये हैं। ये वर्णन अधिकांश में पारम्परिक ढंग से ही हुए हैं। युद्ध-सम्बन्धी प्रचलित काव्य-रूढ़ियों एवं परम्पराओं का निर्वाह ही इनमें विशेष रूप से हुआ है। जैसे 'रस-व्यंजना' पर विचार करते समय इन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है अतः यहां पुनरावृत्ति के भय से इनके बारे में विशेष नहीं लिखा जा रहा है।

रीति-रस्मों से सम्बन्धित वर्णनों की दृष्टि से 'रामकथा' और 'मरु-मयंक' में उनके रचयिताओं की विशेष रुचि परिलक्षित होती है। 'रामकथा' का प्रारम्भ ही रामजन्म के उत्सव से होता है। कवि ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ नगर की सजावट, नागरिकों के उत्साह, रनिवास की चहल-

1. राधा : श्री सत्य प्रकाश जोशी, पृ० सं० ७८ (द्वितीय संस्करण)

महल, परिजनों के आपसी परिहास और नृत्यजनों (कालू-कमीण) के उल्लास के साथ-ही-साथ, नामकरण-संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का वर्णन कवि ने उत्साह से किया है। कवि का यह उत्साह राम विवाह प्रसंग पर भी पूर्ववत् देखा जा सकता है। विभिन्न 'नेगचारों' के साथ चारों भाईयों का विवाह जिस विधि से सम्पन्न हुआ, उसका यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

लियां नीम की डाळिया खड्यो नेवगो च्यार।
च्यारूं दूल्हा मारिया, द्वारै तोरण च्यार।
कांमण गावैं कामणी, चौक मोतिया पूर।
भांण-बेटिया मागरी, अड़-अड़ के दस्तूर।
भूवां निज-निज वींद कै, दिया पीडिया मार
सीता की मां हरखती, भर मोत्या में थाळ
करै जुहारी, आरता, राई-लूण उछाळ।[1]

इसके साथ ही सज्जन-गोठ, विदाई आदि प्रसंगों का विस्तार से वर्णन हुआ है। इन वर्णनों में उभरा सामयिक प्रभाव कहीं-कहीं कालदोष[2] का भागी बनने से नहीं बच पाया है।

'रामकथा' की तरह ही 'मरु-मयंक' के कवि ने भी ऐसे वर्णनों में काफी रुचि ली है। 'मरु-मयंक' का 'विवाह सर्ग'[3] तो पूरा का पूरा विवाह सम्बन्धी विधि-विधानों के वर्णनों से ही भरा पड़ा है—

जानी करै मनोल,
कवे क्यूं देर लगावो,
तोरण आयो वींद,
दही दे कुंवरी ल्यावो

---

१. रामकथा, पृ० सं० ४६

२. राम-विवाह-प्रसंग पर कवि ने जिन रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है उनमें से अधिकतर वर्तमान को सहज ही प्रसंग से पहिचाना जा सकता है। इसी प्रकार 'सजन गोठ' के अवसर पर उसने जिन मिठाइयों आदि का वर्णन किया है उनमें से कई का प्राचीन काल में कोई अस्तित्व नहीं था—

लाडू कतली और इमरती, रसभरी रस में ही भरती,
कलाकन्द अर मिसरीमावो, जो जीभे जी में ही मावो,
राजभोग बरफी रसगुल्ला, पणी छूट में लावो गुल्ला
घेवरपट्टी गुलाब जामुन, बणी मिठाया सागी धुन धुन
और भोज, कुण नाम गिनावै, मंडा रै मैं स्वादो आवै।
भुजिया दाळ समोसा प्यारा, पुरी साग रायता न्यारा।

रामकथा, पृ० सं० ४५

३. मरु-मयंक, पृ० सं० ७५ से १०२

हंसै सखी रो संग,
बींद झुक दही चिणायो
'सागू निरख जंवाई ए'
कामणियां गावी ।[1]

पूरे सर्ग में लगभग इसी प्रकार के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त पूरी कृति में यत्र-तत्र वर्णन विस्तार की ओर ही लेखक का ध्यान रहा है। वह कहीं 'शुगन विचार'[2] में रम गया है, तो कहीं राज्य-व्यवस्था कैसी हो ? उसका विस्तार से वर्णन करने लगा है[3] और कहीं आदर्श समाज की स्थिति के वर्णन में खो गया है।[4] कहने का तात्पर्य यही है कि इन कृतियों में रचनाकारों का ध्यान अधिकांश में या तो घटनाओं का इतिवृत्त प्रस्तुत करने में ही लगा रहा है या फिर विविध स्थितियों एवं विधानों से सम्बन्धित वर्णन-विस्तार में ही।

वर्णनों की इस परम्परा में प्रकृति-वर्णन ऐसा बिन्दु है जहाँ आधुनिक राजस्थानी प्रबन्धकारों ने कुछ अधिक रुचि ली है। चूँकि उसमें केवल इतिवृत्तात्मक तत्त्व ही नहीं उभरे हैं, अपितु कई सरस मनोहारी एवं कल्पनायुक्त मार्मिक स्थल भी आये हैं, अतः आगे उन पर किंचित् विस्तार से विचार किया जा रहा है।

प्रकृति-चित्रण

प्रबन्ध काव्यों में प्रासंगिक रूप से न्यूनाधिक रूप में प्रकृति का चित्रण किया जाता है। आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में भी प्रकृति-चित्रण की ओर प्रायः हर कवि ने ध्यान दिया है। कहीं यह लक्षण ग्रन्थों की शर्तों को पूरा करने की दृष्टि से हुआ है, तो कहीं प्रसंग की आवश्यकता के आधार पर। इन काव्यों में प्रकृति-चित्रण आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही रूपों में हुआ है। आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण में जहाँ एक ओर शुद्ध इतिवृत्तात्मक शैली[5] को अपनाया गया है वहाँ दूसरी ओर हृदय को 'झिलमा' लेने वाले नवीन उद्भावनाओं से युक्त चित्र भी खींचे गये हैं।[6] मानवीकरण के रूप में प्रकृति-

१. मरु मयंक, पृ० सं० ८८
२. वही, पृ० सं० १० एवं ८४
३. वही, शिक्षा सर्ग, पृ० सं० ४७
४. वही, समाज शिक्षा सर्ग, पृ० सं० १०३
५. सुन्दर-सुन्दर विरछ सुहाणा, पंछी गावै गीत सुहाणा
   च्यारूं मेर दिसै हरियाळी, फूल हंसिया डाळी-डाळी
   यो निरमळ पाणी रो झरणो, लागै दीसै नै मौनड़ कारणु
   हिरण-हिरणिया उछळै भागै, मोवणूं घणूं सुहाणूं लागै
   रामरथा : शिवचन्द्र, प्रथम ऐमो, पृ० सं० २०
६. भोळी भोळी सी मोरमदी,
   पूगी ही यूं मनुहार लिया।
   के उड़ी कोकिला हंसै हा,
   हुग मरव मन सिणगार करया।
   शकुन्तला : कल्याणसिंह राजावत, पृ० सं० ६

चित्रण के साथ-ही-साथ अलंकार-रूप में, प्रतीकात्मक रूप में एवं सन्देशवाहक के रूप में भी प्रकृति-चित्रण यत्र-तत्र देखने को मिल जाता है। यदा-कदा उपदेश-रूप में प्रकृति-चित्रण भी इन काव्यों में हुआ है।

प्रकृति का मानवीकरण रूप में चित्रण 'शकुन्तला' में ही विशेषरूप से हुआ है। जहाँ कहीं भी कवि को अवसर मिला है उसने तन्मय होकर प्रकृति-सौन्दर्य के प्रभावशाली चित्र खींचे हैं। मानवीय क्रिया-कलापों को प्रकृति पर आरोपित करने में तो कवि विशेष उत्साही दिखलायी पड़ता है, तभी तो उसे कभी हवा मस्ती में सोयी हुई प्रतीत होती है (बायरियो सूतो नींदड़ली), तो कभी सरोवर का जल स्थिर, तपस्या-रत योगी सा दिखाई पड़ता है (जळ जम्यो ऐस ही जोगी सो), तो कभी रजनी पूर्ण परितृप्ता नायिका की नाईं सुख की निद्रा में बेसुध पड़ी दिखाई देती है (ज्यू धाप्योड़ी सी रैन पड़ी) और कभी रात्रिकालीन वसुधा नई नवेली दुलहन सी प्रतीत होती है—

> या लाज चादणी हूवेड़ी,
> छाया लूकेड़ी कामुकता।
> ज्यूं हरख भाव में सामेड़ी,
> ही नई बीनणी सी वसुधा।[1]

प्रकृति को सन्देशवाहिका का कार्यभार 'कूंजा' और 'शकुन्तला' में सौंपा गया है। डा० मनोहर शर्मा का 'कूंजा' तो विशुद्ध सन्देश-काव्य की श्रेणी में आने वाली रचना है। बीकानेर के महाराजा दक्षिण की 'चाकरी' में रहते हुए अपनी प्रियतमा को जो सन्देश भेजते हैं, उसे ले जाने का भार वे 'कूंजा' (एक पक्षी विशेष) को सर्वाधिक उपयुक्त पात्र समझकर सौंपते हैं। उसे मार्गदर्शन कराते समय कवि जहाँ एक ओर राजस्थान के गौरवशाली इतिहास का वर्णन करता चलता है वहाँ दूसरी ओर यहाँ की प्रकृति के मनोरम चित्र भी खींचता चलता है—

> आपूणे अम्बर में हालो, धोरा को ससार।
> भूरी भूरी रेत सुरंगी, पसरी अन्त न पार॥
> या कुदरत की माया,
> मरुधर की सोभा जग में एक ना
> हिरदो सरसावै॥[2]

शकुन्तला भी अपने प्रियतम दुष्यन्त को अपना सन्देश भेजने के लिए 'कूंजा' को ही सम्बोधित करती है—

> कूंजा गागी जाय रो
> परणी उणे रै देस
> साजन नर्द सुणाइजे,
> म्हारो सो सन्देस।[3]

---

१. शकुन्तला : करणीदान बारहठ, पृ० सं० ४३
२. कूंजा, डा० मनोहर शर्मा, छन्द संख्या ८३
३. शकुन्तला : श्री करणीदान बारहठ, पृ० सं० ६१

और यों साजन को सन्देश ले जाने की बात कह, वह उसे आगे के मार्ग का परिचय करवाती हुई प्राकृतिक स्थितियों से भी अवगत कराती चलती है—

धुंआं तीखो लागसी,
दिखणादी है पून।
सूरजड़ो तपसी घणो
उड़सी आगे धूळ।[1]

प्रतीक रूप में प्रकृति-चित्रण डा० मनोहर शर्मा के 'अमरफळ' में हुआ है। नचिकेता के राह में आयी हुई, सिंह, सर्प, गुफा, आंधी आदि—बाधाएँ वस्तुतः मानव मनोविकारों की प्रतीक हैं। भ्रमित चित्तावस्था के प्रतीक रूप में पवन का यह चित्र द्रष्टव्य है—

सरणाती मारग भूली सी,
पून बावळी सी डोले।
रूंखां मांय उळझती चालै,
डूंगर में डिगती डोलै ॥६॥[2]

उपदेशात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण 'मरु-मयंक' में विशेष रूप से हुआ है—

रोजड़ियां सीनो तान खड़ी,
जाणै सत ग्यानर सनीं घटी
बावळिया भूडा सूं छाया,
जाणै कुभाव मन में आया।[3]

इन काव्यों में उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण प्रायः पारम्परिक ढंग से ही हुआ है। जो प्रकृति संयोग के क्षणों में संयोग-सुख को और अधिक बढ़ा देती है वही वियोगावस्था में और अधिक व्यथित करने वाली बन जाती है—

जग डोगी रै साथ बावळी किया लटूर्ण
पड़ प्रीतम रै हाथ जियां पण मूंडो घूमै
कंचन किरणां भाकर माथै ऐड़ी छिटगी
कुं कुं वाळो कामण जाणै म्हारा टगरी।[4]

यहां प्रकृति के संयोगात्मक चित्र राम को संयोगावस्था का स्मरण करवा कर और अधिक उद्दीप्त कर देते हैं, परन्तु 'राधा' में स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है—

भोळा पंछी बहूं कुरळावै,
म्हारी उमग मण भांझड मावै,
थारी तिरस म्हारो मन मुरझावै
थारी बळती दाह बुझाऊं
तद म्हैं जनम-जनम सुख पाऊं।[5]

---

1. [illegible], पृ० सं० ६१
2. अमरफळ : डा० मनोहर शर्मा
3. मरु-मयंक : श्री कान्ह महर्षि, पृ० सं० १०
4. रामदूत : श्री श्रीमन्तकुमार व्यास, पृ० सं० ९३
5. राधा : श्री सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० ८५-८६ (द्वितीय संस्करण)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति-चित्रण को प्रमुखता न मिलते हुए भी, उसकी सर्वथा उपेक्षा नहीं हुई है। शुष्क मरुदेशवासी कवियों ने अपने इन प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति के अनेक रम्य एवं आकर्षक चित्र खींचे हैं।

रस-व्यंजना

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में रस की दृष्टि से शृंगार, वीर और करुण रस की ही प्रधानता रही है, वैसे कहीं-कहीं हास्य, शांत एवं युद्ध के परिप्रेक्ष्य में वीभत्स एवं रौद्र रस का वर्णन भी मिल जाता है। शृंगार और वीर दोनों ही रसों का चित्रण अधिकांश में पारम्परिक ढंग से ही हुआ है।

शृंगार के उभय पक्षों, संयोग और वियोग के पारम्परिक एवं मौलिक उद्भावनाओं से युक्त वर्णन आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में यतस्ततः तो देखने को मिल ही जायेंगे, किन्तु रसराज शृंगार जिनका अंगीरस है, ऐसे कई स्तरीय प्रबन्ध काव्य भी आधुनिक राजस्थानी में लिखे गये हैं। इनमें प्रमुख हैं—'राधा,' 'शकुन्तला,' 'मरवण' एवं 'गोपीगीत'। प्रथम दो काव्यों में जहाँ लौकिक प्रेम का प्राधान्य रहा है, वहाँ अंतिम दो काव्यों में आध्यात्मिक प्रेम का। वैसे 'मरवण' और 'गोपीगीत' का कथानक भी लौकिक या पौराणिक प्रेम-गाथाओं से सम्बन्धित है किन्तु उनको आध्यात्मिकता का बाना पहनाये जाने के कारण उनका लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो गया है। जहाँ, 'राधा' में प्रेम बाल्यावस्था की विभिन्न स्वाभाविक स्थितियों से गुजरते हुए पूर्णता की ओर अग्रसर होता दिखाया गया है, वहाँ 'शकुन्तला' का प्रेम प्रथम-दृष्टि-परिचय का प्रेम है। उसका कथा संघटन इस रूप से हुआ है कि संयोग-शृंगार के विविध मनोहारी चित्र अंकित करने के अवसर उसमें अपेक्षाकृत कम आये हैं। फिर भी दोनों काव्यों में एक बात स्पष्ट है कि इनमें संयोग-शृंगार का जो चित्रण हुआ है वह अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है, लक्षण-ग्रन्थों के शास्त्रीय विधि-विधान इनके आड़े कहीं नहीं आये हैं। शृंगार की अनेक स्थितियों में कुछ ही का अंकन इनमें हो पाया है। यथा: सन्धि, पूर्वराग आदि के विरल चित्र ही इन कृतियों में देखने को मिलेंगे। प्रेम का विकास स्वाभाविक स्थितियों से गुजरते हुए कहीं भी स्थूल मांसलता या वासना के स्तर तक नहीं पहुँचा है। 'शकुन्तला' में प्रेम की चरम परिणति के रूप में दो बार शारीरिक मिलन (संभोग) का अंकन हुआ है, किन्तु उसमें कहीं भी वासना की उच्छृंखलता नहीं आ पाई है। कवि ने बड़े कौशल के साथ उस स्थिति की ओर इंगित भर किया है—

(क) हिवड़ै री कळियां खिलगी,
काया में ममता मिलगी।
मनगत री गरम हिलोरां,
यूं इकरस में हिल मिलगी।[1]

(ख) पत्ता भीड़े पत्ता भीने, मगरां पर घर हा मेघ जुड्या।
हिय पर-हिय पर तनमय मनमय, पल पल हा परमानंद पड्या।
रिमझिम बिरखा री बूंद पड़ी, हिवड़ा हूंस्या में हरस्या रा।
पळ में बदल्या हा फूल जरा, मैं पंग पमोद सिणगारया।[2]

१. शकुन्तला : श्री करणीदान बारहठ, पृ० सं० ५
२. वही, पृ० सं० २४

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कवि ने संयोग में पूर्व की स्थिति का चित्रण करने में जहाँ पर्याप्त उत्साह एवं कुशलता का परिचय दिया है वहाँ रतिश्रान्ता नायिका की मनोहारी छवि अंकित करने की ओर से वह सर्वथा उदासीन रहा है। यही स्थिति 'राधा' की भी रही है। इसके कवि ने प्रेम-पथ की मोहिनी गलियों के अनेक मनोहारी चित्र अंकित करते हुए भी स्थूल वासना की ओर कहीं दृष्टि-निक्षेप नहीं किया है। अत्यन्त स्वाभाविक स्थितियों में विकसित प्रेम के जो भव्य चित्र 'राधा' में अंकित हुये हैं वे राजस्थानी साहित्य की एक अनमोल थाती हैं। उसके 'पैला-पैल', 'पूजा,' 'पिणघट' 'मरवण' आदि में जो चित्र अंकित हुए हैं वे द्रष्टव्य हैं—

पण पैला पैल
सुगणी जसोदा रा जाया !
थूं म्हारो नांव पूछियो—
लजवंती लाज
म्हनै दूलेवड़ी कर न्हाकी।
दो आखरा रो भोळो-ढाळो नांव
म्हारै सूगलै कंठा रै
पीवण में भंवरां ज्यूं अटकग्यो।
म्हारै होठांरी निछमण-रेखा में
बेण जानकी दाभण लागी।[1]

प्रथम-मिलन के पश्चात् 'पिणघट' की यह छेड़-छाड़ भी कम आनन्ददायक नहीं है—

आज मन री म्यांनो दरगाऊं
अचपळा कान्ह !
जद म्हारी मटकी फूटै,
तो जाणूं नेहरा बादळ फूटै,
जाणूं प्रीत रो पांणी बरसै।
फूटी मटकी सूं जद धारोळा छूटै
तो जाणूं हेत रा झरणा फूटै।
भींज्योड़ा वगण जद म्हारी देह सूं लिपट जावै
तो म्हारा मन में यूं लखावै—
म्हारो कोडीलो कान्ह म्हनै बाथां में भरली।
थारी बाथां रो ओ बंधण
म्हनै जुग जुग रै बंधण सूं
मुगती देवै।[2]

इसी प्रकार के अन्य सरस वर्णनों की मनोहारी छटा 'राधा' में जगह-जगह देखने को मिल जायेगी। 'रामरमा', 'रामदूत' प्रभृति रामकथा पर आधारित काव्यों में यदि सोम सरयाग शृंगारिक

1. राधा : श्री सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० ३५-३६ (द्वितीय संस्करण)
2. वही, पृ० सं० ४६

स्थलों को बचा गये हैं। राम के प्रति पूज्य भाव ही इसका मुख्य कारण कहा जा सकता है। हां, विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन करने में इन कवियों को कोई दोष दिखायी नहीं दिया है, अतः राम और सीता की वियोगपूर्ण मनःस्थिति का अंकन इनमें अवश्य हुआ है। वियोग की दस स्थितियों में मरण और मूर्च्छा को छोड़, अन्य सभी का न्यूनाधिक रूप में अंकन हुआ है। 'मानखो' की स्थिति अलबत्ता इस दृष्टि से भिन्न है। गन्धर्व चित्रसेन की संभावित मृत्यु की कल्पना से ही उसकी प्रेयसी सिहर उठती है और प्रिय की उपस्थिति में ही संभावित वियोग का जो हृदय द्रावक चित्र वह अंकित करती है, उसे करुण-विप्रलम्भ के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है—

थां बिछड्यां साजन कुरज जियां
हूं भाखी भ्रमर कुरळाऊं।
इण स्यूं तो आछो राम रळूं,
बाथां में भेळी बळ ज्याऊं॥[1]

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में संयोग-शृंगार की अपेक्षा वियोग-शृंगार का ही प्राधान्य रहा है। 'कूंजा', 'गोपी गीत' और 'रामदूत' का तो कथा-संयोजन ही इस ढंग से हुआ है कि उनमें संयोग का कोई अवसर ही नहीं आया है। अतः ऐसी स्थिति में यहां केवल विप्रलम्भ-शृंगार का ही चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त भी 'रामकथा', 'मानखो' एवं 'शकुन्तला' में वियोग-शृंगार का ही प्राधान्य रहा है। 'राधा' और 'मरवण' ये ही दो मुख्य प्रबन्ध काव्य ऐसे हैं जहां शृंगार के उभय-पक्षों का समान चित्रण हुआ है। विप्रलम्भ-शृंगार की दृष्टि से जो चित्र इन काव्यों में अंकित किये गये हैं, उनको पारम्परिक चित्रों से अलगाया नहीं जा सकता। यहां भी तन की भूख से व्यथित, नायक-नायिकाएं मौसमी प्रभावों से व्याकुल होकर यों प्रिय को पुकारते स्पष्ट सुने जा सकते हैं—

(क) पाणी बिन या बाड़ी सूकै, माळी वेगो आव।
तन में मन में भरी वेदना, अब आया ही साव।
यो जोबन थिर नाहीं
बादळ की बूंदां सागै लायसी।
बिजळी डरपावै॥८५॥[2]

(ग) गज मोत्यां सेभी रग पारी, हाळी वेगो आव।
जोबन ज्यूं बरसाती नाळो, चाल्यो आयो साव॥
जीणो निरफळ पाऱ्यो,
गिरभी में मोधं हीरो एकलो
पारख न जाणूं॥२८॥[3]

स्मृति, अभिलाषा, चिन्ता, उद्वेग आदि सभी वियोग-जन्य मनःस्थितियों के चित्र आधुनिक राजस्थानी के इन प्रबन्ध-काव्यों में मिल जायेंगे, किन्तु स्थानाभाव के कारण यहां एक-एक का उदाहरण प्रस्तुत करना संभव नहीं होगा।

---

1. मानखो : श्री गिरधारी सिंह पड़िहार, पृ० सं० ५
2. कूंजा : डा० मनोहर शर्मा, वरदा, वर्ष १, अंक १
3. मरवण : डा० मनोहर शर्मा, वरदा, वर्ष १, अंक ३

नायिका का नख-शिख-वर्णन शृंगारी कवियों का प्रिय विषय रहा है, किन्तु आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में ऐसे चित्र बहुत कम देखने को मिलते हैं। सोद्देश्य तो कोई कवि इधर प्रवृत्त हुआ ही नहीं है। किन्तु प्रसंगवश जो चित्र उभरे हैं, वे भी पारम्परिक चित्रों से सर्वथा भिन्न हैं। हाँ, एक-आध स्थलों पर अवश्य ही पारम्परिक उपमानों का सहारा लिया गया है—

या गोरी वरण गोरज्यामी,
ही आंख कटारा सी तिरछी।
ज्यूं नाक नुकीली सुम्रै री,
ही कमर कमाणी-सी पतळी।[1]

अन्यथा तो छायावादी सौन्दर्य-बोध से प्रेरित कवियों ने नायिका के रूप-सौन्दर्य को अंकित करने में स्थूल उपमानों को कम ही काम लिया है। ऐसे चित्रों में स्थूल मांसलता के स्थान पर सूक्ष्म भावनाओं का ही प्राधान्य रहा है—

किरणां रै सामी शकुन्तला,
सौवे ही मधुरी संभया-सी।
अनुपम उपहार विधाता री
कवि री सिरमोड़ कल्पना-सी।[2]

शकुन्तला के प्रथम-दर्शन के समय दुष्यन्त को जो अनुभूति होती है, वह भी दृष्टव्य है। शकुन्तला की अलौकिक रूपराशि से हतप्रभ बना दुष्यन्त शकुन्तला से ही पूछ रहा है कि तू कौन है—

चन्दो टुकड़ो! जो काळगमय,
रवि किरणां! तूं मधुकर सुगकर।
या तपवन री सहलयो कमल,
या कला स्वयं साकार सुघड़।
कामदेव री रमणीय रती
मंजुलता री मूरत मनहर।[3]

'शकुन्तला' की भाँति 'मानखो' की सुभद्रा का यह रूप भी किसी छायावादी कवि की नायिका से कम स्पृहणीय नहीं है—

झिळमिळी चानणी री पळको,
ज्यूं आस उजास किरण आई
फूलां री मीठी सास भीनी
तन पर कळियां री कंवळाई।[4]

---

१. शकुन्तला : श्री करणीदान बारहठ, पृ० सं० १०
२. वही, पृ० सं० १४
३. वही, पृ० सं० १७
४. मानखो : श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, पृ० सं० ७

परम्परा से विच्छिन्न, छायावादी सौन्दर्य-बोध से प्रेरित उपर्युक्त चित्र आधुनिक राजस्थानी काव्य के प्रगति-चरणों को स्पष्टतः इंगित करते हैं।

युगीन परिस्थितियां बदल जाने के कारण आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में वीर रस के वे सांगोपांग जीवन्त चित्र देखने को नहीं मिलते जिसके कारण प्राचीन राजस्थानी साहित्य विश्व साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। फिर भी युगों-युगों की जो एक शानदार परम्परा राजस्थानी वीर काव्य की रही है, उसके परिप्रेक्ष्य में आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में जो पारम्परिक चित्र अंकित हुए हैं वे अपने पुरातन रंगों में भी कहीं-कहीं काफी आकर्षक बन पड़े हैं। प्रचलित काव्य रूढ़ियों के सहारे खींचा गया युद्ध-स्थल का यह चित्र द्रष्टव्य है—

मदमाती कंकाळी चालै छळ छळ रगता नै पिया पियां,
नद उमड्यो तो डग डग डरपी गोधां वाळो मुत लियां लिया,
धुळ मिलगी मुण्डां के मांई जद मुण्ड सड्ये मुण्डमाळी को,
तुण्डां में तुण्ड पिछाण्यो ना थर थर काम्प्यो जी काळी को।[1]

इस प्रकार काव्य-रूढ़ियों से युक्त वर्णन या युद्ध-स्थल के सामान्य वर्णनात्मक चित्र 'रामदूत,' 'शकुन्तला' और 'रांमकथा' में देखने को मिल जायेंगे, किन्तु वीरों के आन्तरिक उत्साह के वर्णन का इन कृतियों में प्रायः अभाव सा है और यह भी सत्य है कि इन काव्यों में युद्धों का वैसा सजीव एवं रोमांचकारी वर्णन पढ़ने को नहीं मिलता है, जैसा कि प्राचीन राजस्थानी वीर काव्यों में देखने को मिलता है। 'मानखो' में अवश्य ही वीरों के आन्तरिक उत्साह का एवं प्रतिशोध की ज्वाला में धधकते साक्षात् महाकाल बने वीरों के रोमांचकारी चित्रों का सफल अंकन हुआ है। यहां अर्जुन का एक ऐसा ही चित्र द्रष्टव्य है—

पण रै हाथां स्यूं धनुस लियो,
सिरकेस खिड्या अवधूत जिया।
कर जाड जड़ाको, सांस खींच,
पण कोप भांभड़ा भूत जिया॥
घायल तन तातो रगत भरं,
उण ही रग रळतो उणियारो।
विकराळ काळ सो कुंताळो
गीरां सो जगती आंख्यारो॥[2]

इसके अतिरिक्त युद्ध-वर्णन को भी लेकर की गयी कवि की मौलिक उद्भावनाएँ, 'मानखो' की विशिष्ट उपलब्धि कही जा सकती है। भयंकर युद्ध चल रहा है, घोड़ों के पैरों से उड़ी गर्द पृथ्वी और आकाश के बीच में एक आवरण के रूप में फैल गयी है, मगर क्यों—

पवळां री धमळा गगन उड़ी,
बण रळ्यां गरद री ओट बणी
ज्यूं धर री बळ नभ निजरावै,
इण कारण आडी ओट बणी॥

---

१. देळ्यां को दिवलो : श्री मनवारीलाल मिश्र 'सुमन,' पृ० सं० ४३
२. मानखो : श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, पृ० सं० ७८

का जोधां मोड्यो मरण जिग,
मर भूखो काळ चुकावै है।
वा आगै माडो मोलो है,
धण धरती रगतां न्हावै है ॥[1]

जहाँ एक ओर युद्ध में उफनते शौर्य के ओजस्वी चित्र देखने को मिलते हैं, वहाँ जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले बीभत्स चित्र भी यत्र-तत्र देखने को मिल जाते हैं। आधुनिक राजस्थानी के प्रबन्ध काव्यों में कहीं-कहीं ऐसे बीभत्स दृश्य भी देखने को मिल जाते हैं—

चटकावै कुत्ता खोपड़ियां द्रुक पेट गादड़ा गरळावै।
वे उडै कागला चोंची में जद लई गिरजड़ा कुरळावै
खप्पर नें लोही सूं भरकर नर भख अघोरी गटकावै
गळ गूंथी माथां री माळा हाथां सूं हाडकां चटकावै।[2]

वीर रस के साथ ही इन प्रबन्ध काव्यों में जो करुणा-स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई है, वह अनेक स्थलों पर पाठकों को करुण रस में आपाद-मस्तक सराबोर कर डालती है। डा० मनोहर शर्मा का 'पंछी' तो आद्यन्त ही एक करुण काव्य है। इसके अतिरिक्त 'शकुन्तला' और 'मानखो' में भी करुण स्वर बहुत गहरे गूंजते हुए सुनाई पड़ते हैं। वैसे 'रामदूत,' 'रामकथा,' 'देळ्यां रो दिवलो' आदि में ऐसे प्रसंग आये हैं जहाँ पाठक का मन करुणा से भर उठता है, किन्तु सम्पूर्ण प्रकृति में ही करुणा की स्वर लहरियाँ तो 'मानखो' में ही व्याप्त हुई हैं—

अँड़ी बिलखै गायक धरणी, ज्यूं धनकी नभ बादळ छायो।
नैणां री गागा, होटां रो, हिंगळू री बिरली रंग छायो।
करुणा भरगी सारै वन में, गंगारे गोरे पाणी में।
हंसा री पाती पाती में, पंखा री कंवळी, वाणी में॥
मणजाणी एक उदासी सी वायरियै री लैरां घुळगी।
या पीड़ मळपतै प्राणां री धळकी अर वेतन पर ढुळगी।[3]

'मानखो' में जहाँ मानवीय करुणा सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हुई है, वहाँ प्रकृति के इस भावुक पंछी का कुटुम्ब से बिछुड़ने पर दर-दर भटकना भी कम कारुणिक नहीं है—

डाळ-डाळ उडळ्यो फिर्‌यो, ना निरख्या वै गेल।
नैण मूंद सोच्यो हियो, नांव सुण्यां ई खेल ॥११॥
झाड़-झाड़ उळझ्यो फिर्‌यो, पंछी प्रेम अधीर
पाड़ पत्तो पायो न पग, जर-जर भयो शरीर ॥१३॥[4]

---

१. मानखो, पृ० सं० ७३-७४
२. रामदूत : श्रीमन्तकुमार व्यास, पृ० सं० १००
३. मानखो : श्री गिरधारीसिंह परिहार, पृ० सं० १०३
४. पंछी : डा० मनोहर शर्मा

शृंगार, वीर एवं करुण रस के अतिरिक्त राजस्थानी के आधुनिक प्रबन्धकारों का मन जिसमें रमा है, वह है—शान्त रस। 'मरु-मयंक', 'अंतरजामी' और 'अमरफळ' तीनों ही काव्यों का झुकाव अन्यान्य रसों की अपेक्षा शान्त रस की ओर विशेष रहा है। 'रामकथा' में भी अन्यान्य रसों का समावेश होते हुए भी शान्त रस की अपनी एक निराली छटा रही है। 'अन्तरजामी' में कवि का मूल सन्देश बिना किसी विवाद के उस सर्व शक्तिमान की सत्ता स्वीकारने का ही रहा है—

ग्यानी बिग्यानी अभमानी
नैणा को अन्तरपट खोलो
जाके बळ सै ब्रह्माण्ड बंध्यो
अन्तरजामी की जय बोलो ॥५१॥[1]

इसी प्रकार 'मरु-मयंक' का 'विवेक-सर्ग', 'अमरफळ' का तृतीय सर्ग, निर्वेद-प्रधान कहा जा सकता है। 'अमरफळ' में जहाँ मृत्यु-रहस्य चर्चित विषय रहा है, वहाँ 'मरु-मयंक' के 'विवेक-सर्ग' में एक साथ कई प्रश्न उठाये गये हैं—

कुण ओ जीव ? ब्रह्म के किण नै ?
कुण ईश्वर ? कुण कमलाकान्त ?
ओ संसार रच्यो कद, किण नै ?
जन्म-मरण, सुख-दुख, किण हाथ ?
किण विध जीव मोक्ष पद पावे ?
कीकर कटे कर्म री नाथ ?[2]

ऐसे कई प्रश्न यत्र-तत्र 'रामकथा' में भी उठाये गये हैं किन्तु 'रामकथा' के कवि ने उनमें गहरे सोने में कोई रुचि नहीं दिखलाई है। यहाँ एक बात स्पष्ट है कि इन कृतियों में मौलिक चिन्तन का अभाव है। आदिकाल से ही उठाये जा रहे इन प्रश्नों के समाधान में कवियों ने पारम्परिक धारणाओं का ही सहारा लिया है। हमारे दार्शनिक मनीषियों एवं ऋषि-मुनियों ने जो कुछ इन गहन समस्याओं के सम्बन्ध में सोचा है, उसे ही आधार बनाकर इन पर विचार किया गया है।

कला-विधान

आधुनिक राजस्थानी के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में कथा-तत्त्व की प्रधानता एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रमुखता के कारण अन्य-अन्य पक्ष कमजोर पड़ गये हैं, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। जहाँ इतिवृत्त प्रधान नहीं है वहाँ विचार पक्ष प्रधान होने के कारण काव्य-सौष्ठव एवं भाषा-अलंकरण की ओर कवियों का ध्यान कम ही गया है। इस स्थिति का असर इन कृतियों के भावपक्ष के साथ-ही-साथ कला पक्ष पर भी पड़ा है। चमत्कारों की मर्मज्ञ पच्चीकारी के दर्शन भी इनमें बहुत ही कम होते हैं, किन्तु कल्पना की ऊँची उड़ानों एवं मनोरम तथा रूप-विधान की भी एक सीमा तक न्यूनता ही रही है। भाषा की मधुरता, पदलालित्य, नाद-सौन्दर्य एवं अलंकारों के प्रयोग-चमत्कार के सम्बन्ध में भी, 'रामकथा',

---

१. अन्तरजामी : डा० मनोहर शर्मा, वरदा, वर्ष ५, अंक ३
२. मरु-मयंक : श्री कान्ह महर्षि, पृ० सं० १२५

'मानखो' आदि दो एक कृतियों में ही अपेक्षित सतर्कता दिखलायी गयी है, अन्यथा अधिकांश काव्यों में तो कथा कहने का ही आग्रह प्रमुख रहा है। फलतः जहाँ एक ओर भाषा एवं शब्द-प्रयोग को लेकर कई अनियमितताएँ एवं तज्जन्य समस्याएँ खड़ी हो गई हैं, वहाँ दूसरी ओर ये कृतियाँ अपने कलागत सौन्दर्य की न्यूनता के कारण सहृदयों पर अपनी मधुर स्मृति की छाप छोड़ जाने में भी विशेष सफल नहीं हुई हैं। काव्य-अलंकरण की दृष्टि से ये प्रबन्धकार न तो राजस्थानी साहित्य की विशिष्ट परम्पराओं से विशेष प्रेरित हुए हैं और न ही हिन्दी, संस्कृत आदि अन्य-अन्य भाषाओं से ही विशेष प्रभावित।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों की भाषा दैनन्दिन व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली राजस्थानी है, जिसमें यत्र-तत्र कवियों की क्षेत्रीय बोली के शब्दों को देखा जा सकता है। साथ-ही-साथ हिन्दी (खड़ी बोली) के प्रभाव एवं संस्कृत तत्सम शब्दों का बाहुल्य भी कई काव्यों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। क्षेत्रीयता के अलगाते स्वर एवं हिन्दी-संस्कृत के प्रभाव पर विचार करने से पूर्व एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। ऊपर मैंने जो 'दैनन्दिन व्यवहार की राजस्थानी' की बात कही है, उससे स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इससे भिन्न राजस्थानी साहित्य की कोई अलग भाषा अब भी काव्यों में व्यवहृत हो रही है? जिसका कि आम-सामयिक भाषा से सीधा कोई संबंध नहीं है? वस्तुतः यह सही है कि आज भी राजस्थानी काव्य-जगत् का एक वर्ग, साहित्य रचना में, विशेष रूप से कविता के क्षेत्र में ऐसी भाषा का प्रयोग करता चला आ रहा है—जिसे कतिपय आलोचकों ने 'डिंगळ' कहा है। वीर-प्रशस्ति-काव्यों एवं विशेष रूप से श्री मुकुनसिंह और उन जैसे ही कतिपय अन्य प्राचीन परम्परा के समर्थक कवियों की कृतियों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है वह आज से कई सौ वर्ष पूर्व की राजस्थानी साहित्यिक भाषा के अधिक निकट कही जा सकती है। राजस्थानी के आधुनिक प्रबन्ध काव्यकार इस दृष्टि से पुरातन के मोह को छोड़ चुके हैं। उनका यह कदम न केवल साहसिक ही माना जायेगा अपितु स्तुत्य भी है, क्योंकि राजस्थानी को एक मृत भाषा समझने या कहने वाले विद्वानों के तर्क का यह एक सबल उत्तर है।

आधुनिक राजस्थानी के प्रबन्ध काव्यों पर भाषा की दृष्टि से विचार करने पर उसके दो स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। प्रथम प्रकार की वे काव्य रचनाएँ हैं—जिनमें ठेठ राजस्थानी का प्रवाह अपने जीवन्त एवं पुष्ट रूप में प्रवाहित हुआ है और दूसरे प्रकार के वे काव्य हैं—जो प्रत्यक्ष या परोक्ष में कहीं-न-कहीं हिन्दी से प्रेरित-प्रभावित हैं। प्रथम श्रेणी की रचनाओं में उल्लेखनीय हैं—श्री गणपतिचन्द्र जोशी की 'राधा', श्री पड़िहार का 'मानखो' एवं श्री 'सुमन' का 'सीमदान'। द्वितीय प्रकार की रचनाओं में डा० मनोहर शर्मा के अधिकांश काव्य, श्री विमलेश की 'रामकथा' एवं श्री बनवारीलाल मिश्र 'सुमन' का 'देळ्यां को दिवलो' आदि काव्य आते हैं। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के मध्य की स्थिति में भी कुछ काव्य हैं, जिनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का अपेक्षाकृत बाहुल्य होते हुए भी उनके कवियों का झुकाव उन्हें राजस्थानी के प्रकृत रूप की ओर ले जाने का विशेष रहा है। ऐसे काव्यों में 'शकुन्तला', 'रामदूत' एवं 'मरु-मयंक' उल्लेखनीय हैं। फिर भी ये कवि अपने को हिन्दी के प्रभाव से सर्वथा बचा नहीं पाये हैं और कई स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का मूल चिन्तन हिन्दी में चला है और पश्चात् उसका राजस्थानी अनुवाद उसने प्रस्तुत कर दिया है। 'मरु-मयंक' में ऐसा कई स्थलों पर हुआ है—

कुल रीत बेद बिधि नैं बिचार
सब किया हृदय अनुसार

रवि पूजन नाम करण सारा
संस्कार किया न्यारा-न्यारा[1]
(मूल)

अब इसी का यह अनुवाद भी देखिये—

कुल रीत वेद विधि को विचार
सब किया कृत्य धर्मानुसार
रवि पूजन नाम करण सारे
संस्कार किये न्यारे-न्यारे।

और भी देखिये—

रतना जड़ी चूनटी श्यामल
लगी समेटण सुन्दर रात[2]
(मूल)

रतनों जड़ी चूनड़ी श्यामल
लगी समेटने सुन्दर रात
(हिन्दी अनुवाद)

'शकुन्तला' का कवि भी सर्वथा इससे बच नहीं पाया है—

चन्दो टुकड़ो ! वो कालस मय,
रवि किरणां ! तू मधुकर मुसकर।

या तपवन री लहलयो कमल,
या कला स्वयं साकार सुघड़।
कामदेव री रमणीय रती,
मंजुलता री मूरत मनहर।[3]
(मूल)

अब इसी का हिन्दी अनुवाद भी देखिये—

चन्दा-टुकड़ा ! वह कालिलमय,
रवि किरणें ! तू मधुकर मुस्कर।
या तपवन का लहलहा कमल,
या कला स्वयं साकार सुघड़।
कामदेव की रमणीय रति भी,
मंजुलता की मूर्त मनोहर !

---

१. मरु-मयंक : श्री कान्ह महर्षि, पृ० सं० २१
२. वही, पृ० सं० ६
३. शकुन्तला : श्री करणीदान बारहट, पृ० सं० १७

इस प्रकार चिन्तन के स्तर तक पहुँचा हिन्दी का यह प्रभाव, कवियों की राजस्थानी भाषा की अल्पज्ञता का द्योतक नहीं माना जा सकता। क्योंकि आज भी इन सबके दैनन्दिन व्यवहार की भाषा राजस्थानी ही है, किन्तु प्रारम्भिक स्तर से ही शिक्षा-दीक्षा का माध्यम हिन्दी होने के कारण और बचपन से ही हिन्दी में लिखने-सोचने की आदत के कारण ही न चाहते हुए भी यह प्रभाव कई स्थानों पर उभर आया है।

आधुनिक राजस्थानी काव्य-भाषा में कई प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जहाँ एक ओर दर्शन, निर्दय, कृत्य, धर्मानुसार, बहुश्रुत, अनूप, विषमता, अनुशासन, नितम्ब, उपवन, नूतन, श्यामल, उन्नत, साक्षात्, रक्षक, मयंक, दक्ष जैसे शताधिक संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग निःसंकोच किया गया है, वहीं अरबी-फारसी (उर्दू) के प्रचलित शब्दों को अपनाने में भी कार्पण्य नहीं दिखलाया गया है। उदाहरणार्थ फरमान, दिल, बाजी, जुलम (जुल्म) बेजार, दिलगीर, इजाजत, इज्जत, फरजी (फर्जी), अरमान, आदि पचासों शब्दों को लिया जा सकता है। इन दोनों के अतिरिक्त कुछ प्रचलित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी इनमें हुआ है—वारट, वोट, लोट (नोट), टेम (टाइम) इंच, किरासन (केरोसीन) आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त उर्दू और अंग्रेजी के जिन शब्दों का प्रयोग इन कृतियों में हुआ है—उनमें से अधिकांश बोलचाल की राजस्थानी में स्वीकारे जा चुके हैं, फिर भी उनका प्रयोग पौराणिक काव्यों में होना अवश्य ही खटकता है।

बहुतायत से प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम शब्द तर्क की दृष्टि से अपने प्रयोग का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि आज भारत की भारोपीय परिवार की सभी समृद्ध भाषाओं में इनका प्रतिशत ५० से ८० तक मिलता है। ऐसी स्थिति में साहित्यिक राजस्थानी में इनका सहस्रों की संख्या में आ जाना कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। लेकिन जिन संस्कृत तत्सम शब्दों के बहुत ही उपयुक्त एवं मधुर पर्याय राजस्थानी में उपलब्ध हैं, उनका बहिष्कार कर तत्सम शब्दों का प्रयोग करना, अवश्य ही विचारणीय बन जाता है, क्योंकि इस कारण से कई बार कृति की आत्मीयता समाप्त होकर वह कुछ-कुछ पराई सी प्रतीत होने लगती है।

संस्कृत के तत्सम शब्दों के सम्बन्ध में जो समस्या है, वह है उनका तद्भवीकरण। राजस्थानी भाषा की प्रकृति के अनुकूल बनाने के लिए संस्कृत के अनेक शब्दों को लेखकों ने तद्भवरूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु ऐसे तद्भव शब्दों में वर्तनी की एकरूपता का निर्वाह नहीं हो पाया है। एक कवि ने जिसे सृष्टि लिखा है, दूसरे ने उसी को 'सिस्टी' और तीसरे ने 'स्रिस्टी' तथा चौथे ने 'स्रिष्टि' लिखा है। इस प्रकार शब्दों के सम्बन्ध में यह अराजकता अलग-अलग कवियों के अलग-अलग प्रयोगों से ही नहीं अपितु कई बार तो एक ही कवि के एक ही शब्द के भिन्न-रूपों में प्रयोग के कारण भी हुई है, जैसे 'मरु-मयंक' में अकेले 'दिन' शब्द को एक ही दोहे में तीन भिन्न रूपों में लिखा गया है—

जिण दिन मैं थारे घर आऊँ,
उण दिण दुनिया रो दिन्न फिरे।[1]

'शकुन्तला' में भी ऐसे उदाहरण कई स्थलों पर देखने को मिल जायेंगे। एक ही पंक्ति में आये 'आशा' के दो रूप भी विचारणीय हैं—

आसा औसाण, औसाण आसा[2]

---

१. मरु-मयंक : श्री कान्ह महर्षि, पृ० सं० ४८

२. शकुन्तला : श्री करणीदान बारहठ, पृ० सं० ११८

इसके अतिरिक्त मूल संस्कृत शब्दों को विकृत करके लिखने की दुष्प्रवृत्ति भी आधुनिक राजस्थानी प्रबन्धकारों में रही है। राजस्थानी भाषा का सामान्य पाठक भी जानता है कि राजस्थानी में 'श' और 'ष' की ध्वनियां नहीं है और वहां केवल 'स' का प्रयोग होता है, किन्तु कवियों ने भाषा की इस मूल प्रवृत्ति की अवहेलना करते हुए न केवल तत्सम शब्दों में 'श' और 'ष' का प्रयोग किया है अपितु उनका राजस्थानीकरण करते समय भी वे इन भूलों को नहीं बचा पाये हैं। ऐसे ही कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

आ मोटी शक्त जोत री है।[1]

जबकि होना चाहिए था 'शक्ति' या फिर 'सक्त'।

दर्शण री निर्मल भांकी रो[2]

शिष्टि मे गेल रचाया[3]

मरु-मयंक', 'शकुन्तला', 'रामकथा', 'रामदूत' आदि कृतियों में शब्दों के ऐसे विकृत रूप पचासों की संख्या में मिल जायेंगे। ऐसे मनमाने प्रयोग भाषा की एक रूपता में तो बाधा उपस्थित करते ही हैं, किन्तु साथ ही कवि की अल्पज्ञता एवं प्रमादवृत्ति को भी द्योतित करते हैं।

शैली की दृष्टि से अधिकांश राजस्थानी काव्य इतिवृत्तात्मक शैली में लिखे गये हैं। 'रामकथा', 'रामदूत', 'मरु-मयंक' आदि में तो आद्यन्त इसी शैली को अपनाया गया है। 'शकुन्तला' और 'मानखो' में अवश्य छायावादी शैली के कुछ सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं। यहां प्रकृति का मानवीकरण, मूर्त का अमूर्तीकरण, अमूर्त का मूर्तीकरण जैसी कई स्थितियों का सुन्दरता से निर्वाह हुआ है। सूक्ष्म मनोभावों का यह मूर्तीकरण अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली और सशक्त बना देता है—

कै गायक हुयो गळगळो सो,
पलकां झुक पीड लुकावै ही।
नैणां रै डब-डब डामर में,
दुख पुळ्यो निराशा न्हावै ही।।[4]

उपर्युक्त दो शैलियों के अतिरिक्त संवाद-शैली और आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग भी राजस्थानी काव्यों में हुआ है। संवाद-शैली के लिए जिस त्वरा और नाटकीयता की आवश्यकता होती है उसका बहुत ही सुन्दर निर्वाह 'मानखो' में हुआ है। अभिधा के सीधे सपाट संवाद न तो काव्य को सरस ही बना सकते हैं और न ही ऐसी उक्तियां पाठकों के मन में हलचल ही पैदा कर सकती हैं। इसके लिए तो लक्षणा और व्यंजना ही अधिक उपयुक्त होती है। सामने वाले व्यक्ति को प्रभावित करने के लिए जिस वाक्-चातुर्य की आवश्यकता होती है, उसका सुन्दर उदाहरण गन्धर्व गायक चित्रसेन का अपनी दुःख गाथा सुभद्रा को सुनाना है। सुभद्रा को सत्य पर स्थिर रखने और उसे अपने पति के प्रति

---

१. शकुन्तला, पृ० सं० १०२

२. मरु-मयंक . श्री कान्ह महर्षि, पृ० सं० २४

३. वही, पृ० सं० २५

४. मानखो : श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, पृ० सं० १३

विद्रोह करने की प्रेरणा देने के लिए जिस मनोभूमि की आवश्यकता थी, उसका निर्माण पड़िहार ने बड़ी कुशलता से किया है। सुभद्रा के औत्सुक्य और दृढ़ता दोनों को चरम-सीमा पर पहुँचाते हुए वह बड़े रहस्य भरे अन्दाज से यों कहता है—

मत पूछ मावड़ी, वो कुण है ?
सुणतां ही पग पाछा पड़सी।
पौरस रा पांड भूके जिण नै
अबळां रो बळ कांई अड़सी ?[1]

बात-बात में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग तो बात को और अधिक सरस एवं प्रभावी बना देता है। वैसे तो न्यूनाधिक रूप में प्रायः सभी प्रबन्ध काव्यकारों ने इनका उपयोग किया है, किन्तु 'सीमदान' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। दो सर्गों के इस छोटे से खण्ड काव्य में पचासों लोकोक्तियां एवं मुहावरों का प्रयोग हुआ है। ये प्रयोग राजस्थानी भाषा के अपने विशिष्ट स्वरूप को उजागर करते हैं—

"जद स्यूं परण्यां है जाड़ेची,
निपराय सूकणै क्यूं पड़ग्या ?
क्यूं ढील सांकळी सो अलग्यो,
क्यूं मैण-मैण रै म्हां अड़ग्या ?
दोहाग दे दियो राण्यां नै,
के चूक पड़ी ? के खोट पड़ी ?
क्यूं हुया ओपरा अन्दाता ?"[2]

आत्म-कथात्मक शैली में लिखे गये काव्य हृदयस्थ भावों को अभिव्यक्ति देने और पाठकों को सहज विश्वास में लेने में अधिक सक्षम होते हैं। आत्म-विस्मृति में खोये पात्र या आत्म-स्वीकृति को तत्पर पात्र जिस सहजता के साथ पाठकों से साधारणीकृत होते हैं, वे काव्य की प्रभविष्णुता कई गुना बढ़ा देते हैं। 'राधा' ही आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में एकमात्र ऐसा काव्य है जहाँ आद्यान्त इसी शैली का निर्वाह हुआ है। विस्मृति के गर्त में खोयी राधा की आत्म-स्वीकृति, बात को कितनी सहज और विश्वसनीय बना देती है—

घणां दिनां पैल
अधरात्यां कान्ह कंवर।
यूं म्हारो अबोट घूंघटो खरड़
सुरंगी जमना रै मांझ
उण कदंब रूंख रै पगथाळै
म्हारै नैणां में हुग-हुग आंसवा आणी,

1. मानखो : श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, पृ० सं० 13
2. सीमदान : श्री अमन, पृ० सं० 6

थारै कोडीलै हाथ रो
निवायो परस
म्हारै रूं-रूं में
झणकारां रा झाला मारण लागो।
रगत नाडियां में
जांणै पाळो जमग्यो।
आम्बै पंथ थारै मारग
पगां में भाखर रो भार लियां
घणी दोरी चाली।[1]

गीतों का प्रयोग भी आधुनिक प्रबन्ध काव्यों में होने लगा है। भावों की तीव्रता एवं प्रगाढ़ता को अभिव्यक्ति प्रदान करने में उनका विशेष योग रहता है। 'राधा' तो वस्तुतः ऐसे प्रगीतों का ही काव्य है। 'शकुन्तला' में भी कवि ने इसी शैली को अपनाया है। उसका 'भरत' सर्ग तो गीतों का संग्रह-सा जान पड़ता है।

छन्द-प्रयोग की दृष्टि से आधुनिक राजस्थानी प्रबन्धकारों ने मुक्त छन्द को अपनाकर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। सर्वप्रथम 'रामदूत' के प्रारम्भ में कवि ने इसे अपनाया है। पश्चात् 'राधा' तो पूरी ही मुक्त छन्द में लिखी गयी है। 'शकुन्तला' के 'ओळमों' सर्ग का तानाबाना भी प्रधानतः इस छन्द में बुना गया है। मुक्त छन्द के अतिरिक्त दोहा, छप्पय, कवित्त, चौपाई, सवैया प्रभृति बहुप्रचलित छन्दों का प्रयोग इन कृतियों में हुआ है। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि राजस्थानी का पारम्परिक एवं विशिष्ट गीत[2] (छन्द)—जिसके ९० से भी अधिक भेद हैं—का प्रयोग आधुनिक प्रबन्ध काव्यों में किसी कवि ने नहीं किया है।

अलंकारों की दृष्टि से, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, रूपक, यमक, श्लेष, अपह्नुति प्रभृति अलंकारों का ही विशेष प्रयोग देखने को मिलता है। यहाँ यह बात द्रष्टव्य है कि सप्रयास आलंकारिकता किसी भी कवि में नहीं मिलती। कथा-प्रवाह में जो अलंकार स्वतः आगये हैं, उन्हें छोड़

---

१. राधा : श्री सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० ३७

२. "गीत नाम से प्रायः उस पद्यात्मक रचना का भान होता है, जो गाई जाती है, परन्तु डिंगल भाषा के गीत दूसरी तरह के हैं। ये गाये नहीं जाते, विशेष ढंग से पढ़े जाते हैं और इनके लिखने की भी एक खास शैली है। एक गीत में तीन या तीन से अधिक पद होते हैं। प्रत्येक पद दोहला कहलाता है। पूरे गीत में एक ही घटना अथवा तथ्य का वर्णन रहता है। जिसे सभी दोहलों में प्रकारान्तर से दोहराया जाता है। पहले दोहले में जो बात कही जाती है वही दूसरे में भी रहती है, परन्तु दोहराई इस तरह जाती है कि पढ़ने व सुनने वाले को उसमें पुनरावृत्ति दिखाई नहीं देती।" गीत के कई भेद हैं। डिंगल के भिन्न-भिन्न रीति ग्रन्थों में इनकी संख्या भिन्न-भिन्न बतलाई गई है। उदाहरणार्थ 'रघु पिंगल' में ३३, 'रघुनाथ रूपक' में ७२ और 'रघुवर जस प्रकास' में ९१ प्रकार के गीतों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन है।"
राजस्थानी भाषा और साहित्य : श्री मोतीलाल मेनारिया, (तृतीय संस्करण) पृ० सं० १८-१९

आग्रहपूर्वक अलंकार ठूंसने का प्रयास इन काव्यों में कहीं नहीं हुआ है। अलंकारों के संदर्भ में एक बात और भी उल्लेखनीय है, और वह है राजस्थानी के अपने विशिष्ट अलंकार 'वैण-सगाई'[1] के सम्बन्ध में। जिस 'वैण-सगाई' का निर्वाह सच्चे कवि की कसौटी माना गया था और जिसकी अनिवार्यता को चुनौती देने का साहस एक समय किसी भी राजस्थानी कवि में नहीं था, उसी 'वैण-सगाई' शब्दालंकार की आधुनिक प्रबन्ध काव्यकारों ने सर्वथा उपेक्षा की है। कहीं स्वतः 'वैण-सगाई' का निर्वाह हो गया है, यह बात दूसरी है, अन्यथा वे इसके लिए कहीं भी सचेष्ट दृष्टिगत नहीं होते।

आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों में प्रयुक्त अलंकारों में भी सादृश्यमूलक अलंकारों में की गई नवीन कल्पनाएँ ही पाठकों की दृष्टि को बांधने में अधिक सफल हुई है। पर्वत-शिखरों पर छितराई हुई रवि-रश्मियों की यह उपमा बड़ी अनूठी बन पड़ी है—

> कंचन किरणां आगर माथै ऐड़ी छिगरी
> कुं कुं काची कामण जाणैं महलां उतरी।[2]

'कुं कुं काची कामण' की महलों में मानपूर्वक उतर कर लेट जाने की यह उपमा जहां बड़ी मनोरम बन पड़ी है; वहां जीवन से थकी, निराश, सिसकती गन्धर्व पत्नी का, शांति, विश्वास एवं ममता की साकार प्रतिमूर्ति सुभद्रा के आंचल में आश्रय पाकर निढाल पड़ जाने की मुद्रा का—काव्य भाषा में अंकित नदी एवं सागर मिलन की स्थिति से—उपमित किया जाना भी कम प्रभावी नहीं बन पड़ा है—

> हाथाऊ उठा सुभद्रा जद
> सा' रं सै ढाढस देवै ही।
> ज्यूं ममता सागर कनै नदी
> थाकयोड़ी सिसक्यां लेवै ही।[3]

---

१. "शब्दालंकारों में 'वैण-सगाई' डिंगल का एक अत्यन्त लोकप्रिय अलंकार रहा है। यह एक प्रकार का शब्दानुप्रास है। परन्तु संस्कृत-हिन्दी के अलंकार ग्रन्थों में इसका नाम नहीं मिलता। यह डिंगल का अपना अलंकार है। डिंगल के रीति-ग्रन्थों में इसकी बड़ी महिमा गाई गई है और कहा गया है कि जिस स्थान पर वैण-सगाई संगठित हो जाती है वहां फिर अमुक्ताक्षर, दग्धाक्षर, इत्यादि के दोष नहीं रह जाते।

वैण-सगाई 'वैण' और 'सगाई' इन दोनों शब्दों से मिलकर बना है और इसका अर्थ होता है, वर्णों का सम्बन्ध या वर्ण द्वारा स्थापित सम्बन्ध। 'वैण-सगाई' का साधारण नियम यह है कि छंद के किसी चरण के प्रथम शब्द का प्रारम्भ जिस वर्ण से हुआ हो उसके अन्तिम शब्द का प्रारम्भ भी उसी वर्ण से होना चाहिये।

'वैण-सगाई' के सात भेद माने गये हैं, जिनमें मुख्य तीन हैं—अधिक, सम और न्यून। इनको क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम भी कहते हैं।"

राजस्थानी भाषा और साहित्य : श्री मोतीलाल मेनारिया, (तृतीय संस्करण) पृ०सं० ८६—८७

२. रामदूत, पृ०सं० २१

३. मानखो, पृ०सं० १८

इसी प्रकार 'रामदूत' में समुद्र पार करते हुए हनुमान की तुलना जिन भिन्न-भिन्न स्थितियों से हुई है, वहाँ उक्ति का अनूठापन एवं उपमाओं की नवीनता एक नये सौन्दर्य की सृष्टि करती है—

क. लिकटी आभै माभ मंडी यूं टूट वगं ज्यूं पुंच्छळ तारो ।[1]
ख. धरती अम्बर विच उड़तोडो ज्यूं ज्वालामुख भःकर फाटो ।
ग. श्री अणुमान फवै उडतोड़ो पांग पमार उड्यो ज्यूं हिंवाळो ।
घ. लीलरण अम्बर-ऊंदर नै जूं पुन्छ फाम पर ोट पमरणी
यूं विकराळ हुयो गरजैं जिमि रावण मारण मोत इनरणी ।[2]

इन अछूती एवं अनूठी उपमाओं के अतिरिक्त राजस्थानी जन-जीवन एवं लोक संस्कृति से चयनित विशिष्ट उपमानों एवं सम्बोधनों का प्रयोग भी आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध काव्यों की अपनी एक विशेषता है । ये प्रयोग जहाँ एक ओर काव्य की सरसता बढ़ाने में सहायक हुये हैं, वहाँ दूसरी ओर राजस्थानी लोक-संस्कृति एवं लोक-जीवन को रूपायित करने में समर्थ भी । आगे ऐसे ही कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'सुगनी जसोदा रा जाया' । 'रे म्हारा कान्ह कामणगार ।' 'म्हारी हेजळी जामण', अग्रोट पूणचों, कोडीला हाथ, कूं कूं-पगल्या, सुपारी सी श्रेडी, मोत्या-विचली लाल, चांदीनी चूनड़ी, आदि । इसी सन्दर्भ में ठेठ राजस्थानी जीवन से चयनित ये उपमायें भी द्रष्टव्य है—

भोळी मरवण सूण हुई हुं ला रोंवोळी ।[3]
रामदूत देखी सूकेड़ी सांगर सी जद सीता ।[4]

सन्देश—

साहित्यकार जिस किसी भी कृति की सृष्टि करता है, उसके पीछे उसका कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य रहता है । मनोरंजन के अतिरिक्त किसी सामयिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करने, मानव-जीवन के सम्मुख कोई आदर्श उपस्थित करने या किसी जटिल दार्शनिक पहेली को सुलझाने या किसी शाश्वत सत्य को उद्घाटित करने या फिर ऐसे ही अन्य उद्देश्य से प्रेरित होकर वह अपनी कृति की सृष्टि करता है । इन सबके पीछे प्रेरणा रूप युगीन परिस्थितियाँ, कोई विशिष्ट घटना या उसके मन की कोई प्रबल भावना, कार्यरत हो सकती है । आधुनिक राजस्थानी प्रबन्ध-काव्यों के पीछे जहाँ एक ओर आदर्श पुरुषों की जीवन-गाथा प्रस्तुत कर समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करने की एवं उनके निर्मल यश को गाकर स्वयं को परितुष्ट करने की भावना प्रबल रही है,[5] वहाँ दूसरी ओर युगीन समस्याओं

१. रामदूत, पृ० ३६
२. वही, पृ० सं० ४०
३. वही, पृ० सं० २५
४. वही, पृ० सं० ६२
५. मरुधर-मयंक, श्री राम देव,
महिमामय, पूरण-सरधमेव ।।३६।।
मैं धा'गे जीवन, चरित थाय,
निसरणो चाहूँ, स्व-पर-हिताय ।।३७।।
मरु-मयंक, श्री कान्ह महर्षि, पृ० स० ६

का कोई सन्तोषप्रद समाधान प्रस्तुत करने की कवि की लालसा और सामयिक घटनाओं (युद्धादि) से उत्पन्न संघर्षपूर्ण परिस्थितियों के प्रति लोगों में उत्साह आदि के भाव संचरित करने की कवि-इच्छा भी। 'रामकथा', 'रामदूत', मरु-मयंक', 'पूंछ-मूंछ री मुलाकात', 'देऊ थां नें दिवलो' आदि काव्यों के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य श्रेष्ठ चरित्रों का गुणगान कर समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करना रहा है। 'मानखो' एवं 'देऊ थां नें दिवलो' में भारत-चीन एवं भारत-पाक युद्ध की पृष्ठभूमि में लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने और उनके सोये हुए शौर्य को उत्तेजित करने का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। 'मानखो' का कवि 'म्हारी बात' में अपने इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता हुआ स्पष्ट शब्दों में लिखता है—"वीरां रो जस गावणो राजस्थान रे कवि री परम्परा स्यूं सुभाव रैयो है। वीरता रो भाव जीवतो जागतो राखण रैं धरम नें इण धरती रो कवि कदे नईं भूल्यो। हूं म्हारी रचनावां में सदा उण लीक नें निभावण री चेष्टा करतो रयो हूं अर इण गंर काव्य में भी उणी धरम नें पालणो चायो है।"[1] यही नहीं उसने अपने काव्य में अनेक स्थलों पर बड़े स्पष्ट शब्दों में अन्याय प्रतिकार हेतु युद्ध का खुला समर्थन किया है—

रण नैं अधरम मत को नारद
अधरम वधिये री औसद है
सगती पूजा रो संख-नाद,
ओ करम अकरमां री हद है,
रण जद-जद लोक धरम कारण
तो परम पुन्न-परमारथ है[2]

किन्तु 'राधा' में 'मानखो' के विपरीत युद्ध की भर्त्सना की गयी है और उसकी नायिका युद्ध-जन्य भीषणताओं का अत्यन्त कारुणिक चित्र खींचते हुए कृष्ण को युद्ध-क्षेत्र से लौट आने के लिए बार-बार पुकार रही है—

मन रा मीत कान्हा रे—
जग में जे मंडग्यो घमसाण, तो
जमना में लोई रै'सी नीर,
माटी रैं' आसी लाशां चोटियां।
बस्ती में पावा गिरता धूर,
लूला लंगड़ा अण धनैं आदमी।
धणधड़ रैं' आसी मगड़ी भोम,
ऊजड़ विरंगी होसी ओटड़ियां।
थूं मेटै रतवाड़ा री गाथ,
मुड़जा, फौजां में पाछो मोडरै।[3]

---

१. मानखो : गिरधारी सिंह पड़िहार, 'म्हारी बात' से।
२. वही, पृ० सं० ८६
३. राधा : श्री सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० ६१

'मानखो' एवं 'राधा' के अतिरिक्त 'शकुन्तला', 'मरु-मयंक,' 'देळ्दा को दिवलो,' 'रामदूत,' 'रांमकथा,' 'सीसदान' आदि सभी काव्यों में युद्ध का वर्णन हुआ है, किन्तु उनके कवि युद्ध के औचित्य-अनौचित्य को लेकर कहीं नहीं उलझे हैं।

'शकुन्तला' में नारी के खोये हुए सम्मान को पुनः प्रतिष्ठित करने में कवि ने अतिशय उत्साह दिखलाया है। उसके काव्य का घोषणा-पत्र भी इसी बात पर आधारित है—

जग जाणें है नारी कोरी,
मासू री बणी पोटळी है।
पण जग नैं हूं जतळा देस्यूं,
आ मोटी शकत जोत री है।[1]

यही नहीं, उसने तो 'दो आखर' में स्पष्ट लिखा है कि—"अतीत री शकुन्तला में ई जुगरी शकुन्तला वणाणे रो पूरो जतन कर्‌यो है।""ई जतन में जे हूं सफल हो सक्यो हूं तो म्हारे सोभाग री बात ही हो सी।"[2] 'शकुन्तला' की भांति 'मानखो' में भी नारी को उच्चासन पर प्रतिष्ठापित करने में कवि श्री गिरधारी सिंह पड़िहार ने काफी उत्साह दिखलाया है—

नारी निरमळ है भगती सी
बळ इतो जूझले जगती स्यूं।
+ + +
सुभ धरम करम मरजादा री
नारी नर री रखवाळी है।।[3]

उपर्युक्त कृतियों में—युद्ध एवं नारी की सामाजिक स्थिति—इन दो ज्वलन्त समस्याओं को उठाकर उनका निराकरण अपने-अपने ढंग से करने का प्रयास हुआ है। इस प्रकार मूल रूप में इन पौराणिक एवं धार्मिक कथानकों वाले काव्यों का उद्देश्य अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमानकालिक समस्याओं को सुलझाना ही मुख्य रहा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये समस्यायें इन कृतियों पर हावी हो गई हैं। यदि ऐसा हो जाता है तो वह कृति सफल कृति नहीं कही जा सकती, जैसा कि 'मरु-मयंक' के साथ हुआ है। अतिरिक्त उत्साह में आकर उसके कवि ने न केवल वर्तमान युग की अछूतोद्धार एवं हिन्दू-मुस्लिम-एकता जैसी समस्याओं को उठाया है, अपितु वह बेकारी, भ्रष्टाचार एवं विदेशी भाषा के मोह जैसी शुद्ध आधुनिक उलझनों में भी उलझ पड़ा है। १५वीं सदी के कथानक में इन सब का उल्लेख किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त स्थितियों से भिन्न शुद्ध तात्विक प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास डा० मनोहर शर्मा के 'अन्तरजामी' एवं 'अमरफळ' में हुआ है। वैसे उनके 'अरवाणु' में भी लौकिक प्रेम से लोकोत्तर प्रेम की ओर बढ़ने का प्रयास हुआ है। 'अमरफळ' में 'मृत्यु-रहस्य' जैसी उलझी हुई दार्शनिक पहेली को अत्यन्त सरल भाषा में सुलझाने का प्रयास हुआ है—

---

१. शकुन्तला : श्री करणीदान बारहठ, पृ० सं० १०२
२. वही, भूमिका, पृ० सं० १४
३. मानखो : श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, पृ० सं० १६

काया साथ आपनै सार्थ,
सार्थ मन की निरमळ टेक।
अन्तर मुख इन्द्रीगण करबो,
अमरफळ चारूँ नर नेक ।।५१।।[1]

'अन्तरजामी' के मूल सन्देश की ओर इंगित करते हुए श्री तुलाराम जोशी ने काव्य के प्रारम्भ में लिखा है—"मूल रूप में 'अंतरजामी' काव्य वर्तमान युग के लिए एक उद्बोधन गीत है। इसमें समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त अन्तर्यामी की महिमा प्रकट की गई है, जो भारतीयों का एक दिव्य सन्देश है। साथ ही इसमें परमाणु अस्त्रों से सज्जित वर्तमान मानव को उसकी अहंकार वृत्ति के निराकरण के लिए सजग किया गया है।"[2]

इस प्रकार स्वान्तः सुखाय और परहितार्थ, लौकिक समस्याओं के समाधान और पारलौकिक जगत की उलझन भरी गुत्थियों को सुलझान, शुद्ध लौकिक प्रेम एवं विशुद्ध ईश्वरीय प्रेम, जैसे अनेक प्रमुख बिन्दुओं को दृष्टिपथ में रखकर, आधुनिक राजस्थानी प्रबन्धकाव्यों के प्रणेताओं ने काव्य रचना की है।

❁

१. अमरफळ : डा० मनोहर शर्मा, वरदा, वर्ष १, अंक २
२. अन्तरजामी : डा० मनोहर शर्मा, वरदा, वर्ष ४, अंक १

प्रकृतिकाव्य

प्रकृति और मानव का आदिकाल से ही घनिष्ट सम्बन्ध रहा है । विश्व-प्रांगण में नेत्र खोलते ही मानव का जिससे प्रथम परिचय (साक्षात्कार) हुआ था, वह थी प्रकृति । प्रकृति का रम्य एवं मनोरम, क्रूर एवं भयावह, शांत एवं स्थिर, आलोड़ित एव उद्वेलित, ऐसा कौन-सा रूप है जिसे मानव ने नही देखा है ? कभी वह प्रकृति के रहस्यों को विस्फारित नेत्रों से देखता रहा है, तो कभी उसका हृदय प्रकृति के रौद्र रूप को देखकर भय-मिश्रित श्रद्धा से भर उठा । कभी वह प्रकृति की सौंदर्य-छटा को कुतूहलभरी नजरो से निहारता रहा है, तो कभी उसे प्रकृति के कण-कण से अपार स्नेह बरसता प्रतीत हुआ है । कहने का तात्पर्य यह है कि मानव जाति के आदिकाल से ही प्रकृति और मानव का साहचर्य प्रतिपल का बना हुआ है और आज भी प्रकृति से बहुत कुछ दूर हटकर भी वह प्रकृति से असम्पृक्त नहीं हो पाया है । सुख और दुःख, हर्ष और विषाद की सहचरी प्रकृति को लेकर मानव मन को जिन नाना भावों की अनुभूति हुई, उनकी विविध रूपों में अभिव्यक्ति, उसके साहित्य मे आदिकाल से ही मिलती है । विश्व की अन्यान्य भाषाओं की भांति राजस्थानी भाषा में भी प्रकृति का स्थान अन्यतम रहा है । उसके आदिकाल से लेकर आजतक के साहित्य में हम प्रकृति को किसी-न-किसी रूप मे निरन्तर चित्रित अवश्य पाते हैं । हाँ, युगीन परिस्थितियों और तात्कालिक साहित्यिक मान्यताओं के अनुसार, कभी उद्दीपन रूप मे प्रकृति चित्रण की प्रधानता रही तो कभी आलम्बन रूप मे प्रकृति चित्रण की ।

राजस्थानी साहित्य मे प्रकृति-चित्रण के इतिहास को अंकित करने से पूर्व एक बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक प्रतीत हो रही है और वह है—राजस्थान की प्राकृतिक स्थिति । संभवतः राजस्थान प्रदेश को अपनी सौन्दर्य-सुषमा प्रदान करने में प्रकृति ने सर्वाधिक कृपणता का परिचय दिया है। फलतः यहाँ के साहित्य मे उसकी उन नानाविध मोहक छवियों का अंकन नहीं हो पाया है, जिनका अनन्त आकर्षक एव हृदयहारी चित्रण संस्कृत आदि के साहित्य मे मिलता है ।

प्राचीन राजस्थानी साहित्य में अधिकांशतः उद्दीपन रूप मे ही प्रकृति चित्रण हुआ है । प्रकृति को आलम्बन बनाकर स्वतन्त्र प्रकृति काव्य के प्रणयन का अभाव न केवल राजस्थानी में ही देखने को मिलता है, वरन् हिन्दी की तात्कालिक सभी उपभाषाओं की यही स्थिति रही है । उस समय के साहित्य में प्रकृति को जहाँ कहीं आलम्बन बनाया भी गया है, तो भी प्रसंग की अनुकूलता के आधार पर, अन्यथा अधिकांश में तो संयोग और वियोग की पृष्ठभूमि में उसका उद्दीपन रूप मे ही चित्रित रूप मे अंकन हुआ है । आलम्बन रूप मे प्रकृति चित्रण की दृष्टि से भी नरोत्तमदास स्वामी ने 'वसन्त-विलास' को राजस्थानी

की प्रथम उल्लेखनीय कृति बतलाया है ।[1] वैसे आधुनिक काल से पूर्व तक राजस्थानी साहित्य में 'बारहमासा' 'षट ऋतु वर्णन' आदि के रूप में प्रकृति के उद्दीपन रूप में वर्णन की ही प्रधानता रही है। 'ढोला मारू रा दूहा' और 'वेलि क्रिसन रुकमणि री' जैसी कृतियों में भी कठिनाई से कहीं दो-चार स्थलों पर प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है,[2] अन्यथा वहाँ भी उद्दीपन रूप में ही प्रकृति चित्रण का प्राधान्य रहा है ।[3]

राजस्थानी साहित्य में आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन तो वस्तुतः आधुनिक काल में ही हुआ है । पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क के कारण ही प्रकृति भी स्वतंत्र रूप से काव्य-प्रणयन का विषय मानी जाने लगी है । राजस्थानी कवियों ने लगभग ३०–३५ वर्ष पूर्व ही इस बात को स्वीकार कर लिया था । इससे पूर्व या तो सुधारवादी आंदोलनों से प्रेरित होकर जातीय उत्थान-सम्बन्धी उद्‌बोधनात्मक गीत ही राजस्थानी में लिखे जाते रहे या फिर राजदरबारों एवं सामन्तों की छत्रछाया में पारम्परिक शैली का साहित्य ही मुख्यतः रचा जाता रहा । वैसे इस अवधि में भी छुटपुट रूप से इतिवृत्तात्मक शैली में प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताएं लिखी जाती रही हैं । श्री धर्मचन्द्र सेमका की 'ग्रीष्मागमन' एक ऐसी ही रचना है जिसमें बड़े सपाट ढंग से ग्रीष्म ऋतु का वर्णन हुआ है ।[4] श्री सेमका

---

१. "प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुजराती का वसन्त-विलास काव्य एक भावुक कवि हृदय से निकली हुई अत्यन्त मनोहारिणी रस से सराबोर काव्य-रचना है ।"

प्रस्तावना, बळावण, पृ०सं० ६

२. जिण भुंई पन्नग पीयणा, कयर कंटाळा रूंख ।
आके फोगे छांहड़ी, हूँ छां भाजइ भूख ॥६६१॥

ढोलामारू रा दूहा, सं. श्री नरोत्तमदास स्वामी प्रभृति पृ०सं० १६०

बाजरियां हरयाळियां, बिचि-बिचि वेलां फूल ।
जउ भरि वूठउ भाद्रवउ, मारू देस अमूल ॥२५०॥

वही, पृ०सं० ५७

३. निहसे वूठो घण विण निझाणी
वसुधा धळि धळि जळ वगई
प्रथम समागम वसत्र पदमणी
सीसे सिरि अहुणा लसई ॥१६७॥

वेलि क्रिसन रुकमणी री : पृथ्वीराज राठौड़
सं. सूर्यकरण पारीक प्रभृति, पृ०सं० २२१

सावण आयउ साहिबा, पगई बिलंबी नार ।
ब्रच्छ विलंबी वेलड़ियां, नरां विलंबी नार ॥२६६॥

ढोला मारू रा दूहा, पृ० सं० १२

४. ऋतुराज कीनो है गमन, यो ग्रीष्म भारी आगयो
गरमा गरम लूवां चले अब तावड़ो पड़ने लग्यो ।
तप्तगूं भूमि सबै है निवस अब भवरा रह्या
हालत बुरी है हो रही अब ग्रीष्म में दुःख पावता ॥
मारवाड़ी हितकारक, वर्ष ३, अंक २, पृ० सं० ४४, मई १९३१

की इस रचना के अतिरिक्त भी प्रवासी राजस्थानी यदा-कदा ऐसी रचनाओं की सर्जना करते रहे। उधर राजस्थान में भी सामन्ती साहित्य के समानान्तर जन-जागरण को बढ़ावा देने वाले साहित्य का सृजन होता रहा। इस साहित्य द्वारा मुख्यतः शोषण के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरणा और जागृति के स्वर फूंके गये। प्रकृति को यदि आलम्बन बनाया तो वहाँ भी उनका यही विद्रोही स्वर प्रमुख रहा। प्रकृति उनके लिए मुख्य प्रतिपाद्य नहीं थी, वे उसके माध्यम से सामाजिक विषमताओं को ही अंकित करने में रुचि प्रदर्शित करते रहे—

महलां पोढ्या पातळिया सियां मरे
ऊपर ओढ्या है शाल दु.शाल।
करसा काकड़ में कमतर करै,
ज्यांरो कांई होतो होसी हवाल ।।
कमधजियां नहि कामतर करै
पड्या सावे फुलावे है गाल।
राता वाजे वेरारी पांतडी
बांधे क्यारा री करसा पाळ ।।[1]

इस प्रकार आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण में जो प्रकृति-चित्रण हुआ है, उसे विशुद्ध प्रकृति-चित्रण नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य में प्रकृति को प्रधानता देते हुए काव्य रचना का आरम्भ श्री चन्द्रसिंह कृत 'बादळी'[2] के साथ हुआ। इसके पश्चात् तो 'कळायण'[3], 'लू',[4] 'सांझ'[5], 'दसदेव'[6], 'मेघमाळ'[7], प्रभृति स्वतन्त्र प्रकृति काव्यों की रचना बराबर होती रही। इन स्वतन्त्र काव्यों के अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण से सम्बन्धित शताधिक रचनायें मुक्तक रूप में लिखी गई हैं और प्रबन्ध काव्यों में भी प्रासंगिक रूप से प्रकृति चित्रण के अनेक स्थल आये हैं।

राजस्थान प्रदेश की विशेष प्राकृतिक स्थितियों के कारण यहाँ प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी काव्य में 'सुन्दरं' की अपेक्षा 'शिवं' का प्राधान्य रहा है। 'शिव' की यह रुझान 'बादळी', 'लू' 'कळायण', 'मेघमाळ', 'सांझ' प्रभृति स्वतंत्र प्रकृति-काव्य-प्रणेताओं और मुक्तक काव्य-लेखकों में समान रूप से देखी जा सकती है। 'दसदेव' में तो यह 'शिव' भाव इतना प्रबल हो उठा है कि यह काव्य मरुभूमि के इस प्राकृतिक उपादानों का उनकी उपयोगिता से प्रेरित होकर लिखा गया प्रशस्ति गान ही बन गया है। यही स्थिति एक सीमा तक 'कळायण' की भी रही है। उसमें भी कवि वर्षा ऋतु की मनोरम छटा का

१. सियाळो : श्री सांवलराम शर्मा, मारवाड़ी, वर्ष १, अंक ३, पृ० सं० ७
२. श्री चन्द्रसिंह, प्र०का०–वि०सं० १९९९
३. श्री नानूराम संस्कर्ता, प्र०का०–वि०सं० २००६
४. श्री चन्द्रसिंह, प्र०का०–१९५४
५. श्री नारायणसिंह भाटी, प्र० का०–१९५४ ई०
६. श्री नानूराम संस्कर्ता, प्र० का०–१९५५ ई०
७. श्री सुमेरसिंह शेखावत, प्र० का०–वि० सं० २०२१

नीमां पर पाकी घणी नीमोळ्यां रसदार
सावणियो यद आवसी मांडण हींड मलार।

(कळायण से)

नीम नीमोळ्यां पाकी सावणियो यद आसी म्हो राज।[1]

(लोकगीत)

लोकगीतों की यह गुनगुनाहट 'कळायण' में कुमारी कन्याओं द्वारा वर-प्राप्ति के लिये गाये गीत में भी स्पष्ट सुनी जा सकती है।

लोकगीतों का यह प्रभाव केवल इन प्रकृति काव्यों तक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु प्रकृति को आधार बनाकर लिखे गये अनेक गीतों और कविताओं में भी उसके उभरे हुए स्वर स्पष्ट सुने जा सकते हैं। श्री मदन गोपाल शर्मा के काव्य-संग्रह 'गोरो ऊभी गोरड़ी'[2] में संग्रहीत, 'निंदरोली'[3], 'घिर घिर आई बादळी'[4], 'गाजे है मेवलो'[5], 'सुरंगो सावण लागियो'[6], श्री गजानन वर्मा की 'अम्बर चिमकै बीजळी'[7], 'कुरजांनळी'[8], श्री कमलाकर का 'वसन्त री गीत'[9] आदि अनेक रचनाएँ इस कोटि में आती हैं।

आधुनिक राजस्थानी काव्यकार ने प्रकृति-चित्रण के प्रचलित विविध रूपों में से आलम्बन, उद्दीपन एवं मानवीकरण रूप को ही विशेष अपनाया है। वैसे प्रतीक, उपदेश एवं अलंकार रूप में भी प्रकृति-चित्रण हुआ है, किन्तु उन तीनों की तुलना में बहुत ही कम। यही वह बिन्दु है जहाँ से उसे प्राचीन राजस्थानी प्रकृति-काव्य से अलगाया जा सकता है। प्राचीन राजस्थानी प्रकृति-काव्य में जहाँ मुख्यतः उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण की प्रधानता रही है, वहाँ आधुनिक काल में प्राधान्य आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण का रहा है और प्राचीन काल की अपेक्षा अन्य-अन्य रूपों में प्रकृति-चित्रण भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। 'बादळी', 'लू', 'कळायण', 'सांझ', मेघमाळ' आदि सभी प्रकृति काव्यों में

---

१. कळायण : श्री नानूराम संस्कर्ता, पृ० सं० १२
२. गोरो ऊभी गोरड़ी, प्रकाशक-राजस्थान मेवाड़ सहकारी समिति लि०, जयपुर।
३. वही, पृ० सं० १३
४. वही, पृ० सं० १७
५. वही, पृ० सं १६
६. वही, पृ० सं० २०
७. ओळमो, मई १६३७, पृ० सं० ३२
८. वही, पृ० सं० ३३
९. मरुवाणी, वर्ष २, अंक ३-४, पृ० सं० २

मुख्यतः आलम्बन रूप से ही प्रकृति-चित्रण हुआ है।[1] दैनन्दिन जीवन में देखे जा रहे प्रकृति के 'रोन' एवं उसके नाना मनोहारी तथा रौद्र रूपों को अंकित करने में इन कवियों ने विशेष उत्साह प्रदर्शित किया है। श्री संस्कर्ता में जहां कल्पना-जन्य रम्य-चित्रों के स्थान पर मानव जीवन को प्रभावित करने वाले प्रत्यक्ष दृष्टिगत होने वाले स्थूल-चित्रों का अंकन हुआ है, वहां श्री चन्द्रसिंह एवं श्री नारायणसिंह भाटी में कल्पना के रंगीन चित्रों की ओर झुकाव अधिक रहा है। श्री भाटी में तो छायावादी नजरिये के कारण यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मुखरित हुई है। स्वतंत्र प्रकृति काव्यों की भांति, प्रकृति-चित्रण संबंधी स्फुट कविताओं में भी आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण का प्राधान्य रहा है, किन्तु उनमें उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण भी कम नहीं हुआ है। प्रकृति को स्वतंत्र रूप से आलम्बन बनाकर स्फुट कविताओं की सर्जना करने वाले कवियों में श्री गजानन वर्मा, श्री कन्हैयालाल सेठिया, श्री मदनगोपाल शर्मा, श्री मनोहर 'प्रभाकर', श्री किशोर कल्पनाकांत, श्री सौभाग्यसिंह शेखावत, श्री कल्याणसिंह राजावत, श्री गोपाल सिंह राजावत, श्री कल्याणसिंह शेखावत, श्री सुमनेश जोशी, स्व० गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद', श्री त्रिलोक गोयल, डा० मनोहर शर्मा, श्री सत्येन जोशी, श्री उदयवीर शर्मा प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी कवियों की रचनाएं मुख्यतः 'मरुवाणी', 'ओळमों' एवं 'वरदा', तथा छुटपुट रूप में अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं।

---

१. क. मिरगानिया मा भरै चौकड्यां
भादूड़ै रा मोर।
छियां—तावड़ै री रह्वैगी उड़—
मिणीं धरा रा छोर।
भाजी फिरै लगन सूं।
पिछ्यां घालै धून, न
धरमैं छांट गगन सूं।

मेघमाळ : श्री सुमेरसिंह शेखावत, पृ० सं० ६०

ख. किण दखणादि किण उतर दिस
किण पीगरदो पट्ट
कुण जाणै किण गोत में
बीज भळाभळ भट्ट।

बादळी : श्री चन्द्रसिंह, पृ० सं० २३ (पंचम संस्करण)

ग. अगाणी उगमां मेघ मयंक,
समंदर हिवड़ै महगां हार।
धरण री धाग भरै आपूर,
उतरै बादळियां सिणगार।

सांझ : श्री नारायणसिंह भाटी, पृ० सं० १५

उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण प्रधानतः संयोग और वियोग की पृष्ठभूमि में ही हुआ है। पारम्परिक ढंग से संयोग के क्षणों में प्रकृति को सुखभाव को और अधिक बढ़ाते हुए और वियोग के क्षणों में दुःखभाव को और अधिक गहराते हुए चित्रित किया गया है[1]। इन परिस्थितियों के अतिरिक्त कहीं-कहीं सामान्य स्थिति में भी प्रकृति-प्रेरणा से आन्दोलित मानव मन का बड़ा ही सहज एवं स्वाभाविक अंकन हुआ है।

लीक से हटे हुए ये वर्णन अपने वैशिष्ट्य के कारण सहज ही रमणीय बन पड़े हैं। वर्षा का मौसम है, चारों ओर उमंग भरा वातावरण है। प्रफुल्लता के इन क्षणों में बालकों की स्वाभाविक उल्लास भरी क्रीड़ाओं के ये दृश्य द्रष्टव्य हैं—

नान्हा मोटा पावणै खिल खिल मूछाळिया
धूसै गूंदो, घावसूं, मारै पगलिया ॥
बालक रमै गुडाळिया छोटा टाबरिया
छांटूयां पकड़ण छौळ में दड़ दड़ दड़बड़िया।
तिरियो गिरियां तालड़ा टाबर तड़पड़ताह
भागै तिमळै भिलभिलै धान-धार पाणी मांह।[2]

---

१. (क) भिमजर माळा पातिया
कोयलड़ी कुरळाय।
ऊंचां लागे अणखणी,
हियो हिंडोळा खाय ॥
सड़ भूंबा सूंबा हुई,
बेला तरवर डाळ।
चूड़लियै री गूंज कर
भूंवै पिव गळ डाळ ॥
मोळ : श्री नारायणसिंह भाटी, पृ०सं० ११ एवं १७

(ख) सुरंगा मोरा किया बकाव, गायाएा हिवड़ो घूमर गाय।
गाजतां पीव पयोधर याद, धोराड़ी मूर्छा-भर उळभाय।

सांझ : नारायणसिंह भाटी, पृ०सं० ४१

(ग) सांझ री गोदूयां मूतो डीठ, जागियो जोबन रो सिणगार।
ऊंबियो नदियां इन्दो मोर, हामी हिवड़ै री मनुहार।

वही, पृ० सं० ५१

कुरजां, कागा, मुरदा विरहण करै कुमेत
संदूरां ! मरज्यो पीवनै धामा धर्मा देत।
बादळ : श्री मनुराम मंडवा, पृ०सं० ३९

२. बादळी : श्री चन्द्रसिंह, पृ०सं० ५५ एवं ५७

श्री संस्कर्ता कृत 'कळायण' में भी ऐसे ही बालमन के उत्साह का अतिरेक इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है—

चभळ चभळ कर चालता ढळतै पाणी पाळ ।
तड़पड़ता तिसळत पड़ै, तिरणै तांई बाल ।।[1]

बाल मनोवृत्ति का कैसा सुन्दर अंकन है । तालाब पानी से लबालब भरे हैं । तालाबों की 'पाळ' की चिकनी मिट्टी का गीलापन सूखा नहीं है । महीनों की प्रतीक्षा के पश्चात् भरे इन तालाबों में तैरने का लोभ संवरण करना बच्चों के लिए बड़ा कठिन हो रहा है । उपालम्भ से बचने के लिए वे जानबूझ कर 'ढलवांपाळ' की गीली मिट्टी पर दौड़ते हैं और फलस्वरूप एकदम फिसलकर पानी भरे तालाब में जा गिरते हैं, अब भला उन्हें तैरने से कैसे रोका जा सकता है ?

प्रकृति के उद्दीपन रूप के चित्रण में 'बारहमासा' एवं 'षट्‌ऋतु-वर्णन' का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है । वर्ष की बारह महीनों की बदलती प्राकृतिक स्थितियों का उल्लेख करती वियोगिनी नायिका परदेश गये अपने प्रियतम को लौट आने का आग्रह इन बारहमासों में करती है । राजस्थानी में 'बारहमासा' की एक सुदृढ़ परम्परा रही है । यद्यपि साहित्य जगत् में आज यह धारा काफी मन्द पड़ गयी है, किन्तु सर्वथा अवरुद्ध नहीं हुई है । श्री विमलेश का 'तुगाया का गीत'[2] नाम से लिखित बारहमासा, श्री गजानन वर्मा की 'बारहमासा'[3] नामक लम्बी कविता और उन्हीं की 'बारहमासा'[4] नामक काव्य कृति इस कथन की पुष्टि करते हैं । पारम्परिक बारहमासों और इन आधुनिककालिक बारहमासों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । प्रारम्भ में बदलती हुई प्राकृतिक स्थितियों की ओर संकेत और पश्चात् अपनी विरहव्यथा की अभिव्यक्ति, यही क्रम इनमें भी रहा है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

ओजियो,
बैसाख वितायो धरती पर फूटी भार बसंत की
बिरछ-बिरछ री डाल-डाल पै नई-नई पतियां लागी
जो साजन सै बिछड़ गई थी वे इब पाछी आगी
जी थे भी हठ छोडो
गाळो थे आ हो गीत मिलन रो
दिनभर तो अगनी सी बरसै रात्यूं लूवा चालै
गईर घूमम पंथा री हो, तर री पान न हालै
जी, जी री जी जाणूं
सूझै ना कोई आस रंग री[5]

1. कळायण पृ०सं० ३४
2. गायरयानी : श्री विमलेश, पृ० सं० ८७, प्र० आ०—१९५८ ई०
3. गोरी निरखै रेसमें . श्री गजानन वर्मा, प्र० आ०—वि० सं० २०२१ (द्वितीय संस्करण)
4. श्री गजानन वर्मा, प्र० आ०—वि० सं० २०२१
5. गायरयानी : विमलेश, पृ० सं० ९२

श्री गजानन वर्मा कृत 'बारहमासा' की—लोक-जीवन की ओर रुझान और संगीत तत्व की प्रधानता[1]—दो उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। वैसे पारम्परिक 'बारहमासों' से कोई उल्लेखनीय भिन्नता उसमें भी नहीं उभर पाई है। हाँ, प्रत्येक माह के गीत से पूर्व की चार पंक्तियों की योजना—जो कि दोनों के मध्य सेतुबन्ध का कार्य करती है[2]—अवश्य ही कुछ नवीनता लिये हुए है; अन्यथा तो अधिकांश में तो वर्णन उसी पारम्परिक शैली में हुआ है—

> माघ रो महीनों आयो, बन बागां रंग सवायो
> चिड़कलियां माळा घालै, नणदूली भारी चालै
> भंवरा फूलां पर डोलै, कळियां ही घूंघट खोलै
> मौसम बासंती आवै, थां बिन जिवड़ो दुख पावै
> सामेळो आवै फागण नाचतो, चारुं कूंटां में गूंजे गोवणी।[3]

मानवीय कार्य-कलापों और मानव-सौन्दर्य को उपमित करने के लिए प्राकृतिक क्रियाओं एवं उपमानों का प्रयोग साहित्य में प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसी तरह प्रकृति के कार्य-व्यापारों पर मानवीय भावों के आरोपण की प्रवृत्ति भी नूतन नहीं कही जा सकती, यद्यपि हिन्दी साहित्य में व्यापक रूप से इसका उपयोग छायावादी काव्य में ही देखने को मिलता है। राजस्थानी साहित्य में सायास इस प्रवृत्ति को अपनाने का प्रयास तो 'सांझ' काव्य में ही हुआ है, किन्तु 'बादळी,' 'लू,' 'पन्नावण' आदि में में भी अनेक स्थलों पर सहज रूप में ही प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोपण हुआ है। 'बादळी' और 'लू' में तो कवि ने दोनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारते हुए, उन्हें एक जीवित प्राणी के रूप में मानते हुए और अनेक स्थलों पर उन्हें सम्बोधित करते हुए अपनी बात कही है। 'बादळी' में प्रकृति मानव की तरह ही हँसती, रूठती, ईर्ष्या और द्वेष से दग्ध होती एवं प्रसन्नता से खिलखिलाती हुई चित्रित हुई है। प्रियतम सूर्य की वासमी प्रेयसी की कौनसी पोशाक पसन्द आयेगी, वह, यह स्थिर नहीं कर पा रही है, फलतः चपला नायिका की भाँति क्षण-क्षण में वेश परिवर्तित कर वह स्वयं को निरख-परख रही है—

> पहरै बदळै बादळी
> बदळ पहर अदळाव
> सूरज साजन नै सगी
> सुण री आगी दाय।[4]

---

१. "गीतां रै बीच-बीच में आवोड़ै मुहावरां नै के कहणी (कवितां) भासा रो पूरो बारहमासो एक संगीत-रूपक (ओपेरा) ज्यूं रंगमंच माथै खेल्यो जा सकै। कई गीत आवजीत (ACTION SONGS) के रूप में और कई बाद रै गीतां री सिरी सूं ही लिख्या गया।"
पाठरा सूं', बारहमासा ; गजानन वर्मा, पृ० सं० ३२

२. "हरेक गीत सूं पैली मुखड़ो दियो है, जो मारवाड़ री एक महीनै रै गीत रो दूजै महीनै रै गीत सूं मेल बठ्यो रै सकै में भावां रो तांतो बिगड़ै नहीं।"
वही, पृ० सं० ३२

३. बारहमासा : श्री गजानन वर्मा, पृ० सं० ९६

४. बादळी, पृ० सं० १५ (चतुर्थ संस्करण)

बेचारी बदली तो 'सूरज साजन' के लिए यों परेशान हो रही है और उधर जरा उन 'साजन' महोदय के तो रंगढंग देखिये—

रमियों रवि सारै दिवस
मेटी कुळ री काण।
लाली लूआं लूटली
आथण पीळो भाण।[1]

इसे तो परकीया नायिकाओं के साथ रमण करने से ही फुर्सत नहीं मिल रही है, लेकिन 'लू' के साथ सूर्य का यह रमण महँगा पड़ा। स्वयं लू के घर का ही क्या हाल हुआ, यह भी द्रष्टव्य है—

चाद किरण रात्यूं रमी
धोरां टीबड़ियां
भातै पैलो भूंजिया
लूआं कड़कड़िया ॥[2]

लू दिनभर पराये पुरुष के साथ रमण करती रही और उधर उसका गृहस्वामी टीबा (वालूका स्तूप) चन्द्र किरणों के साथ रंगरेलियां मनाता रहा, यह बात दूसरी है कि बेचारे निर्बल पति की चोरी पकड़ी गयी और उसे नायिका की कोपाग्नि का भाजन बनना पड़ा।

प्रकृति-जगत में मानवीय भावनाओं का कैसा स्वाभाविक एवं प्रभावी आरोपण हुआ है। कवि चन्द्रसिंह की 'लू' और 'बादळी' में ऐसे और भी अनेक स्थल हैं जहां प्रकृति पर मानवीय कार्य-व्यापारों और भावनाओं का सुन्दर आरोपण हुआ है।

'बादळी' का सूरज तो 'कुल री काण' मेटने वाला है किन्तु क्या 'कळायण' का सूरज भी ऐसा है? नहीं। वह तो बेचारा एक आदर्श पति की भांति स्वयं प्रियतमा धरा से मिलने को बन-संवर रहा है—

बादीलै नभ बांधियो, पचरंग पेचो ताण
हरखण लागी धण धरा, सजतो साजन जाण।[3]

'कळायण' का यह सूरज पति जितना सीधा और सरल है, उसका चपल बालक बादल उतना ही नटखट और शैतान है, तभी तो—

बादळ छोटा बाळका, आभै कोठै आय
आळा नाळो काढ़ियो पाणी रह्या बुवाय ॥[4]

उसने चुपचाप जाकर आकाश रूपी 'कोठे' का नाला धीरे से खोल दिया और वही पानी वर्षा के रूप में बहकर पृथ्वी पर आ रहा है।

आधुनिक राजस्थानी काव्य में ऐसे अनेक स्थल मिल जायेंगे जहां प्रकृति पर मानवीय भावों को आरोपित किया गया है। स्वतन्त्र प्रकृति-काव्य एवं प्रबन्ध-काव्यान्तर्गत आये प्रकृति-वर्णन तथा मुक्तक

१. लू, पृ० सं० ६१ (द्वितीय संस्करण)
२. वही, पृ० सं० ६३ (द्वितीय संस्करण)
३. कळायण, पृ० सं० १८
४. वही, पृ० सं० २६

भीषण गर्मी के कारण प्यास से व्याकुल मृगयूथ जो कभी 'पान खड़क्या जावता कोसां छोळा छोळ', अब 'सेळ्यां में टूट्या पड़ै काळा दिन धोळा,' किंतु दुर्भाग्य यहां भी तो उनका पीछा नहीं छोड़ता। मानव द्वारा तालाबों की 'पाळ' पर रखे गये पानी से भरे मिट्टी के बर्तन लूओं द्वारा उड़ाई गई धूल से कभी के भर चुके हैं। अब वहां बच रही है केवल गीली धूल। उसी धूल में अपनी तृष्णा को बुझाने में प्रयत्नरत्न हरिणों की कारुणिक स्थिति का यह चित्र देखिये—

ढोडी आली ठोड़ में गोडी सामी पाळ
अब किण विध पाछो फिरै, किण विध मारै छाळ।
सूकां तगरां सीगटी लपट पड़्या धोराळ
जी लूआं ले नीसरी, आयो हिरणां काल।[1]

(ऐसी गीली मिट्टी में प्यास से व्याकुल हरिणों की ठोड़ियां बरबस टिक गई हैं और पाल पर घुटने टिक गये हैं, अब यह किस प्रकार वापिस मुड़े और किस प्रकार छलांग भरे।

जलशून्य घटकपालों में उनके सींग लगे हुए हैं, ऊपर की तरफ पैर हो चुके हैं और वे उलटे पड़े हुए हैं। उनके प्राण लूओं द्वारा निकाल लिये गये हैं। हरिणों का सर्वनाश प्रस्तुत हो गया है)

इससे भी बढ़कर प्रकृति के क्रूर उपहास का चित्र आगे खींचा गया है—

मां मरती रै हांचळां लाग रह्या बाछोट।
लूआं मली उघाड़ज्यो आतां जातां ओट।[2]

मानवेतर प्रकृति से सम्बन्धित लू के ये चित्र मरु-प्रकृति के भीषणतम रूप को अंकित करने में सफल हुए हैं। इन चित्रों से भिन्न श्री सस्कर्ता कृत 'कळायण' में मानवीय जगत् के जो चित्र अंकित हुए हैं, वे भी पूर्णतः यथार्थ के धरातल पर खड़े हैं। चिलचिलाती धूप से अंगार बनी धरणी पर नंगे पांव दौड़ते इन बालकों की दशा तो जरा देखिये—

टाबरिया भाज्या बगै भळती ताती साय।
बळता पांव घसोड़ता, पोटा में चिरळाय।[3]

गर्म धूल में पैर जल रहे हैं, आसपास में कहीं छाया या आश्रय नहीं है। विवश बालक गीले गोबर में जानबूझकर अपने पैर डालकर शीतलता प्राप्त करने में प्रयत्नरत हैं।

'लू' और 'कळायण' के इन चिर-परिचित चित्रों की अपेक्षा 'सांझ' के चित्रों में कल्पनाजन्य चामत्कारिकता के दर्शन अधिक होते हैं। वैसे राजस्थानी ग्राम्य जीवन के अति परिचित चित्रों का अभाव भी 'सांझ' में नहीं है—

बटाऊ बैठा आड़ पिलाण
ऊंठड़ा मारग भुरकै जाय।
गुणीजै फुरली भूरी सींग,
मोद नूं सूमग-रूप सगाय।[4]

---

१. लू : श्री चन्द्रसिंह, पृ०सं० २५
२. वही, पृ०सं २६
३. कळायण : श्री नानूराम संस्कर्ता, पृ०सं० ७
४. सांझ : श्री नारायणसिंह भाटी, पृ०सं० २५

इन परिचित चित्रों के साथ ही कल्पना की रंगीन तूलिका से संध्या-सुन्दरी के जो मोहक चित्र अंकित हुए हैं, ये राजस्थानी साहित्य के लिए अवश्य ही एक नवीन उपलब्धि कहे जा सकते हैं—

हुयो फिर समदर धामो जंग
अमा में घुळै कसूंबल रंग
निचोयो सांझ नार ज्यूं चीर,
दई के देवल नैण सुरंग।
ऊकगी धाई छाव कठैक ?
उगता गुगन-पिछी री पांख।
गेरवां सोना पांख पखाळ,
हंसता पोढ़ाणा नभ नात।[1]

प्रकृति के कार्य-कलापों के पीछे एक अज्ञात रहस्यमयी सत्ता को स्वीकारना कवियों की सामान्य परिपाटी रही है। सभी रहस्यवादी कवियों ने प्रकृति के नाना कार्यों के लिए उस विराट सत्ता को प्रेरक माना है और प्रकृति की नानाविध छवियों में उसके दर्शन किये हैं। छायावादी कवि भी प्रकृति के माध्यम से कहीं-कहीं उस विराट सत्ता तक पहुंचने को लालायित दृष्टिगत होते हैं। आधुनिक राजस्थानी कवि इस प्रवृत्ति की ओर विशेष आकृष्ट प्रतीत नहीं होते। उनकी प्रवृत्ति प्रकृति के मात्र दृष्टिगत होने वाले सौन्दर्य को अंकित करने में ही विशेष रही है। हां नारायणसिंह भाटी कृत 'सांझ' अवश्य इसका अपवाद है। उसमें यत्र-तत्र प्रकृति के माध्यम से उस विराट सत्ता को संकेतित करने का प्रयास अवश्य किया गया है—

(क) कहदे सूरज पैठो जग सांच,
कठै जो परभातां री सोभ ?
दिना री सूरज हूंती जोत,
कठै कठै रातड़ली री आभ ?

(ग) प्रात री वाय रमै रै साथ,
झूंमतै गिगन जोबन दीप।
इळा रा रिजक री उगराह,
कणा सूरज छेड़यो चांनणा सीख ?[2]

प्रकृति के विभिन्न कार्य-कलापों में किसी परोक्ष सत्ता के दर्शन करने की तरह ही, प्रकृति के माध्यम से दार्शनिक जिज्ञासाओं और नवीन वैचारिक उपलब्धियों को प्रस्तुत करने की परम्परा भी साहित्य जगत् में रही है। आधुनिक राजस्थानी साहित्य में भी कन्हैयालाल सेठिया और डा० मनोहर शर्मा की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी अनेक रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती।

श्री सेठिया ने अधिकांशतः अन्योक्ति के सहारे और कहीं-कहीं रूपक का प्रयोग करते हुए अपने विचारों को विभिन्न प्राकृतिक कार्य-व्यापारों के माध्यम से व्यक्त किया है। इनकी कविताओं में

---

१. सांझ, पृ० सं० १३
२. वही, पृ० सं० २७ एवं ४१

एक ओर किसी प्राकृतिक स्थिति या प्राकृतिक कार्य-व्यापार का यथार्थ अंकन करते हुए अन्त में किसी अनुभूत सत्य को संकेतित भर किया गया है,[1] तो दूसरी ओर प्रारम्भ से ही अन्योक्ति के सहारे कोई विचार या अनुभूति व्यंजित हुई है ।[2] इनकी प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं में कहीं शरीर की नश्वरता एवं संसार की निस्सारता की ओर संकेत हुआ है,[3] तो कहीं मानव के मिथ्या अहं पर चोट हुई है ।[4] कहीं मानव की ईर्ष्यालु वृत्ति को आड़े हाथों लिया गया है,[5] तो कहीं सुख की मृगतृष्णा में भटकते मानव का ध्यान उसके प्रयत्न की व्यर्थता की ओर खींचा गया है ।[6]

श्री सेठिया की प्रकृति-चित्रण-प्रधान बहुत सी कविताओं में मानव को 'सत्' की ओर प्रेरित करने का प्रयास भी हुआ है । कहीं उसे प्रकृति की भांति ही विशाल हृदय बनने की प्रेरणा दी गयी है,[7] तो कहीं 'गम' खाने की महत्ता का 'बखाण' हुआ है ।[8] कहीं स्वच्छन्दता की सीमाओं पर प्रश्न चिन्ह अंकित करते हुए उसे संयमित जीवन की श्रेष्ठता का पाठ पढ़ाया गया है,[9] तो कहीं स्वयं को मिटाकर भी परोपकार और अपने निर्मल कार्यों की सुगन्ध से सृष्टि को परितृप्त करने का सन्देश दिया गया है ।[10] इन कविताओं के सन्देश को देखकर सहज ही एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या ये सब रचनाएँ उपदेश-काव्य के अन्तर्गत नहीं आयेंगी ? यह सही है कि श्री सेठिया की इन कविताओं में मानव को किसी-न-किसी 'सत्' कार्य को अपनाने की प्रेरणा दी गयी है, किन्तु जहाँ निरे उपदेश-काव्य में स्थूलता और बोध-तत्त्व की प्रमुखता होती है, वहाँ श्री सेठिया की इन कविताओं में कल्पना की रम्यता, विचार प्रतिपादन की सर्वथा अनूठी एवं आकर्षक शैली तथा सरलता इन्हें साधारण उपदेश-काव्य की तुलना में काव्यत्व की दृष्टि से बहुत ऊंचे आसन पर प्रतिष्ठापित करती है । बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देना असंगत नहीं होगा—

चन्नण सौरम बसा प्राण मे
भूठा हाड घसावै क्यूं ?
रगड़ घापज्यां गुण ना छीजै
तो भी तिरणू हंगरणू है,
कंचन काया घसा मनै तो
प्रभु निलाड पर बगणू है ।
जग फंनासूं आमरण यारो
धरती सूं घिसतावै क्यूं ?
चन्नण सौरम बसा प्राण मे
भूठा हाड घसावै क्यूं ?[11]

---

१. दूबड़ी, मींझर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ० सं० २४
२. मयरो, वही, पृ० सं० १४
३. झर झर पाका पान पड़ै, वही, पृ० सं० १०
४. माटी, वही, पृ० सं० ५५
५. पपीहो, वही, पृ० सं० ३७
६. पछी, वही, पृ० सं० ४४
७. मतीरियो, मींझर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ० सं० २२
८. दूबड़ी, वही, पृ० सं० २४
९. गीत सिड़कल्यां, वही, पृ० सं० २६
१०. गीत, वही, पृ० सं० ३२
११. गीत, मींझर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ० सं० ३२

एक ओर किसी प्राकृतिक स्थिति या प्राकृतिक कार्य-व्यापार का यथार्थ अंकन करते हुए अन्त में किसी अनुभूत सत्य को संकेतित भर किया गया है,[1] तो दूसरी ओर प्रारम्भ से ही अन्योक्ति के सहारे कोई विचार या अनुभूति व्यंजित हुई है।[2] इनकी प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं में कहीं शरीर की नश्वरता एवं संसार की निस्सारता की ओर संकेत हुआ है,[3] तो कहीं मानव के मिथ्या अहं पर चोट हुई है।[4] कहीं मानव की ईर्ष्यालु वृत्ति को आड़े हाथों लिया गया है,[5] तो कहीं सुख की मृगतृष्णा में भटकते मानव का ध्यान उसके प्रयत्न की व्यर्थता की ओर खींचा गया है।[6]

श्री सेठिया की प्रकृति-चित्रण-प्रधान बहुत सी कविताओं में मानव को 'सत्' की ओर प्रेरित करने का प्रयास भी हुआ है। कहीं उसे प्रकृति की भांति ही विशाल हृदय बनने की प्रेरणा दी गयी है,[7] तो कहीं 'गम' खाने की महत्ता का 'बखाण' हुआ है।[8] कहीं स्वच्छन्दता की सीमाओं पर प्रश्न चिन्ह अंकित करते हुए उसे संयमित जीवन की श्रेष्ठता का पाठ पढ़ाया गया है,[9] तो कहीं स्वयं को मिटाकर भी परोपकार और अपने निर्मल कार्यों की सुगन्ध से सृष्टि को परितृप्त करने का सन्देश दिया गया है।[10] इन कविताओं के सन्देश को देखकर सहज ही एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या ये सब रचनाएँ उपदेश-काव्य के अन्तर्गत नहीं आयेंगी ? यह सही है कि श्री सेठिया की इन कविताओं में मानव को किसी-न-किसी 'सत्' कार्य को अपनाने की प्रेरणा दी गयी है, किन्तु जहाँ निरे उपदेश-काव्य में स्थूलता और बोध-तत्त्व की प्रमुखता होती है, वहाँ श्री सेठिया की इन कविताओं में कल्पना की रम्यता, विचार प्रतिपादन की सर्वथा अनूठी एवं आकर्षक शैली तथा सरलता इन्हें साधारण उपदेश-काव्य की तुलना में काव्यत्व की दृष्टि से बहुत ऊंचे आसन पर प्रतिष्ठापित करती है। बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देना असंगत नहीं होगा—

चन्नण सौरम बसा प्राण में
भूंडा हाड पसावै क्यूं ?
रगड़ घसाब्या गुण ना छीजे
तो ओ घिसणूं हंसणूं है,
कंचन काया घसा मनै तो
प्रभु लिलाड़ पर बसणूं है।
जस फैलास्यूं जामण थारो
धरती नूं पिसतावै क्यूं ?
चन्नण सौरम बसा प्राण में
भूंडा हाड पसावै क्यूं ?[11]

---

१. दूबड़ी, मींझर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ० सं० २४
२. भंवरो, वही, पृ० सं० १४
३. झर झर पाका पान पड़ै, वही, पृ० सं० १०
४. माटी, वही, पृ० सं० ५५
५. पपीहो, वही, पृ० सं० ३७
६. पंछी, वही, पृ० सं० ४४
७. सागरियो, मींझर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ० सं० २२
८. दूबड़ी, वही, पृ० सं० २४
९. गीत पिड़कल्यां, वही, पृ० सं० २६
१०. गीत, वही, पृ० सं० ३२
११. गीत, मींझर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ० सं० २२

यहाँ जीवन संघर्ष से हारे-थके, ऊब एवं खीझ से भरे व्यक्ति की विवश, कुंठित एवं आक्रोशपूर्ण मनःस्थिति का अंकन हुआ है।

आज का नया कवि जटिल से जटिलतर बनती जा रही जीवन की परिस्थितियों और अनेक विवादों के बीच भूलती मानवीय संवेदनाओं को संप्रेषित करने के लिए यहीं प्रकृति को प्रतीक[1] रूप में व्यवहृत करता है, तो कहीं प्राकृतिक बिम्बों[2] के सहारे अपनी बात कहता है। कहीं मानवीकरण का सहारा लेता है, तो कहीं नवीन प्राकृतिक उपमानों से बात को संकेतित करता है। यह सही है कि नयी कविता से पूर्व भी प्रकृति का अंकन इन सभी रूपों में हुआ है, किन्तु जैसा कि पहले स्पष्ट हो चुका है कि नये कवि का सौन्दर्य-बोध के प्रति बदला हुआ नजरिया और बात को प्रस्तुत करने का उनका सर्वथा भिन्न तरीका उसके प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी वर्णनों को पूर्व वर्णनों से अलगाता है—

(क) डूबकी लगाई
लाल तलाव रै मांय
बुझ्योड़ो दिन भर
नागी होवण नागी
आकास नै मुट्ठी में
गांवटती अचपळी रात

(ख) काची कूपळ रै
नैणां में मुळकतो
मदरो-मदरो
मीठो-मीठो हिरमची उजास[3]

---

१. धोरा जाणै
निदरीजै तो बाग भर बगीचा।
सतरा सैनी कवितावां, ओंकार पारीक, राजस्थानी मेक, पृ० सं० ५८

२१. धूजतां पगां
पैरो देवतो
मुरदो दिन
भर दूजी तरफ
सर्राटा नेवतो
मिजाजण रात

सांतरो, सिरजण : डा० गोरधनसिंह शेखावत, पृ० सं० ६

२. थारी ओळ्यूं
धीमै-धीमै
हामनै पाणी मे
नाबी पगळो तिरतो
गांवडो दीवा
ओळ्यूं, सिरजण, पृ० सं० २८

३. (क) सांझ, सिरजण, पृ० सं० २०
(ख) बगत, वही, पृ० सं० २६

प्रकृति को आलम्बन बनाकर लिखी गयी बहुत-सी स्फुट कविताएँ भी इतिवृत्तात्मक शैली में ही लिखी गयी हैं। श्री नागराज शर्मा की 'बिरखा बीनणी'[1], श्री गजानन वर्मा की 'अम्बर चिमकै बीजळी', श्री हरमन चौहान की 'मोरियो'[2], श्री मदनगोपाल शर्मा की 'घिर घिर आई बादळी', 'गाजै है मेवलो', श्री मनोहर प्रभाकर का 'फागण री गीत'[3], श्री सौभाग्यसिंह शेखावत की 'पाळो'[4], श्री कानसिंह की 'चौमासा'[5], 'सियाळो'[6], 'ऊनाळो'[7], श्री उदयवीर शर्मा की 'भभूलियो'[8], डा० मनोहर शर्मा की 'ऊषा'[9], 'वनदेवी'[10], 'किरण'[11], आदि पचासों कवियों की सैकड़ों ऐसी रचनाएँ सहज ही गिनायी जा सकती हैं।

सम्बोधनात्मक शैली में लिखी गई प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी रचनाएँ बहुत अधिक तो नहीं हैं, फिर भी उनकी कमी नहीं महसूस होती। श्री चन्द्रसिंह ने अपनी 'लू' और 'बादळी' में अनेक स्थलों पर इसी शैली का उपयोग किया है, यथा—

> मा बारा बागोटिया, धिग-धिग पकड़ै धान
> सूझां नेड़ी आवतां लिखैक राख्या ख्याल।[12]
> बेगी आवड बादळी धान रह्यो अळसाय
> पाना मुख पीळजियो झुर झुर नीचा जाय।[13]

श्री चन्द्रसिंह की भांति श्री सुमेरसिंह शेखावत की 'मेघमाळ' में भी इसी सम्बोधनात्मक शैली को अपनाया गया है, पर कवि श्री चन्द्रसिंह से प्रभावित न होकर 'मेघदूत' से प्रभावित है। डा० मनोहर शर्मा के 'कूंजा' काव्य में भी जहाँ कहीं प्रकृति-चित्रण हुआ है, वहाँ वह मेघदूत की शैली से ही प्रभावित है। 'मेघमाळ' में कवि आद्योपान्त इस शैली को नहीं निभा पाया है और उसने कुछ ही छंदों के पश्चात् स्वतंत्र रूप से प्रकृति-चित्रण प्रारम्भ कर दिया है। श्री नारायणसिंह भाटी की 'सांझ' में भी अनेक स्थलों पर इसी शैली को अपनाया गया है। 'सांझ' में कवि ने जिन विशेषणों से संध्या को सम्बोधित किया है वे राजस्थानी कविता क्षेत्र में सर्वथा नये प्रयोग हैं। कवि ने कहीं सांझ को 'रात री मे नेनकड़ी बैन' तो

१. बिरखा बीनणी : नागराज शर्मा, पृ० सं० ३
२. ओळमो, मई १९६७, पृ० सं० ११९
३. मरवाणी, वर्ष २, अंक ३-४, पृ० सं० १
४. वही, वर्ष २, अंक १, पृ० सं० २६
५. पळगोजो : सं० श्रीमन्त कुमार व्यास, पृ० सं० ८२ (द्वितीय संस्करण)
६. वही, पृ० सं० ८२-८३, (द्वितीय संस्करण)
७. वही, पृ० सं० ८३, (द्वितीय संस्करण)
८. साधना, वर्ष १२, अंक ?
९. वरदा, वर्ष २, अंक ३, पृ० सं० १५
१०. वही, वर्ष २, अंक ३, पृ० सं० १५
११. वही, वर्ष २, अंक ३, पृ० सं० १६
१२. लू : श्री चन्द्रसिंह, पृ० सं० ३१, द्वितीय संस्करण
१३. बादळी : श्री चन्द्रसिंह, पृ० सं० ३३, चतुर्थ संस्करण

बाजै है तो कै करां ?
यो नभो बावरो है,
बाजै है तो बाजण द्यो
ठंडो ठेरा गीतड़ला अब
लाजै है तो लाजण द्यो ।[1]

'टांफर' की तरह ही 'मुकुल' की 'छियां-तावड़ो'[2] कविता में छाया और धूप धनवान और गरीब के प्रतीक रूप में आये हैं। इनमें भी बदलते युग-जीवन की ओर संकेत हुआ है। श्री गजानन वर्मा ने भी पूंजीपति वर्ग और शोषित वर्ग की स्थिति को स्पष्ट करते हुए इन्हीं प्राकृतिक प्रतीकों का सहारा लिया है। धनवानों पर सीधा प्रहार न करते हुए उन्हें उन्होंने पृथकतावादी 'रोहीड़' के वृक्ष से उपमित किया है—

झाड़ बोठका कैर ककेड़ा
खैर खेजड़ा भेळा नेड़ा
धरती माता सूं बतळावै
रोहीड़ा पर अलग बतावै[3]

कवि का मन संकेत करने से ही नहीं भरा है अतः आगे उसने बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है—

खेजड़लां नै करसा जाणं
रोहीड़ा धनवान बखाणं
रूप रंगीला घणा डावड़ा
काळा पड़सी सगं तावड़ा
झड़ ज्यासी अै पाका फूल
उड़सी जद धोरां री धूल।[4]

श्री गजानन वर्मा ने जहां 'रोहीड़' को पूंजीपति वर्ग के प्रतीक रूप में चित्रित किया है, वहां श्री ईश्वरानन्द शर्मा ने अपनी 'रोहीड़ रो फूल'[5] कविता में उसे स्वार्थी नेताओं के प्रतीक रूप में चित्रित किया है।

आधुनिक राजस्थानी काव्य में अन्य शैलियों की अपेक्षा आलंकारिक शैली में प्रकृति-चित्रण की न्यूनता रही है। श्री कन्हैयालाल सेठिया, डा० नारायणसिंह भाटी आदि दो तीन नाम ही ऐसे हैं जिन्होंने प्रकृति के मनोहर चित्र अंकित करने में रुचि प्रदर्शित की है। डा० नारायणसिंह भाटी ने संध्या-सुन्दरी के अप्रतिम सौन्दर्य को अंकित करने में कल्पना की रंगीन तूलिका का भरपूर एवं शानदार उपयोग किया है—

---

१. सैनाणी री जागी जोत : श्री मेघराज 'मुकुल', पृ० सं० ६४
२. वही, पृ० सं० ८३
३. सोनो निपजै रेत में : श्री गजानन वर्मा, पृ० सं० १३
४. वही, पृ० सं० ३८
५. मरुलोरो : सं० श्री श्रीमन्तकुमार व्यास, पृ० सं० १२३ (द्वितीय संस्करण)

बिजळी रो कर त्यार,
कूटग लाग्यो सूरज,
ढळकी आंसूडा री धार,
बाड़ धर्‌यो चुपचाप बापड़ो
रामधणग रो हार,
लाजां मरतो गळ्‌यो जणां ही
छेरड़ छूटी लार।[1]

इस प्रकार समग्र रूप में कहा जा सकता है कि राजस्थानी कवियों ने प्रकृति-चित्रण के अपने दायित्व को उत्साह के साथ निभाया है, यद्यपि प्रकृति ने उनके मरु प्रदेश को अपनी सौन्दर्य-सुषमा प्रदान करने में कृपणता ही दिखलायी है। यही कारण है कि यहाँ प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी काव्य में 'सुन्दर' की अपेक्षा 'शिव' का प्राधान्य रहा है। इसके अतिरिक्त आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण की प्रधानता, कहीं कहीं 'बारहमासा' आदि की प्राचीन परम्परा का निर्वाह, प्रकृति का लोक-जीवन एवं लोक-विश्वास-सापेक्ष अंकन, मानवीकरण रूप में उसका प्रस्तुतीकरण और चित्रात्मकता, आधुनिक राजस्थानी प्रकृति काव्य की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएं रही हैं। न्यूनता यदि किसी बात की खटकती है तो वह यही कि प्रकृति के नानाविध कार्यों के पीछे उस रहस्यमय विराट सत्ता के स्पन्दन का अनुभव राजस्थानी कवियों ने नहीं किया है। शैली की दृष्टि से प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी सभी प्रचलित प्रमुख शैलियों (इतिवृत्तात्मक शैली, सम्बोधनात्मक शैली, आलंकारिक शैली एवं प्रतीकात्मक शैली) को अपनाया है। वस्तुतः प्रकृति-चित्रण ही एक ऐसा पक्ष रहा है जिसे लेकर आधुनिक राजस्थानी के विभिन्न क्षेत्रों में सजन करने वाले कवियों ने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति को लेकर स्वतन्त्र काव्यों की रचना भी आधुनिक राजस्थानी काव्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि कही जा सकती है।

❂

---

१. कानड़िदो, मींझर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ०सं० ५२

बिजळी रो कर त्यार,
कूटण लाग्यो सूरज,
ढ़ळकी आंसूड़ा री धार,
काढ़ धर्‌यो चुपचाप बापड़ो
रामधणस रो हार,
लाजां मरतो गळ्‌यो जणां ही
छेकड़ छूटी लार।[1]

इस प्रकार समग्र रूप में कहा जा सकता है कि राजस्थानी कवियों ने प्रकृति-चित्रण के अपने दायित्व को उत्साह के साथ निभाया है, यद्यपि प्रकृति ने उनके मरु प्रदेश को अपनी सौन्दर्य-सुषमा प्रदान करने में कृपणता ही दिखलायी है। यही कारण है कि यहाँ प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी काव्य में 'सुन्दरं' की अपेक्षा 'शिव' का प्राधान्य रहा है। इसके अतिरिक्त आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण की प्रधानता, कहीं कहीं 'बारहमासा' आदि की प्राचीन परम्परा का निर्वाह, प्रकृति का लोक-जीवन एवं लोक-विश्वास-सापेक्ष अंकन, मानवीकरण रूप में उसका प्रस्तुतीकरण और चित्रात्मकता, आधुनिक राजस्थानी प्रकृति काव्य की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ रही हैं। न्यूनता यदि किसी बात की खटकती है तो यह कि प्रकृति के नानाविध कार्यों के पीछे उस रहस्यमय विराट सत्ता के स्पन्दन का अनुभव राजस्थानी कवियों ने नहीं किया है। शैली की दृष्टि से प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी सभी प्रचलित प्रमुख शैलियाँ (इतिवृत्तात्मक शैली, सम्बोधनात्मक शैली, आलंकारिक शैली एवं प्रतीकात्मक शैली) को अपनाया है। वस्तुतः प्रकृति-चित्रण ही एक ऐसा पक्ष रहा है जिसे लेकर आधुनिक राजस्थानी के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने वाले कवियों ने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति को लेकर स्वतन्त्र काव्यों की रचना भी आधुनिक राजस्थानी काव्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि कही जा सकती है।

१. बादळी, मीमर : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृ०सं० ४२

गौरवपूर्ण पृष्ठों के ओजस्वी गीत गुनगुनाने वाले साहित्यकार और इतर विषयों पर कविताएँ करने वाले नये तथा पुराने सभी साहित्यकारों ने इस समय स्वयं को लोक-जीवन के विविध मधुर पक्षों को उद्घाटित करने वाले इन गीतों तक ही सीमित कर लिया। वैसे इस अवधि में किसी ने क्रांति एवं प्रगति की बात भी कही तो भी माध्यम के रूप में उसने गीत विधा को ही स्वीकारा। ऐसे गीतों में विषय की नवीनता के बावजूद भी अभिव्यक्ति एवं शब्द-प्रयोग के स्तर पर तात्कालिक गीतकारों का लोक-गीतों, लोक-जीवन एवं लोक-भाषा से इस कदर सम्मोहित होने का परिणाम यह हुआ कि एक समय में उनके द्वारा सर्जित गीतों एवं लोकगीतों में अन्तर कर पाना कठिन हो गया।

यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि शिष्ट साहित्य कैसे इस सीमा तक लोक-साहित्य से सम्पृक्त हो उठा। इस प्रश्न पर विचार करने से कई बातें सामने आती हैं। प्रथम, पद्यरचनाओं की एकरसता से ऊबे पाठक, श्रोता और कवि जब किसी नये माध्यम की तलाश में थे तो उन्हें लगा कि बदलाव के लिए यह विधा सर्वाधिक उपयुक्त है। विशेष रूप से कवि वर्ग ने इसे अपने बहुत ही उपयुक्त पाया। नये कवियों ने महसूसा कि वर्तमान स्थिति में जन-साधारण तक सीधे पहुँचने का सरलतम और निरापद मार्ग यही है। इस संबंध में श्री तेजसिंह जोधा का यह कथन कि—"राजस्थानी कवि को जिस जनमानस के निकट पहुँचना था, उस हेतु लोकगीतों की मनोरम आधारभूमि, नये विषयों के चयन की सुविधा, भावबोध का सहज सतरंगी आकर्षण एवं लय और ध्वनि का दूर और देर तक गुनगुनाने वाला सहजा लिए उपस्थित थी,"[1] पूर्णतः सही है।

राजस्थानी के ये गीतकार जिस संसार में विचरण करते रहे, वह बहुत कुछ यहाँ के लोकमानस की मधुर कल्पनाओं एवं मीठी आशाओं का संसार था, जिसमें लोकगीतों की भांति ही वे मधुर स्वप्न संजोये जाते रहे; जिन्हें अपने दैनन्दिन जीवन में पा लेना उनके लिए सहज संभव नहीं था। इस मधुर जीवन की ललक वैसे प्रत्येक ग्रामवासी के मन में रहती है किन्तु राजस्थानी गीतकारों का उन स्थितियों से एक विशेष मानसिक लगाव महसूस करने का कारण और भी रहा है। इस समय के प्रायः सभी प्रमुख गीतकार मूलतः ग्रामवासी थे। उनके बचपन और कैशोर्य का जो अधिकांश समय यहाँ के जिस मरुस्थल के आलम में बीता, उसकी मीठी याद शहरों के संघर्षपूर्ण वातावरण में और अधिक गहरा उठी। शहरी जीवन की कटुताओं ने उनके बचपन के तप्त और अभिशप्त क्षणों को सहज ही मधुर स्मृतियों में परिणत न भी किया हो तो कम-से-कम कड़ुआहट से मुक्त अवश्य कर दिया। श्री सत्यप्रकाश जोशी, श्री गजानन वर्मा, श्री कल्याणसिंह राजावत, श्री लक्ष्मणसिंह रसवन्त, श्री मदनगोपाल शर्मा प्रभृति सभी गीतकारों—जो कि आज शहरों में स्थापित हो चुके हैं—के साथ यही स्थिति रही है।

इन सब स्थितियों के अतिरिक्त इस समय के अधिकांश राजस्थानी गीतों में चित्रित रोमानी संसार और कोरे भावुकतापूर्ण चित्रों के प्राधान्य का एक कारण और भी था और वह यह था कि इस समय जन-साधारण ने भी इन गीतों का भरपूर स्वागत किया। सस्ते-महंगों प्रवासी राजस्थानियों के लिए अपनी मिट्टी की गन्ध लिए हुए ये गीत समय के अन्तराल और वातावरण की भिन्नता के कारण और भी अधिक मधुर हो उठे। उधर यहाँ के सामान्य जन के लिए भी अपनी अतीतोन्मुखी प्रवृत्ति के

---

1. स्वातन्त्र्योत्तर राजस्थानी काव्य की नयी प्रवृत्तियाँ : श्री तेजसिंह जोधा
राजस्थान विश्वविद्यालय की एम. ए. (हिन्दी) परीक्षा हेतु प्रस्तुत अप्रकाशित लघु शोध-प्रबन्ध

गीतों में प्रेम और 'मंवस' का इस सहजता तक अंकन तो फिर भी स्वीकार्य है, किन्तु जहाँ वासना का प्राधान्य एवं मांसल-सौन्दर्य के उपभोग का भाव प्रमुख हो उठा है, वहीं गीत के स्तर में निश्चित रूप से गिरावट आई है—

सांसा रै सौरभ री भापां
करल्यो अदला-बदली-ए
थारी निजरां घणी ठगोरी
म्हारी निजरां ठगली-ए
एक बार बस एक बार ही
थानैं थोड़ो चांख ल्यूं[1]

किन्तु यहाँ यह सन्तोष का विषय है कि इस छिछलेपन तक एक-आध गीतकार ही गया है, अन्यथा अधिकांश में परिष्कृत रुचि और सौन्दर्यबोध का ही परिचय दिया गया है। इस परिष्कृत रुचि का निभाव नायिका के सौन्दर्याङ्कन में भी उसी तत्परता से हुआ है, जैसे वहाँ पारम्परिक उपमानों और और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों में पूर्ववर्ती कवियों का ही अनुसरण अधिकांश में हुआ है—

गज गामण गळहार आ कुण गोरली
बेमाता री रूप-तिजोरी चोर ली
आ सूरज सो जावै घूंघट काड़तां
ओड चांद उग जावै नैण उघाड़तां
पलकां रे परकोटै छवी अगेडली
बेमाता री रूप तिजोरी चोर ली[2]

संयोग-शृंगार की भांति विप्रलम्भ-शृंगार पर लिखे गये गीतों में भी नायिका की विरह-व्यथा का अंकन पारम्परिक शैली में ही हुआ है। प्रिय के वियोग में व्याकुल नायिका की मनःस्थिति का वर्णन मर्मस्पर्शी होते हुए भी भारतीय कुलवधू के सहज गौरव के विपरीत शिष्टता की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला नहीं कहा जा सकता। प्रिय-स्मृति (ओळूं) को उद्दीप्त करने वाली विभिन्न प्राकृतिक स्थितियों के मध्य प्रिय से लौट आने की प्रार्थना करती हुई विरह-विदग्धा नायिकाओं के मधुर उपालम्भ भरे अनेक चित्र इन गीतों में अंकित हुए हैं—

क. उमड़ै धुराऊ काठळ बीज
पळवट रे धोरां मे बरसै मेह
म्हारा पण हेलाळू
परणी नैं पाछी तो सम्भाळ
बरस पुखाया साख माळवै
गढ सूं उडीकै म्हारे नेह
रोग बिताई सागीणी रातां
उडीक उडीक आथमिया सूरज

---

१. पणिहारी : सोम पुरोहित, पृ० सं० १०, प्र०का०—१९७० ई०
२. रामलिया मत तोड़ : कल्याणसिंह राजावत, पृ० सं० ३०, प्र० का०—वि० सं० २०१८

वायरी वरण दावळी पग पायल बांध नाचै भो
धरती री कूंपळ-कूंपळ में मैंदी राचै भो
रंग चढ़ावरण दे ।[1]

ख. रंग बरसातो मन हरसातो चंगां छायो रे
फागरण भायो रे
मदमातो वायरियो भीणो फागणियो लै'रावै रे
कोयल बोलै इमरत घोळै हियो हबोळा खावै रे
होरी गमकै लूरां ठणकै उनमाद मचायो रे
फागरण भायो रे[2]

श्री गजानन वर्मा के 'होली भाई रे'[3], श्री मदनगोपाल शर्मा के 'फागरण भायो'[4], श्री सत्य प्रकाश जोशी के 'फागरण रो राग'[5] आदि अनेकों गीतों में इन्हीं भावों को भिन्न शब्दावलि में अभिव्यक्ति मिली है। फाल्गुन के इन गीतों की तरह सावरण के गीतों में भी साधारण जन के मन के उल्लास की सामूहिक अभिव्यक्ति हुई है—

लाग्यो-लाग्यो ए सुरगो सावरण लागियो
आया-आया, हेली, बादळ सुहावरणा
सोनचिड़ी गीतड़ला गावै
बोलै मीठा बोल
भिरमिर बरसै तील बतासा
अंबर बाजै ढोल[1]

उपर्युक्त भावों से मिलते-जुलते भावों एवं कथ्य वाले बीसों गीत इस अवधि में लिखे गये। वर्णनात्मकता एवं सपाट दृश्यांकन इन गीतों की एक और विशेषता कही जा सकती है। इन गीतों में न केवल भाव-साम्य ही दृष्टिगत होता है, अपितु शब्द प्रयोग एवं शैली की दृष्टि से भी आश्चर्यजनक रूप से समानता लक्षित की जा सकती है। इस समानता का कारण किसी एक समृद्ध और सफल भावप्रवरण वाले गीतकार से अन्य-अन्य गीतकारों का प्रभावित होना नहीं रहा है, अपितु इन सबके समान प्रेरणा-स्रोत, लोकगीतों में ही इसका समाधान खोजा जा सकता है।

प्रकृति के इस साधारणीकृत रूप के अंकन की अपेक्षा श्री कन्हैयालाल सेठिया एवं कहीं-कहीं श्री कल्याणसिंह राजावत प्रभृति गीतकारों के प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी गीत सरसता के अनुकूल, विचारों

१. राजविया मत तोड़, पृ० सं० ७८
२. रमाझ, पृ० सं० ५४
१. सोनो निपजै रेत में, पृ० सं० १७२
२. सोनै सूभी सोरठो, पृ० सं० ४३
३. दीवा धरौं बाई, पृ० सं० २८
४. सोनै सूभी सोरठो, पृ० सं० २०

की मौलिकता और प्रस्तुतीकरण की सर्वथा निजी शैली के कारण विशेष उल्लेखनीय बन पड़े हैं। इनमें जहाँ एक ओर प्रकृति के रूप सौन्दर्य का उन्मुक्त अंकन हुआ है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति के माध्यम से शाश्वत सत्यों के उद्‌घाटन का प्रयास भी। इन गीतकारों ने प्रकृति के आलंकारिक चित्रण में मन-मृग को कल्पना के विस्तृत प्रांगण में निर्बाध चौकड़ियाँ भरने का अवसर प्रदान किया है। इस हेतु कहीं मानवीकरण का सहारा लिया गया है, तो कहीं अन्योक्ति का और कहीं रूपक का। इस दृष्टि से श्री कन्हैयालाल सेठिया के *'सावण री डोकरी'*,[1] *'डूबड़ी'*,[2] *'मिमया वहू'*[3] एवं श्री कल्याणसिंह राजावत के 'परभाती'[4] आदि गीत उल्लेखनीय बन पड़े हैं।

प्रकृति के माध्यम से शाश्वत सत्यों के उद्‌घाटन और विभिन्न मानवीय समस्याओं के समाधान में श्री कन्हैयालाल सेठिया ही विशेष रूप से प्रवृत्त हुए हैं। प्रायः गीतकारों के सर्जन के सम्बन्ध में यह आक्षेप लगाया जाता है कि सापेक्ष और सीमित दृष्टि के कारण वे पूर्ण सत्य के साक्षात्कार में असफल रहते हैं, किन्तु श्री सेठिया के साथ यह आक्षेप लागू नहीं होता। उन्होंने अपने अधिकांश गीतों में जिस किसी भी मानवीय समस्या या शिवकारी सत्य को उठाया है, उसका निर्वाह बड़े कौशल के साथ करते हुए पाठक या श्रोता को कहीं ऐसा आभासित नहीं होने दिया कि गीतकार कहीं अपनी ज्ञानगरिमा का प्रदर्शन करने को लालायित है या फिर उन्हें व्यर्थ ही नैतिकता और आदर्श के उबाने वाले पाठ पढ़ा रहा है। उनकी 'गीत'[5] नामक रचना इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इसमें कवि ने मोर, चन्दन और मोती के क्रमशः सागर, धरा और वर्षा के साथ हुए संवाद के माध्यम से परोपकार की महत्ता का प्रतिपादन बड़े कलात्मक ढंग से किया है। पूरे गीत में कवि ने कहीं भी प्रत्यक्षतः यह नहीं कहा है कि जीवन की सार्थकता परमार्थ-साधना में है, फिर भी पुष्प में समाहित सौरभ की भाँति इस गीत के अन्तर से स्वतः ही यह भाव सहज रूप में प्रस्फुटित हुआ है।[6]

प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी गीतों में प्रकृति के मृदु एवं शिवं रूप के साथ-साथ रूक्ष और कठोर रूप का सहज-भाव से हुआ अंकन, यह कवि की अपनी मिट्टी के प्रति रही हुई ममता और असीम प्यार की भावना को ही व्यंजित करता है। उसका अपनी मिट्टी या अपनी मातृभूमि के प्रति अगाध ममत्व और श्रद्धा का भाव इन गीतों में और भी उत्कटता के साथ प्रकट हुआ है, जहाँ उसने पूर्ण भावावेग में यहाँ के वैभवशाली अतीत का, यहाँ के समृद्ध साहित्य का, यहाँ के अजेय योद्धाओं का, यहाँ की साहसशीला वीरांगनाओं का एवं यहाँ के वैविध्यपूर्ण लोक-जीवन का अंकन किया है। इस प्रकार राजस्थान या 'धोरां री धरती' और 'मरुधर देस' की सीमाओं में आबद्ध ये गीतकार सहज ही संकीर्णता की भावना से

ग्रसित होने के दोषी ठहराये जा सकते हैं, किन्तु उन पर यह दोष आरोपित करने से पूर्व इन सबके पीछे कार्यरत उनकी मूल भावना को जान लेना आवश्यक होगा। भावात्मक रूप से भारत को एक राष्ट्र मानते हुए भी जब अपने समय के प्रबुद्धतम साहित्यकारों ने 'आमार सोनार बंग' और 'म्हारे रुळो माळो देश गुजरात' जैसे गीतों की सर्जना सहज उल्लास में भर कर की है, उस स्थिति में 'म्हारो प्यारो राजस्थान' के गीत गुनगुनाने वाले गीतकारों पर क्षेत्रीयता की भावना से जकड़े रहने का दोषारोपण कैसे किया जा सकता है ?

इन गीतों में दो एक गीत तो इतने अधिक लोकप्रिय हो चुके हैं कि ये लगभग लोकगीत ही बन गये हैं। यहाँ उन गीतों के कतिपय अंश उद्धृत करना असंगत नहीं होगा—

क. म्हारी आँखड़ियां री तारो, दुलारो, प्यारो मरुधर देस
सोने रा डूंगर ज्यूं चमकै, रेतड़ली रा ढेर
पन्ना ज्यूं जड़ियोड़ा उणमें, वे मरुधर रा कैर—म्हारी०
ठंडी रातां मारग बैतां, बैलड़ियां री सैल
मोटर रेलांरी मौजां थांरी, जिण रै अगाड़ी फैल—म्हारी०[1]

ख. धरती धोरां री,
आ तो सुरगा ने सरमावै,
ईं पर देव रमण नै आवै
ईं रो जस नर नारी गावै
धरती धोरां री,
सूरज कण कण नै चमकावै
चन्दो इमरत रस बरसावै
तारा निछरायळ करज्यावै
धरती धोरां री,[2]

इन गीतों में आगे एक-एक करके यहां के इतिहास, लोकजीवन और प्रकृति की विशेषताओं का वर्णन हुआ है। इन्हीं तीन बातों को आधार बनाकर अन्य अनेक गीतों की रचना भी २०–२५ वर्षों में हुई है, जिनमें यहीं-कहीं गौरवपूर्ण अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान की दुरावस्था का चित्रण करते हुए समयानुकूल परिवर्तन की मांग भी की गयी है,[3] पर अधिकांश में मुग्धभाव से यहाँ की ऐतिहासिक, प्राकृतिक एवं लोकजीवन की विशेषताओं का ही गुणगान हुआ है।

शृंगार, प्रकृति और मातृभूमि के स्तुतिपरक गीतों की तरह ही सामान्य-जनों के पारिवारिक जीवन और सामाजिक पर्व-उत्सवों आदि-आदि से सम्बन्धित गीतों की संख्या भी पर्याप्त रही है। इन गीतों में पति-पत्नी के प्रणय-सूत्रों को प्रगाढ़ करने वाले परस्पर के मधुर हास-परिहास, भाई-बहिन के पवित्र स्नेह-बन्धन, ननद-भावज के साथ की मीठी चुटकियां, देवर-भाभी की गरम मोक-झोक, माता-पिता

---

१. रण दीप : श्री गणपतिचन्द्र भण्डारी, पृ० सं० १५४, प्र० बा० वि० सं० २०१६
२. मींझर, पृ० सं० ६१
३. म्हारो देस : दीवा बारो बधू, पृ० सं० ६७

एवं सास-श्वसुर तथा जेठ-जेठानी आदि के वात्सल्य एवं ममत्व भरे व्यवहार का अंकन हुआ है तो साथ-ही-साथ पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष एवं अविश्वास के मध्य झूलते इन रिश्तों की कटुताओं का भी चित्रण हुआ है। ये सब चित्र सामान्य जन के दैनन्दिन जीवन के मध्य से उठाये गये हैं और इनमें वैयक्तिक विशेषताओं, भिन्नताओं एवं विचित्रताओं के स्थान पर उन सामान्यकृत स्थितियों का वर्णन हुआ है जो कि प्रायः हर परिवार के बीच पायी जाती हैं। ऐसी स्थिति में ये चित्र वस्तुतः वैयक्तिक अनुभूतियों के चित्र न रहकर समूह जीवन उसकी सामान्यकृत भावनाओं के चित्र बन गये हैं; फलतः ऐसे प्रत्येक चित्र में सामान्य पाठक या श्रोता को ऐसा लगता है कि यह तो उसी की बात की जा रही है। इसी कारण ऐसे गीत जनसाधारण में बहुत अधिक लोकप्रिय रहे हैं —

क. पौ फाटी जद बोलण लाग्या
पांख–पंखेरू पीपळ डाळ
छोटी दौरांणी पीसण बैठी
बाजर मोठ चिणां की दाल
बड़ी जिठांणी जायौ गीगलौ
बाजण लाग्या सोवन थाळ
नणद सुरंगी सातया देवे
घर घर बांधे बांदरवाल
पौ फाटी जद बोलण लाग्या
पांख–पखेरू पीपळ डाळ[1]

ख. किरत्यां पूजूं रे चढ़ती कांगरै
पूनम रो पूजूं उगतौ चांद
देवी देवां री करस्यूं योलवा
मनवाओ सांवणिआ री तीज
मिळवाओ भौदर सोस्या वीर सूं
....
कोनी म्हैं मांगूं बीरा बांगळी
कोनी म्हैं मांगूं दीखणी चीर
कोनी म्हैं मांगूं घण री मोवड़ी
मिळजा हांमळ रा भंकर बीर
भंकर बधवाजे बीरा रागड़ी[2]

उपर्युक्त गीतों जैसे पचासों गीतों में पारिवारिक जीवन के नानाविध सामान्यीकृत चित्र सहज रूप में अंकित हुए हैं। इस सन्दर्भ में श्री ओंकार पारीक की चर्चा न केवल उनके गीतों की संख्या के कारण ही आवश्यक है, अपितु उनके विषय-चयन और प्रस्तुतीकरण के सरल एवं प्रभावी ढंग के कारण—

1. सोरो नितरै रेत में, पृ० सं० ६१
2. दीया कांई बधूं, पृ० सं० ८६ (द्वितीय संस्करण)

भी। सामान्य व्यक्ति के जीवन के नाना पक्षों को एवं समाज के श्रमजीवी वर्ग के विभिन्न व्यवसायी-जनों को उन्होंने अपने गीतों का आधार बनाया है। ऐसे गीतों में जन कल्याण एवं सुधार की भावना से प्रेरित होकर लिखे गये कुछ गीत जहां एक ओर समष्टिगत जीवन का मोहक चित्र अंकित करते हैं, वहां दूसरी ओर उन गीतो का उद्बोधनात्मक स्वर उनकी प्रभविष्णुता एवं अपील की क्षमता को निश्चित रूप से ठेस पहुँचाता है। इस सबके बावजूद 'मोरपांख'[1] में संकलित उनके गीत, उन्हें समष्टि-जीवन और उसकी सामूहिक भावनाओं के कुशल चितेरे के रूप मे प्रस्तुत करते हैं।

पारिवारिक जीवन पर आधारित इन गीतों की लोकप्रियता ने प्रगतिशील विचारधारा के पोषक कवियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि जनसाधारण तक सहज सम्प्रेषित होने के लिए गीत विधा को स्वीकारें। वैसे तो आजादी से पूर्व के स्वतंत्रता आन्दोलन के राजस्थान के जन-नायकों एवं समाज-सुधारकों ने भी इस बात को भांप लिया था कि जनता मे जागृति लाने एवं चेतना के स्वर फूंकने की दृष्टि से जनभाषा और सरल-सहज गीतों के माध्यम से प्रस्तुत बात ही सबसे अधिक प्रभावकारी सिद्ध होगी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले कवियों ने भी इसके मर्म को पहिचानते हुए ऐसे नाना प्रेरक गीतों की रचना की, जिनमे कहीं जनता को नव-निर्माण के लिए कटिबद्ध होने को प्रोत्साहित किया गया तो कहीं उसे शताब्दियो की शोषण एवं अत्याचार की परम्पराओं को ध्वस्त कर सर्वथा नवीन समाज-संगठन के लिए उकसाया गया। इस अवधि में सरकारी रीति-नीति के पोषक गीतकारो के छद्म क्रांतिकारी स्वर भी समान रूप और वाणी लेकर इनके साथ आ मिले। फलतः तथाकथित क्रांतिकारी दृष्टिकोण के पोषक गीतो एवं गीतकारों की संख्या तो बहुत बढ़ गयी, किन्तु साथ-ही-साथ जनसाधारण मे उनका प्रभाव भी निरन्तर कम होता गया।

प्रगतिशील गीतकारों के गीतों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि प्रायः ऐसे सभी गीतकारों ने अधिकांश मे पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के मधुर क्षणों का मोहक चित्रांकन करते हुए उसके मध्य कहीं धीरे-से अपनी बात को रखा है। फलतः क्रांति और परिवर्तन के जोशीले भाषणों की अपेक्षा ऐसे गीत जनमानस को उद्वेलित करने मे अधिक सफल हुए हैं। इस दृष्टि से श्री गजानन वर्मा के गीत सर्वाधिक सफल कहे जा सकते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

> अडवो ऊभ्यो खेत मे,
> सोनो निपजै रेत मे,
> खबरदार हरियाळी खेती पर कुण नजर लगावै।
> रात अंधेरी बाड़ तोड़ भो कुण छानै सी आवै।
> ऊजड़ चालै रे,
> हरी-भरी खेती पर घूमर घालै रे।
> अडवो ऊभ्यो खेत मे
> सोनो निपजै रेत मे
> फावड़-धावड़ चोक कर्‌यो आगूंडी धरती बाधी
> दिन भर कर्‌यो निनाण खेत मे दोनूं लोग लुगाई
> अडवो ललकारै
> भो भंगड बोलो कुण थाव उतारै रे।[2]

1. मोरपांख पारीक, प्र० का० १९६८ ई०
2. सोनो निपजै रेत में, पृ०सं० ३०—३१

श्री गजानन वर्मा ने अधिकांश में अपने गीतों में परिवर्तन एवं नवीन व्यवस्था की स्थापना के लिए संकेत भर किया है, किन्तु श्री रेवतदान चारण के गीतों में शोषण के विरुद्ध संघर्ष के स्वर काफी तीखे हैं।[1]

धर्म-प्रचारकों और भक्तों के मध्य गीत सदैव से ही लोकप्रिय रहे हैं। एक के लिए जहाँ यह अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार का सरल एवं प्रभावी मार्ग है, वहाँ दूसरे के लिए अपने हृदय की वेगवती भावधारा को व्यक्त करने की सबसे सही राह है; जहाँ भावों के उद्दाम स्रोत बिना किसी बन्धनों के स्वाभाविक रूप से फूट पड़ते हैं। राजस्थानी के आधुनिक काल में जैन धर्मावलम्बियों ने तो दोनों ही दृष्टियों से गीतों का खूब सहारा लिया है[2], किन्तु इसके अतिरिक्त भी अन्य मतावलम्बियों में भी अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा गीत ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। वैसे तो इस अवधि में पचासों भक्त कवियों ने, चरजाओं एवं पदों के रूप में अपने-अपने आराध्य के प्रति अपना आत्म-निवेदन किया है, किन्तु भाव एवं भाषा दोनों ही दृष्टियों से वे अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों का अनुसरण करते ही अधिक प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में वे गीत अधिक जन-प्रचलित नहीं हो सके। हाँ, इनके मध्य एक-आध कवियों के गीत अवश्य ही अपनी मौलिकता, तन्मयता एवं निश्छल भावाभिव्यक्ति के कारण सहज ही अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं—

कान्हजी ! किण विध मळगी होऊं
पलकां बाट बुहारूं, आंसूड़ा पांवळियाँ धोऊं
सांवळ पल भर दरस दिखाओ नैणां दीपक जोऊं—कान्हजी०
मारगियो अवड़ो रे मोहन, रैण अंधेरी थाय
जग-कांटो भारी बिच माहें, म्हांसूं लख्यो न जाय
थां बिन दुखड़ा रो मुग गोऊं—कान्हजी०
पग पांवड़ियां हाथ बिछाऊं, हाथां ऊपर फूल
धीमो-धीमो झाल चाळूड़ा, चुभसी रेता-शूल
चिन्ह-चरणां री माळा पोऊं—कान्हजी०
थारै बिन जियड़ो न रहसी, जासी पिंजर तोड़
लोग ममासी, दोस न लागो, बैठ मी मुग मोड़
प्रेम री अमर बेल बोऊं—कान्हजी०[3]

गीतों की इस चर्चा में उन गीतों को भी नहीं भुलाया जा सकता जो प्रबन्धकाव्यों में आये हैं। इस दृष्टि से 'राधा', 'शकुन्तला' और डॉक्टर मनोहर शर्मा के गेय छन्द में लिखे गये 'गोपीगीत', 'मरवण', 'कूंजा' आदि काव्य उल्लेखनीय हैं। डॉ० शर्मा ने इन काव्यों में यद्यपि यत्रतत्र गेय छन्द का प्रयोग किया है, किन्तु कलेवर-विस्तार एवं कथात्मकता में बंधे होने के कारण उन गेय काव्यों में भी वह भाव प्रवणता एवं तीव्रता नहीं आ पाई जो कि गीतिकाव्य का सर्वाधिक प्रमुख तत्व है। इसके

1. विशेष विवरण के लिए देखें 'प्रगतिशील काव्य'
2. विशेष विवरण के लिए देखें 'धार्मिक एवं भक्ति काव्य'
3. पद : राजश्री साधना; राजस्थान के कवि : सं० रावत सारस्वत, पृ०सं० १३८

विपरीत उनमें वर्णनात्मकता, वैचारिक ऊहापोह एवं कहीं-कहीं उपदेशात्मकता का पुट आने के कारण भावों के स्तर पर जो गति-शैथिल्य आया है, वह उन्हें प्रगीतों के अधिक निकट ला खड़ा करता है। डॉ० शर्मा के इन काव्यों की अपेक्षा श्री जोशी कृत 'राधा' गीतिकाव्य के अधिक निकट है। यद्यपि कथा-सूत्र उसमें भी सर्वथा गौण नहीं हुआ है, फिर भी वहाँ कवि का ध्यान अधिक से अधिक संवेगात्मक स्थलों के चयन और उन्हें पूर्ण तन्मयता तथा भाव-वेग के साथ प्रस्तुत करने का रहा है। अतः 'राधा' काव्य के बहुत से अंश कथा-सूत्र में बद्ध होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से रखे जाने पर एक सफल गीति की श्रेणी में आ जाते हैं। उदाहरण स्वरूप यहाँ एक ऐसा ही अंश प्रस्तुत है:—

म्हानै सायणिया मसो मारती ओ,
कोई नैण नचाती ब्रिज री नार,
जमना मे धसमस ओडी धोवता,
बरजती रुगांणी भोजायां बरजती,
बोलती पाड़ोसण म्हांनै बोल
जद म्हैं आती रे थारै बारणै
टोकती सवासणियां म्हांनै टोकती,
कूवै मुळकाती रै पिणियार
जद म्हैं सुणती थारी बांसरी,
मावड़ री आख्यां मोती दमकता,
गुधना में आता आळ जजाळ
जद म्हैं चढ़ियोड़ी नदियां नांघती[1]

इस पूरे गीत में राधा की मर्म-वेदना, गहरे पश्चात्ताप के रूप में व्यक्त हुई है। उसे इसी एक बात का भारी दुःख है कि परिवार, लोक और समाज की परवाह न कर उसने कृष्ण की प्रीति के लिए क्या कुछ नहीं किया ? किन्तु उसे बदले में क्या मिला ? लोक-निंदा और लांछना। उसे उसकी भी परवाह नहीं होती, यदि इस प्रीति की यादगार के रूप में वह एक सुन्दर सलोने बालक को पा सकती। ऐसे ही प्रगाढ़ भावों वाले 'राधा' के बहुत से गीतों में उसकी मर्म-वेदना को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है।

'शकुन्तला' में राधा की तरह पूरे काव्य का ताना-बाना तो गीतों के सहारे नहीं बुना गया है, किन्तु साकेत के नवम सर्ग की तरह ही उसका 'भरत'[2] नामक अष्टम सर्ग भी स्वतन्त्र गीतों के सहारे ही अपनी यात्रा पूरी करता है। दुष्यन्त द्वारा परित्यक्त शकुन्तला, अपमानित, लांछित एवं तिरस्कृत नारी के रूप में जिस भयंकर पीड़ा को भोगती है एवं आत्म-वेदना के व्यथित कर देने वाले जिन क्षणों के मध्य वह गुजरती है, उसकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न गीतों के माध्यम से हुई है। वैसे प्रबन्ध के नियमों के विपरीत होते हुए भी शकुन्तला के ये गीत उसकी आकुल वेदना को जो अभिव्यक्ति देने में सफल हुए हैं, वह अन्य किसी रूप में संभव नहीं था।

---

1. राधा : सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० ८३
2. शकुन्तला : श्री करणीदान बारहठ, पृ० सं० १०५

यहाँ तक इन गीतों के कथ्य से सम्बन्धित प्रवृत्तियों पर विशेष रूप से विचार हुआ है। आगे उनकी शिल्पगत एवं शैलीगत विशेषताओं का विवेचन करेंगे।

आधुनिक राजस्थानी के इन गीतों की शिल्प एवं शैलीगत प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व एक बात का स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि आधुनिक राजस्थानी के ये गीत कथ्य एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से राजस्थानी लोकगीतों से दूर तक प्रभावित रहे हैं। लोकगीतों का यह प्रभाव कथ्य की अपेक्षा शैली की दृष्टि से अधिक गहरा है यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन गीतों का बाहरी ढांचा तो लोकगीतों के अनुसरण पर निर्मित हुआ ही है, किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन गीतों की अलंकार योजना, इनका प्रतीक-विधान, इनमें प्रयुक्त लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे तथा इनमें वर्णित काव्यरूढ़ियाँ आदि सभी कुछ लोकगीतों से ज्यों-के-त्यों स्वीकार किये गये हैं। यही नहीं, इनके प्रस्तुतीकरण का लहजा और अन्दाज भी लोकगीतों वाला ही है। बात पर जोर देने के लिए शब्दों की पुनरावृत्ति और हृदय को सहज द्रवित कर देने वाली कल्पना की रंगीनियों एवं बुद्धि-चमत्कार का प्रदर्शन करने वाली अलंकृत भाषा से मुक्त ऐसी संस्कारित भाषा का प्रयोग—जिसके शब्द-शब्द के पीछे खड़ा युगों-युगों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों का इतिहास, हृदय की रागात्मक वृत्तियों को सहज ही उद्वेलित करदे—विशेषत लोकगीतों का प्रभाव ही कहा जायेगा।

उपमानों और उत्प्रेक्षा के बंधे-बन्धाये प्रयोग, प्रतीकों के निश्चित दायरे और व्यंजित भावों का सामूहिक एवं साधारणीकृत रूप इन गीतों में लोकगीतों जैसा ही माहौल खड़ा कर देता है। यहाँ भी वही सात सहेलियों का झूलना, वही घसमस मेंडी का धोना, वही गवरू गायवा, वही मतिवाला धण, वही सामान्य-से-सामान्य और साधारण-से-साधारण वस्तु का स्वर्ण, रजत, मुक्ता या रत्न आदि का बना होना, वहीं पक्षियों के द्वारा सन्देश भेजना, वही कोयल, कुरज (कुरजा) आदि पक्षियों के मिस अपने भावों का प्रदर्शन, यानि भाव, शैली और शिल्प सभी कुछ में लोकगीतों की छाया को स्पष्टतः देखा जा सकता है।

गेयता की दृष्टि से विचार करते हैं तो पाते हैं कि राजस्थानी के आधुनिक गीतों में शास्त्रीय राग-रागनियों के स्थान पर अधिकांशतः प्रसिद्ध लोकधुनों का ही अनुसरण हुआ है। इन गीतकारों ने जहाँ एक ओर 'मांड' 'गरबा', 'लूर' आदि प्रसिद्ध लोक-रागों को अपनाया है,[1] वहाँ दूसरी ओर विभिन्न लोक गीतों की तर्ज पर अपने गीतों की लय निर्मित की है[2] और तीसरी ओर गजानन वर्मा जैसे गीतकारों ने लोकधुनों के आधार पर मिश्रित धुनों की भी सर्जना की है। इसी साम्य का परिणाम यह है कि बहुधा इन गीतों को पढ़ते समय मस्तिष्क में किसी-न-किसी लोकगीत की धुन ताजा हो उठती है।

---

1. श्री गणपतिचन्द्र भंडारी का प्रसिद्ध गीत 'प्यारो मरुधर देश' (रत्नदीप, पृ० सं० १५५) एवं श्री सत्यप्रकाश जोशी का 'मुग्धा री मांड' (दीवा कांपे क्यूं, पृ० सं० ३०) आदि मांड राग में सज्जित कतिपय उल्लेखनीय गीत हैं। 'मांड राग' की तरह 'गरबा' गुजराती लोक नाच का प्रसिद्ध रूप है, जिसका प्रयोग भी श्री सत्यप्रकाश जोशी प्रभृति गीतकारों ने 'विरामा रो गरबो' (दीवा कांपे क्यूं, पृ० सं० २७) एवं 'गोरिया रो गरबो' (दीवा कांपे क्यूं, पृ० सं० २६) आदि गीतों में किया है। इन लोक-रागों के अतिरिक्त 'लूर' आदि विशेष लोक-रागों का प्रयोग भी मुनि महेन्द्र कुमार 'प्रथम' कृत 'जम्बू स्वामी की लूर' (र० का० १९७० ई०) एवं अन्य गीतों में भी हुआ है।

गीत भेद के भिन्न प्रकारों में ध्वनि-गीत, समूह गीत एवं युगल गीत तीनों प्रकार के गीतों की रचना आधुनिक राजस्थानी के गीतकारों ने की है। ध्वनि-गीतों की सर्जना में श्री गजानन वर्मा विशेष सक्रिय रहे हैं। श्री नरोत्तमदास स्वामी के शब्दों में "ध्वनि-गीतों के रचनाकार के रूप में श्री गजानन वर्मा अपनी बिल्कुल पृथक् और विशिष्ट सामर्थ्य रखते हैं। जीवन की प्रवाहगति और उसकी हर चपल लहर का संगीत वे अपने गीतों में उतार पाये हैं। दादी नानी के निरन्तर गतिशील चरखे और करघे के श्रम संगीत की ध्वनि, प्रयाण और उद्बोधन की प्रेरक-ध्वनि, रुई धुनते हुए पिंजारे के औजार की ध्वनि, कहना चाहिए अमर संगीत की जिन चिर नवीन लहरियों से लोक-जीवन आन्दोलित है, उनसे अपनी अभिव्यक्ति को अभिसिंचित करने की लगन और कुशलता श्री वर्मा को प्राप्त है और वे अपने ध्वनि-गीतों में कई सार्थक

---

२. आधुनिक राजस्थानी में ऐसे गीतों की संख्या पर्याप्त रही है जहाँ क्वचित् परिवर्तन के साथ किसी प्रसिद्ध लोकगीत की धुन को अपनाया गया है। यहाँ उदाहरणार्थ एक दो गीत प्रस्तुत हैं—

क. साझ पड़्यां घर जाऊं रे कान्ह।
राधा : पृ० सं० ४५

तुलनीय—

उपलै मगरे जाऊं ऐ माय
उळिया कायर लाऊं ऐ माय
बीरो म्हारो भाई ऐ माय : विजयदान देथा, पृ० सं० १८

ख. म्हारै हाथां में सुरंगी मेहदी राचणी जी राज
गोरी ऊभी गोरड़ी, पृ० सं० २२

तुलनीय—

थां तो गिरजाजी रे मैंनो बादळी रे लाल
मरवण मांदी ओ : सं० विजयदान देथा, पृ० सं० ३४
और भी
गुमरोजी घड़ायो म्हारो बोरलो रे लाल
सासू जी जड़ाया म्हारा रतन-जड़ाव
जब्बर झूंटणा रे लाल
हियड़ो आज हरखतो डोलै प्रीतड़ली री पाळ
सोनो निपजै रेत में, पृ० सं० ७०

तुलनीय —

थांतो गिगन जी रे मैंनो बादळी रे लाल
थांतो झुक झुक भोला लाय
रंगीली पग री बादळी रे लाल
थांतो भंवर जी रे मैंनो बादळी रे लाल
मरवण मांदी ओ : सं० विजयदान देथा, पृ० सं० ३४

चित्रों को सही रूप में उतार पाये हैं।"[1] उनके 'बाजै घूघरिया'[2], 'सटकनळी'[3], 'धुन रे तिसारा'[4], 'चडो माळिया'[5] आदि बहुत से सफल ध्वनि-गीत जनसाधारण के मध्य काफी लोकप्रिय रहे हैं। श्री गजानन वर्मा के अतिरिक्त श्री गणेशीलाल 'उस्ताद', श्री ओंकार पारीक, श्री सत्यनारायण प्रभाकर अमन प्रभृति गीतकारों ने भी सफल ध्वनि-गीतों की रचना की है, जिनमें स्व० उस्ताद के ऐसे गीत काफी प्रचारित-प्रसारित हुए हैं।

समूह-गीतों की रचना विशेष रूप से सामाजिक जीवन के उन प्रसंगों से सम्बन्धित होती है, जहाँ वैयक्तिक उल्लास एवं उत्साह के स्थान पर समूह-मन के ओज, उमंग आदि भावों को अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है। सामाजिक जीवन में ऐसे क्षण विशेष रूप से तो पर्व-त्योहार आदि के साथ ही आते हैं या फिर 'लावणी' आदि सामूहिक श्रम से सम्पन्न होने वाले कार्यों के साथ। राजस्थानी में ऐसे दोनों ही प्रसंगों से सम्बन्धित गीतों की रचना हुई है, जिसमें स्व० गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद' और श्री गजानन वर्मा के गीत ही विशेष लोकप्रिय हुए।

युगल-गीतों की संख्या अपेक्षाकृत कम रही है। ऐसे गीत अधिकांश में पति-पत्नि के मध्य होने वाले मधुर संवादों के रूप में ही लिखे गए हैं। इनमें भी गीतकारों की प्रवृत्ति दो ओर लक्षित की जा सकती है। एक ओर ऐसे गीत रचे गए हैं जहाँ उन्मद यौवन के समस्त सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त, उन्मुक्त प्रणयोच्छ्वासों को अभिव्यक्ति मिली है तो दूसरी ओर श्रम सीकरों के मध्य पनपते (विकसित होते) सद्गृहस्थ के निर्मल प्यार का मधुर अंकन हुआ है। प्रथम प्रकार के गीतों में श्री मदनगोपाल शर्मा का 'कव्यो उड रह्यो'[6], श्री लक्ष्मणसिंह रसवन्त का 'मुळकायो'[7] आदि गीत एवं द्वितीय प्रकार के गीतों में श्री गजानन वर्मा एवं स्व० 'उस्ताद' के बहुत से गीत द्रष्टव्य हैं।

रूप विधान की दृष्टि से पाश्चात्य काव्य-जगत में लिरिक के पांच भेद माने गये हैं— १. सम्बोधन गीति (ODE) २. शोक गीति (ELEGY) ३. पत्र-गीति (EPISTLE) ४. गीत (SONG) एवं ५. चतुर्दशपदी (SONNET)। आधुनिक राजस्थानी के गीतकारों ने (SONG) गीत के अतिरिक्त सम्बोधन-गीति एवं शोक गीति तक ही अपने को सीमित रखा है। सम्बोधन-गीति के स्वरूप को लेकर विचारकों में पर्याप्त मतभेद रहा है, फिर भी उदात्त दृष्टिकोण, भव्य शैली, रागात्मकता एवं गेयता इसके प्रमुख लक्षण माने गये हैं। वैसे संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी साहित्य में भी पशु-पक्षियों से आत्माभिव्यक्ति और उन्हें माध्यम बनाते हुए अपने सन्देश प्रेषित करने की परम्परा रही है;

---

१. भूमिका, सोनो निपजै रेत में, पृ०सं० १६ (द्वितीय संस्करण)
२. सोनो निपजै रेत में, पृ०सं० ३६
३. वही, पृ०सं० ४२
४. वही, पृ०सं० ४५
५. वही, पृ०सं० १३५
६. मोती ऊगी मोरडी, पृ० सं० ५६
७. रसाल, पृ० सं० ३५

किन्तु आधुनिक साहित्य में जिस प्रकार की सम्बोधन-गीतियाँ लिखी जा रही हैं, उनका तन्त्र पाश्चात्य ODE से ही सीधा जुड़ा हुआ है। शैली की दृष्टि से सम्बोधनात्मक गीतियाँ दो रूपों में लिखी गई हैं— प्रथम, वस्तु विशेष को सम्बोधित करते हुए आत्माभिव्यक्ति की गई है और द्वितीय, वस्तु विशेष पर ही अपने भावों को आरोपित करते हुए आत्मकथात्मक शैली को अपनाया गया है। अधिकांश रचनाएँ प्रथम प्रकार की शैली में ही लिखी गई हैं। इस दृष्टि से श्री कल्याणसिंह राजावत के गीत उल्लेखनीय बन पड़े हैं। उनका 'रामतिया मत तोड़'[1], 'फूल फूल रो मोल'[2], 'दिवला कितरी वाट वळी'[3] आदि गीतों में इस शैली का सुन्दर निर्वाह हुआ है। आत्मकथात्मक शैली में अधिकांशतः सुख-दुःख की वैयक्तिक अनुभूतियों एवं आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है। श्री मदनगोपाल शर्मा रचित 'पांच पंखेरू'[4], श्री सत्यप्रकाश जोशी रचित 'ल्होड़ी जो'[5] आदि आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए उल्लेखनीय गीत हैं।

किसी प्रिय या आदरणीय की मृत्यु पर उसके सम्मानार्थ या कि शोक प्रदर्शनार्थ काव्य-रचना की परम्परा काफी प्राचीन रही है। इस प्रकार के काव्य को 'मरसिया' संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। आधुनिक शोक-गीति को 'मरसिया' का विकसित रूप तो नहीं माना जा सकता, किन्तु फिर भी दोनों में काफी साम्य है। दोनों में ही अन्तर की पीड़ा की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान में शोक-गीति के दो रूप प्रचलित हैं—प्रथम, वैयक्तिक प्रसंगों से उद्वेलित कवि मन की पीड़ा को व्यक्त करने वाले शोक-गीत एवं द्वितीय, ऐसे किसी महान् पुरुष के विछोह से सम्बन्धित, जो कि अपनी विशिष्ट उपलब्धियों एवं सेवा, त्याग या बलिदान के कारण जन-साधारण का श्रद्धेय रहा हो। प्रथम प्रकार की गीतियाँ गीतकार के वैयक्तिक जीवन से सीधे सम्पृक्त होते हुए भी अन्तर की गहन पीड़ा से भोगी होने के कारण सहृदयों को सहज ही द्रवित कर लेती हैं। राजस्थानी में 'सरोज-स्मृति' जैसी शोक गीति तो दूर वैयक्तिक पीड़ा से उद्भूत सामान्य शोक-गीतियों का भी अभाव ही कहा जा सकता है; हाँ, 'मरसिया' परम्परा का निर्वाह फिर भी 'रावल नरेन्द्रसिंघ रा मरसिया'[6] जैसी रचनाओं में हुआ कहा जा सकता है। वैसे मुकुन्दसिंह बीदावत कृत 'बहुनामी री बेलि'[7] पर फिर भी इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है। इसकी रचना कवि ने अपने एक मित्र की दो वर्षीय अबोध बालिका की मृत्यु से क्षुब्ध होकर की है। चूंकि इस कृति में उस बालिका से सम्बन्धित उन स्मृतियों का अंकन बहुत कम हुआ है जो कवि के मानस को अपनी स्मृतिजन्य पीड़ा से पुनः‌पुनः आलोड़ित करता रहा है, अपितु इसके व्याज से कवि ने वर्तमान की दुरावस्था का चित्रण करते हुए उसके लिए अपने आराध्य को दोषी ठहराया और इसी बात के लिये उसे अनेक प्रकार से उपालम्भ दिये हैं। इस प्रकार यह रचना व्यक्तिगत जीवन के ही एक मार्मिक प्रसंग से उत्प्रेरित होते हुए भी उपालम्भ-काव्य के अधिक निकट है।

---

१. रामतिया मत तोड़, पृ०सं० ३
२. वही, पृ०सं० ५
३. वही, पृ०सं० १९
४. मोनें ऊभी मोरड़ी, पृ०सं० ४८
५. दीया बाती बनूं
६. मंजुसिंह मनोहर, मरुवाणी, वर्ष ७, अंक–४ पृ०सं० २५
७. प्रकाशक : मरु भारती प्रकाशन, जयपुर, प्र०सं०—१९६७ ई०

द्वितीय प्रकार की शोक-गीतियों में आलम्बन के प्रति वैयक्तिक सान्निध्य के बावजूद भी ममत्व या अपनत्व की अपेक्षा श्रद्धा का भाव प्रबल होता है, फलतः उनमें व्यक्त हुए उद्‌गारों में पीड़ा उतनी घनीभूत नहीं रह पाती। अधिकांश में ऐसी गीतियों में श्रद्धेय या आलम्बन की उपलब्धियों एवं महानताओं से अभिभूत कवि-मन, उसके महत्त्व को दर्शाने और उसके निधन से सार्वजनिक जीवन में हुई क्षति को अंकित करने में ही अधिक रम जाता है। आधुनिक राजस्थानी में गांधी, नेहरू या शास्त्री जैसे दिग्गज नेताओं के काल-कवलित होने पर ही विशेष रूप से शोक-विह्वल कवियों की लेखनी से ऐसी शोक-गीतियों की रचना हुई हैं। वैसे अपूर्व शौर्य का परिचय देते हुए देश हितार्थ मरने वाले योद्धाओं की स्मृति में भी यदा-कदा कतिपय शोक-गीतियाँ लिखी गई हैं। इन शोक-गीतियों में महात्मा गांधी के निधन पर लिखी गई श्री कन्हैयालाल सेठिया कृत 'बापू'[1] एवं श्री रेवतदान चारण 'कल्पित' कृत 'धिरै रा आंख में आंसू'[2] शीर्षक गीतियाँ भाव-द्रवणता और कथन की ऊष्मा के कारण पाठक को सहज ही द्रवित कर देती है—

> आभै में उड़ता खग थमग्या
> गैलै में बैता पग ठमग्या
> हाको सो फूट्यो धरती पर
> यैं कुण गमग्या, वैं कुण गमग्या ?[3]

निष्कर्षतः आधुनिक राजस्थानी साहित्य के इतिहास में एक समय ऐसा आया जबकि यहाँ गीत सर्वाधिक लोकप्रिय विधा रही। गीत की इस लोकप्रियता का कारण एक ओर जहाँ गद्यकथाओं एवं अन्य प्रशस्ति गानों की एकरसता से ऊबे पाठक, श्रोता एवं स्वयं कवि वर्ग द्वारा बदलाव की माँग थी, वहाँ दूसरी ओर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जनसामान्य के बढ़े हुए महत्त्व और आम आदमियों की भीड़ का प्रत्येक वस्तु को तेजी से अपनी ओर आकर्षित करने का मुद्दा भी। इस कारण कुछ ही समय पूर्व राजाओं एवं सामन्तों के गुणगान करने वाले कवियों ने भी समय की परिवर्तनशील गति को पहिचानकर स्वयं को भी उसी के अनुरूप ढालना शुरू किया और राजाओं की जय-जयकार करते करते अब जन-शक्ति की जय-जयकार करने लगे। इन लोगों ने देखा कि जनमानस के निकट पहुँचने का सहज और सरल रास्ता गीत के अतिरिक्त अन्य नहीं है, अतः इन्होंने लोकमानस के प्रति प्रिय एवं उसके भावों की निश्छल अभिव्यक्ति करने वाले लोककाव्य के क्षेत्र में पुनर्पठ करना उचित समझा। फलतः इन गीतों का कथ्य, शिल्प और शैली तीनों ही राजस्थानी लोकगीतों से दूर तक प्रेरित-प्रभावित रहे। कहीं-कहीं तो यह प्रभाव इतने स्थूल रूप में उभर कर सामने आए, कि सामान्य लोक गीतों और इन कवियों द्वारा सर्जित गीतों में अन्तर कर पाना ही कठिन हो गया।

जहाँ तक इन गीतों के कथ्य का प्रश्न है, यह सामान्यतः सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विभिन्न पक्षों से ही सम्बद्ध रहा। वैयक्तिक सुख-दुःख एवं तज्जन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इन गीतों में कम ही हो पाई। वस्तुतः ये गीत व्यष्टि-मन की पीड़ा या उमंग के व्यंजक न होकर समष्टि-

---

१. मींझर, पृ०सं० १२
२. गांधी प्रकाश : सं० वेदव्यास, पृ०सं० १२
३. मींझर, पृ०सं० १२

वर्ग की सामूहिक भावनाओं के अभिव्यक्ता ही विशेष रूप से बने रहे । फलतः प्रेम एवं शृङ्गार सम्बन्धी गीतों से लेकर प्रगतिशील दृष्टिकोण के परिचायक गीतों तक और प्रकृति-चित्रण एवं देशभक्ति सम्बन्धी गीतों से लेकर धार्मिक एवं आध्यात्मिक उपदेश-प्रधान गीतों तक सामूहिक भावों के अभिव्यंजना की यह प्रवृत्ति समान रूप से प्रभावी रही ।

अब तक हुई राजस्थानी गीतों की इस चर्चा के सम्बन्ध में एक बात की ओर इंगित करना अनपेक्षित नहीं होगा कि राजस्थानी साहित्य जगत् में गीत ही एक ऐसी विधा रही है जिसका सर्वाधिक दुरुपयोग किया गया । गीत–जो कि सर्वथा मन के राग-विराग से जुड़ा हुआ है–को प्रचार-प्रसार का साधन बनाकर न केवल उसके साथ ही भारी मजाक किया गया अपितु इसी के माध्यम से जन-भावनाओं का गलत उपयोग भी हुआ । कम्पोस्ट खाद के विज्ञापन से लेकर परिवार नियोजन की उपयोगिता समझाने तक और सहकारी जीवन का पाठ जन-साधारण के गले उतारने से लेकर गांधी भक्ति और भूगोल भक्ति का पाठ पढ़ाने तक के लिए समान रूप से इसका दुरुपयोग किया गया । यही नहीं धड़ल्ले से ऐसी रचनाओं को साहित्य के नाम पर भुनाया गया । तभी तो अनाधिकारियों द्वारा किये गये गीत के इस अवमूल्यन से दुःखी होकर सच्चे गीतकारों की मर्म वेदना यों फूट पड़ी—

गीत, एक पायल गोरियो ।
पाना खोल खोल' र
कागला देनुलो राग भरै,
चिड़कल्यां मटगेड़ो-गमक' र
थाळा सजावै,
स्याणा मोरछड़ी बणा' र
बहम्यां रै भाटो दे,
देस' र आभो निसाग नारो,
आपरी गूंज मोरड़ी
डूंगरा में सिर धुणै ।[1]

राजस्थानी गीतों की वर्तमान स्थिति की इससे अधिक सटीक व्याख्या और क्या होगी ?

⊛

---

१. कू कूं : श्री कन्हैयालाल सेठिया, पृष्ठ० २, प्र०सं०-विक्रम० २०२७

प्रगतिशील काव्य

हिन्दी साहित्य जगत् में 'प्रगतिवाद' एवं 'प्रगतिशील' शब्द पर्याप्त विवाद के विषय रहे हैं। एक ओर कुछ आलोचक दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करना समीचीन समझते हैं और यह मानते हैं कि मार्क्सवादी दर्शन एवं विचारधारा को व्याख्यायित करने वाला साहित्य या कि उनके सिद्धान्तों के अनुरूप सृजित साहित्य ही प्रगतिशील या प्रगतिवादी साहित्य है। वहीं दूसरी ओर कतिपय अन्य विद्वान इन दोनों शब्दों में अन्तर मानकर उनके अलग-अलग रूप निर्धारित करते हैं। उनके अनुसार प्रगतिवाद शब्द तो मार्क्सवादी दर्शन एवं विचारों से अनुप्राणित साहित्य के लिए ही रखा जाए, किन्तु प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्गत वह सभी साहित्य भी समाहित किया जाए जो कि अपने युग को विकास पथ पर अग्रसर करने में सहायक रहा हो चाहे उसकी सर्जन चेतना के मूल में मार्क्सवादी दर्शन न भी रहा हो[1]। आज यह बात लगभग मान ली गयी है कि मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित साहित्य को प्रगतिवादी साहित्य कहा जाये और अग्रगामी विचारों के पोषक साहित्य को प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया जाए—जिसमें प्रगतिवादी साहित्य भी समा जाता है। हम भी यहाँ इसी आधार पर प्रगतिशील शब्द को स्वीकारते हुए इसके अन्तर्गत आधुनिक राजस्थानी काव्य की उन सब रचनाओं पर विचार करेंगे, जिसने युग की मांग को वाणी देकर समाज को प्रतिगामी स्थितियों से बचाकर, प्रगतिपथ पर अग्रसर किया।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य में प्रगतिशील काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में उन रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो कि प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (१८५७ ई०) के आसपास या उससे कुछ पूर्व रची गयी थी और जिनमें मुख्यतः तात्कालिक सामन्तों और राजा महाराजाओं को अंग्रेजों के

---

१. "मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से अनुप्राणित साहित्य को 'प्रगतिवादी साहित्य' और इस साहित्य सहित इसके आसपास के उस समस्त आधुनिक साहित्य को जो मूलतः मानववादी और यथार्थवादी है—चाहे उनके स्रष्टाओं का दार्शनिक दृष्टिकोण कुछ भी हो—और उस समस्त प्राचीन साहित्य को भी, अपने युग की ऐतिहासिक परिस्थितियों में जिसने समाज और संस्कृति को आगे बढ़ाने की प्रेरणा दी और जो मानववादी भावनाओं से पूर्ण है, 'प्रगतिशील साहित्य' कहा जाना चाहिए।"

हिन्दी प्रगतिशील कविता: डॉ० रणजीत, हिन्दी साहित्य संसार, प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं०-१९७१ ई०

विरुद्ध एक जुट होकर संघर्ष करने को उद्बोधित किया गया था। इन रचनाओं के सर्जकों में एक ओर सूर्यमल्ल मिश्रण जैसे समर्थ कवि हुए हैं जिन्होंने जनसाधारण में स्वाभिमान, स्वतन्त्रता और वीरता के भाव जगाने वाले काव्य की सर्जना की, तो दूसरी ओर शंकरदान सामौर जैसे जनकवि हुए हैं, जिन्होंने समय से पूर्व ही अंग्रेजों की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को ताड़कर, तात्कालिक शासनाधिकारियों को उस खतरे के प्रति आगाह कर दिया था—

महलज लूटण मोकळा, चढ़्या गुण्या निगेज
लूटण भूपा लालची, आया वस इंगरेज ॥[1]

यह नहीं खतरे की गंभीरता को महसूसते हुए उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात भी बड़े स्पष्ट शब्दों में की, जो कि उस समय को देखते हुए उन कवियों के प्रगतिशील चिन्तन का ही परिणाम कही जायेगी—

मिल मुसलमान, राजपूत श्रो मरेठा
जाट सिख पथ छोड़ जबर जुड़सी
दौड़सी देसरा दब्योड़ा दाकल कर
मुलक रा मीठा ठग तुरत मुड़सी[2]

और इससे भी बढ़कर इस राष्ट्रीय संकट के समय आनाकानी करने वाले नरेशों को खूब आड़े हाथों लेकर, पूरा उत्साह प्रदर्शित किया—

तन मोटो, मोटो तखत, मोटो बम गंभीर
हुमो देस हित क्यूं हमे, मन छोटो हम्मीर ॥[3]

इस प्रकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित करने वाले साहित्य की सर्जना उन कवियों की प्रगतिशील दृष्टि का ही परिचायक मानी जायेगी।

राष्ट्र और समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सोचने की इस प्रवृत्ति को राजस्थानी साहित्य के आधुनिककाल के प्रथम चरण में विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला। इस दृष्टि से प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों ने पर्याप्त सजगता का परिचय दिया। इन लोगों ने मारवाड़ी समाज की पतितावस्था को ध्यान में रखते हुए सुधारवादी एवं प्रेरणास्पद साहित्य की सर्जना में विशेष रुचि दिखलायी। उन्होंने गद्य और पद्य में समान रूप से इस पहलू को छुआ। इस दृष्टि से प्रथम उल्लेखनीय नाम आता है श्रीयुत शिवचन्द्र भरतिया का। जिन्होंने एक ओर तो भारत के अन्य-अन्य प्रान्तों की अपेक्षा राजस्थानवासियों के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में पिछड़ जाने की बात को गंभीरता से लिया और अपनी रचनाओं के माध्यम से भरपूर प्रयास किया कि मारवाड़ी समाज अपनी अशिक्षा एवं अन्धविश्वास-जन्य कुरीतियों को छोड़कर प्रगति पथ पर अग्रसर हो, तो दूसरी ओर केवल जातीयता या प्रान्तीयता की सीमाओं में ही न बन्धे रहकर, राष्ट्रीय स्तर पर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, देश

---

१. राजस्थानी साहित्य में राष्ट्रीय चेतना— श्री भंवरसिंह सामौर
आलोक, सन १९६८-६९, पृ० सं० ५३ (चूरू)

२. वही

३. वही

तो दूसरी ओर जनसाधारण को देश और जाति की तात्कालिक दुर्दशा से अवगत कराते हुए त्याग और बलिदान के लिए प्रेरित किया—

तू भी अपनी तान सुना जा
आ भाई तू भी तो आजा
घणो अंधेरो म्हाँ जाति में
और देश में घस्यो अज्ञान
लड़ै लोगड़ा बात बात में
राखे नहीं न्याय को ध्यान
कष्ट त्याग बलिदान करेलो ?
घर को ध्यान न तनिक धरेलो?
देश जाति हित सुखी मरेलो।
ई यूं ही सब काम सरेलो ?[1]

और तीसरी ओर भाग्य के नाम पर दुःख झेलने की बात को सरासर मूर्खता बताते हुए, उसे पुरुषार्थ के बल पर जन-जीवन निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया —

तकदीर को ठीकरो फोड़ धरो पुरसारथ सेरा निसाणो जरा
सब झूठ लिलाड़ निमंत करो अब भाग कै आग लगाओ जरा
मुरदापणु छोड़ कै मर्द बणो मरदी कर ख्यात दिखावो जरा
दिल को धड़को सब दूर करो डरनै डर पार भगाओ जरा।[2]

इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व की प्रगतिशील रचनाओं में समाज-सुधार, जातीय-उत्थान, शोषण के प्रति संगठित संघर्ष और राजनैतिक अधिकारों के प्रति सजगता के भाव जागृत करने वाले भावों एवं विचारों का ही प्राधान्य रहा। वस्तुतः स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही राजस्थानी प्रगतिशील काव्यधारा ने गति पकड़ी। देश की ताजा आजादी ने कवियों में नव विश्वास और आशा का संचार किया और उन्होंने अपनी रचनाओं में बड़े-बड़े सुनहरे स्वप्न सजोते हुए अपने उत्साह को व्यक्त किया। यहाँ भी दो स्थितियाँ रहीं। एक ओर वे कवि थे जो कि किसी राजनैतिक मतवाद या विचारधारा से पीड़ित नहीं थे, अपितु जिन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्तरिक उल्लास से प्रेरित होकर विकास और नव-निर्माण के गीत गाये तो दूसरी ओर मार्क्सवादी विचारों से प्रेरित कवियों ने स्वतंत्रता प्राप्ति को ही अपना अन्तिम ध्येय न मानते हुए अब खुले रूप से ऐसी रचनाओं की सृष्टि प्रारम्भ की जिसमें स्पष्ट रूप से साम्यवाद की स्थापना के लिए रक्तक्रांति की बात कही गयी।

प्रथम धारा अर्थात् आन्तरिक उत्साह एवं उल्लास से प्रेरित होकर विकास एवं नव-निर्माण के उमंग भरे गीत लिखने वाले गीतकारों की संख्या राजस्थानी में पर्याप्त रही है। स्व० दुर्गादास व्यास 'उस्ताद', स्व० सुमनेश जोशी, श्री गजानन वर्मा, श्री निरंजननाथ आचार्य, श्री मदनगोपाल शर्मा

---

1. आ भाई तू भी तो आजा : श्री जयनारायण व्यास, आगीवाण : सं० बालकृष्ण उपाध्याय
   पृ० सं० १, नवम्बर १९३७

2. गीतचोंपी : हीरालाल शास्त्री

प्रभृति बीसों कवियों ने ऐसे शताधिक गीतों एवं कविताओं की रचनाएं की जिनमें आजादी का तहेदिल से स्वागत करते हुए, सुनहले भविष्य के सुन्दर स्वप्न संजोये गये हैं और देश के नव-निर्माण के लिए साधारण जन को तन-मन-धन से जुट जाने का आह्वान किया है। स्व० उस्ताद के स्वतंत्रता प्राप्ति के समय और कुछ बाद तक लिखे गये गीत[1], स्व० सुमनेश जोशी की 'नवीं रागणी'[2] में संकलित गीत, श्री गजानन वर्मा के 'सोनो निपजै रेत में'[3] संकलित अनेक गीत, श्री मदनगोपाल शर्मा के 'गोरी ऊभी गोरड़ी'[4] के कई गीत, श्री निरंजननाथ आचार्य के 'धरती रा गीत'[5] आदि काव्य संकलन ऐसी ही रचनाओं से भरे पड़े हैं। ऐसी रचनाओं के पीछे भी कवियों का प्रमुख दृष्टिकोण जनजागरण एवं नवनिर्माण के लिए उनमें उत्साह का संचार करना रहा है, अतः यहाँ भी उपदेश प्रमुख और कवित्व गौण हो गया है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार लिखे गए सैकड़ों गीतों में से उदाहरण स्वरूप एक आध रचना का उल्लेख ही पर्याप्त होगा—

> मन रो अंधारो हट जासी, जनता जुग समझण नैं लागी
> तन रा पग बंधण कट जासी, जनता हेत हिलणनैं लागी
> जन आंख्यां खुलतां ही उडगी, ऊंच नीच अळगाई रे
> आजादी आतां ही हुयगी, भिचकण सूं भरपाई रे
> जनता भय भांगणनैं लागी
> नितरी निबळाई निठ जासी, जनता आप-बणणनैं लागी
> जळ बिजळी, कळबळ खेड़ा में अन री उपज बधाई रे
> रेल सड़क मोटर सूं सुधरी, करसण तणी कमाई रे।
> जनता फरज भरण नैं लागी
> सिर रो देवाळो दह जासी, जनता कम खरचणनैं लागी ।[6]

विकास और निर्माण के प्रति व्यंजित हुआ यह उत्साह अधिक समय तक नहीं ठहर पाया, क्योंकि जनता ने शासन से जिन बातों की अपेक्षा की थी, उन सब की पूर्ति के स्थान पर उन्हें मिला भ्रष्टाचार और अनाचार का पोषक एक नया सामन्ती वर्ग। अतः जनता का विश्वास उन सब बातों से हट गया। ऐसे अवसर पर मोहभंग की स्थिति में पहुँचे से ही कवि तीखे शब्दों में भ्रष्ट शासन-व्यवस्था की तीखी आलोचना करने लगे। जनता के विश्वास को जो जबरदस्त ठेस शासनाधिकारियों के कुकृत्यों से लगी, उसकी पीड़ा को 'उस्ताद' जैसे कवियों ने बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है—

---

1. देखें-मरवाणी, वर्ष १० और ११ के जनकवि उस्ताद अंक
2. प्र० का०-१९५६ ई०
3. प्र०का०-वि०सं० २०२१
4. प्र०का०—१९६५ ई०
5. प्र०का०—१९६३ ई०
6. जनता जुग समझण नैं लागी, गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद'

मरवाणी, वर्ष १०, अंक ८, पृष्ठ ४८

लोग कवै सूरज ऊगो, किण कठै गयो परकास
हाथ हाथ नैं सावण दोई, किण री रासां घास
मुलक री आ कैड़ी आजादी,
पूत-पितर में मच्यो छिनाळो, म्हाई दिस बरबादी
मिनखपणे री राम निसरग्यो, ग्रेक पूजीजै भेस
दल स्वारथ सूं जन रा नेता कियो पांगळो देस
सिपाई हायां धूड़ उड़ादी
कितरा तो टुकड़ा पर बिकग्या, बाकी गांठ गमादी
मोटा मगर कुटम नैं खावे, निबळा भुगते डंड
बापू री उपदेश बिसरने, संत हुआ सो संड
सयाणा सेठ बण्या सतवादी
खादी त्याग गरीबी बरणी, जन-जुग री सहजादी ।[1]

जनता के इस दुःख दर्द को अकेले उस्ताद ने ही वाणी नहीं दी, अपितु 'अमन' जैसे अन्य प्रगतिशील कवियों ने इस भ्रष्ट और पतित अवस्था का सांगोपांग चित्रण करते हुए इस सारी अव्यवस्था के प्रति उत्तरदायी लोगों को खूब आड़े हाथों लिया है । उन्होंने कहीं व्यंग्य के सहारे स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

गांधी जी चलग्या सुख पाया ।
आ भ्रष्टाचारी देस-देस,
काळा-बाजारी देस-देस
ई भाटां मारी भारत री
तस्कर ब्योपारी देस-देस ।
या गोद पावती दुख भाया—
गांधी जी चलग्या सुख पाया ।[2]

तो कहीं शासनाधिकारियों की निर्लज्जता को देखते हुए, उन्हें स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी है—

सिर मूंच लियो है मूंपड़त्यां अब नहीं तर्कसी काची ऐ,
ऐ जाण गई ईं जीणै स्यूं तो मौत गाण री आछी है ।
म्हैला री नींव हुई थोथी
अब छात टूटणी बाकी है,
यां टपल्यां रै मुंहाथ, जिग्यां
अब साथ छूटणी बाकी है ।[3]

---

१. आ कैड़ी आजादी : गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद,'
मरुवाणी, वर्ष ११, अंक ४, पृ० सं० १२३

२. थे मत भाया, धूंटिया, 'अमन' पृ०सं० ६१

३. मांग : धूंटिया, 'अमन', पृ० सं० ४१

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही उल्लास एवं उमंग में फूटे कवियों के उत्साही स्वर, अपेक्षित परिवर्तन न आ पाने की स्थिति में होले-होले वर्तमान की भ्रष्ट और पतित व्यवस्था के प्रति आक्रोश की आग उगलने लगे, किन्तु फिर भी इन बदली हुई स्थितियों में सरकारी रीति-नीतियों को वाणी प्रदान करने वाली रचनाओं का सर्जन एकदम बन्द नहीं हुआ है। वह अब भी 'धरती हेलो मारे'[1] और 'गीत भारती'[2] के रूप में यदा कदा 'सहकारी जीवन', 'अल्पबचत' आदि के गीत गुनगनाता सुनाई पड़ जाता है।

यहाँ तक जिन परिस्थितियों का वर्णन हुआ हैं उनमें प्रगतिशील विचारधारा की अपेक्षया स्थूल स्थितियाँ ही उभर कर सामने आयीं, किन्तु इस विचारधारा ने कवि लोगों को अन्य दृष्टि से भी प्रभावित किया है और उसके परिणाम ऊपरी स्थितियों जितने स्थूल नहीं रहे। कविता का आम आदमी के जीवन से सीधे जुड़ जाना प्रगतिशील विचारधारा की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। आज तक की कविता में विशिष्ट वीरों या प्रेमियों को ही आधार बनाया जाता रहा या फिर संयोग और वियोग की परम्परित धारणाओं को ही हर बार एक नये अन्दाज में प्रस्तुत किया जाता रहा, इन सब स्थितियों के बीच आम आदमी कहीं दखल नहीं दे रहा था। अब यह पहली बार देखा गया कि कवियों का ध्यान साधारण व्यक्ति की ओर गया और उन्होंने उसके जीवन को अपनी रचनाओं में अंकित करना प्रारम्भ किया।

आम आदमी को कविता का विषय बनाने के सम्बन्ध में भी दो स्थितियाँ रहीं। एक ओर कवियों ने ग्राम्य-जीवन और साधारण कृषक परिवार के ऐसे अनेकों चित्र अंकित किये, जहाँ सर्वत्र मस्ती का आलम गूंजता है और हर पल, हर घड़ी चैन की वंशी बजती हुई सुनाई पड़ती है, तो दूसरी ओर कवियों ने ग्राम्य एवं कृषक जीवन के प्रति इस भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण को छोड़कर उनके कठोर एवं संघर्षपूर्ण जीवन के यथार्थ चित्र अंकित किये हैं। यहाँ भी प्राधान्य प्रकारान्तर से उन्हीं कवियों का रहा है जिनका ग्राम्यबोध "अहा! ग्राम्य जीवन भी क्या है?" की स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाया है। हिन्दी में ऐसी रचनाएँ करने वाले कवियों से राजस्थानी के ऐसे कवि केवल एक ही दृष्टि से भिन्न पड़ते हैं कि उन्होंने ग्राम्य-जीवन के इन सुखद क्षणों को स्वयं भोगा है, अतः उनके चित्रों में जीवन को एकांगी दृष्टि से प्रस्तुत किये जाने के बावजूद भी नितान्त अविश्वसनीयता नहीं रह गयी है और यही कारण है कि एक सीमा तक साधारण जन का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में भी ये चित्र सफल हुए हैं। ऐसी रचनाओं के सम्बन्ध में एक स्थिति और भी रही है, वह यह कि उसमें ग्राम्य-जीवन के छोटे से छोटे उपादान को कविता का विषय बनाया गया है, फलतः उनका वर्णन काफी विस्तृत हो गया है। उनमें एक ओर चरखा कातती हुई 'कतवारी', गायों को चराता हुआ 'गुवालियो', ऊंटों को लिए घूमने वाला 'राइका', पेट पालने के लिए चक्की चलाती हुई 'पिसारी' और रूई धुनते हुए 'पिंजारे' का चित्र अंकित हुआ है तो दूसरी ओर दैनन्दिन जीवन के अभिन्न अंग बने 'चरो', 'बुवारी', 'बिलोवणो', 'पणघट' आदि का स्तवन भी हुआ है।[3]

---

1. हरवन्तसिंह देवड़ा, बेदग्यान, प्र० सं०-१९६६ ई०
2. बाबूलाल 'सामरथि'
3. इन विषयों पर लिखी पचासों कविताओं में से कतिपय उल्लेखनीय रचनाएँ हैं—श्री ओंकार पारीक की 'गीत: पिसारी रो', 'गीत: राइके रो', 'गीत: बिलोवणे रो', 'गीत: पिणघट रो', (ओळमा),

ग्राम्य-जीवन के आकर्षक और मोहक चित्र अंकित करने वाली ऐसी कविताओं में कतिपय कविताएं तो बहुत ही अधिक लोकप्रिय हो चुकी हैं। इस दृष्टि से श्री गजानन वर्मा की सोवनथाळ, बोलण लाग्यो काग, हिवड़ो आज हरक्लो डोलै आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं। इन गीतों की लोकप्रियता के पीछे जहां कंठ की मधुरता एक मुख्य कारण रही है, वहां दूसरी ओर लोकमानस की प्रिय कल्पनाओं की सरस अभिव्यक्ति भी जनमन को गुदगुदाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती रही है। ऐसी रचनाओं के एकाध उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

क. पौ फाटी जद बोलण लाग्या
पारा परेव पीपळ डाळ
छोटी छोराणी पीसण बैठी
बाजर मोठ चिणां री दाळ
बडी जिठाणी जायो गीगलो
बाजण लाग्यो सोवनथाळ
नणद गुरंगी मारया देवै
घर घर बाधै धोनरथाळ ।[1]

ख. भलो कुहाड़्यो भाड़्यो डोला
है घर रो सिंगार जी
बेगा पाछा आयड़ो सा
धन-धन भरा भंडार जी
बाजरै री रोटी पोई
फोफळियां रो साग जी
जीमण बैठो गोरड़ी जद
बोलण लाग्यो कागजी
बाजरै री रोटी पोई ।[2]

राजस्थानी में ग्राम्य-जीवन के इन मधुर एवं प्रिय दृश्यों को अंकित करने वाले कवियों की अपेक्षा उन कवियों की संख्या कम रही है, जिन्होंने ग्रामीणों के कठोर एवं संघर्षपूर्ण जीवन के यथार्थ चित्र अंकित किये हैं। इस दृष्टि से साम्यवादी विचारधारा से प्रेरित कवियों ने विशेष जागरूकता प्रदर्शित किया है। उन्होंने किसानों के गरीबी और शोषण से प्रताड़ित जीवन को अभावों एवं [illegible]

दारों के ऐश्वर्यशाली जीवन के साथ-साथ चित्रित कर दोनों वर्गों के बीच के वैषम्य को उभारने का प्रयास किया है, जिससे इस कृषक-मजदूर वर्ग को क्रांति के लिए तैयार किया जा सके। साम्यवादी विचारधारा से प्रेरित इन कवियों की रचनाओं पर आगे विस्तार से विचार होगा। यहाँ तो कतिपय उन रचनाओं की ओर संकेत हुआ है जिनमें ग्राम्य जीवन के प्रति भावुकतापूर्ण दृष्टि को छोड़कर यथार्थवादी दृष्टि अपनायी गयी है। श्री सत्यनारायण प्रभाकर 'अमन' की कई कविताओं में इस यथार्थवादी दृष्टि का सुन्दर निर्वाह हुआ है। बड़े सवेरे से लेकर अर्द्धरात्रि तक कार्य में व्यस्त कृषक गृहवधू की यह दिनचर्या ग्रामीणों के कठिन जीवन की एक झांकी प्रस्तुत करती है—

एक प्हैर रै झांझरके उठ घट्टी झोवै
पीस पीसणो, काड बुहारी, दही बिलोवै।
छोरी देवे झाड पड्या से ठीकर ठाली
सिर पर मेल इडूण-घड़ो पाणी नै चाली।
चाटो कर रै त्यार भैंस री छोड़ी पाडी,
गाय लवारी धायड़ती री धारां काढ़ी।
ढांढ्यां घाली चाग नीरिया टोघड़ियां नै,
गोबरथोठी कर्यो छमकिया फोफळियां नै।
आखै दिन कर कार अन्त 'वा' के फळ पावै ?
सासू, सुसरे, धणी, नणद री गाळ्यां खावै।
या फिटकारां करै बापड़ी दाबा-दूबी,
ना घालै साळ नाक हाजरी हरदम ऊभी।[1]

यहाँ तक प्रगतिशील कविता के उस पहलू पर विचार हुआ है—जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी भी राजनैतिक मतवाद से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहा है। आगे प्रगतिशील कविता के एक मुख्य पहलू प्रगतिवादी कविता पर विचार हुआ है—जिसकी पृष्ठभूमि में मुख्यतः साम्यवादी विचारधारा सक्रिय रही है। इस विचारधारा से प्रेरित कवियों में रेवतदान चारण 'कल्पित', भीम पांडिया, प्रेमचन्द रावल, मनुज देपावत, त्रिलोक शर्मा, श्रीमन्तकुमार व्यास प्रभृति कवियों का नाम उल्लेखनीय रहा है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में सामन्ती अत्याचारों और पूंजीपतियों द्वारा किये जा रहे शोषण का तीव्र विरोध करते हुए—जीवन के वैषम्य, शोषण और अत्याचार की क्रूरतम स्थितियों के बड़े ही रोमांचक चित्र अंकित किये हैं और साथ-ही-साथ स्पष्ट शब्दों में इस सारी व्यवस्था को मटियामेट कर एक नये समाज की संरचना के लिए कृषकों एवं मजदूरों का आह्वान किया है।

कृषक एवं मजदूर वर्ग में नवचेतना का संचार करने की दृष्टि से इन कवियों को बहुत कुछ कहना पड़ा है। क्योंकि शताब्दियों से दासत्व का जीवन जीते-जीते यहाँ का कृषक हीनता का शिकार बन चुका था। दासता उसके रक्त की एक-एक बूंद में समायी हुई थी। उसे शोषण और अत्याचार भी तो नहीं साल रहे थे, क्योंकि युगों-युगों से उसे यही सब कुछ पढ़ाया जाता रहा कि यह सब तो उसके भाग्य का लेख है, जिससे वह ऐसा जीवन व्यतीत कर रहा है। इसी भाग्यवाद के कारण अपने

---

१. बापड़ी का, पूंठिया : 'अमन', पृ० सं० ५-८

तो दूसरे ही क्षण उसे युगों-युगों के अत्याचारों की याद दिलाकर अब भी सावधान होने को कहा गया—

इण माटी में सौ-सौ पीढ़ी, मरगी भूखी प्यासी,
भाग भरोसे रह्यो बावला, प्रीत करी अकासी,
कदे तो पड़ग्यो काळ अभागो, गिणगिण काढ़यो दोरो,
कदे तो ठाकर लाटो लाट्यो, कदे लाटग्यो बोरो,
कदे तो वैरी दावो पडग्यो, कदे आयगी रोळी,
कितरा दिन तक सबर करेला, माट्टी हँसने बोली,
रे बंदा चेत मानखा चेत
जमानो चेतण रो आयो।[1]

लेकिन भला युगों-युगों की निद्रा यों ही थोड़ी भंग हो सकती है? आजादी मिलने तक के परिवर्तन को वह उनीदी आखों से देखता रहा है। उसकी आंखों में अब भी अतीत के मोहक स्वप्न तैरते रहे हैं। इस स्वप्न-जाल से बचने के लिए पूर्णतः जागृत होने की आवश्यकता थी—

उठ खोल उणीन्दी आंखड़ल्यां, नैणां री मीठी नींद तोड़,
रे रात नहीं अब दिन उगियो, सुपनां रो भूठो मोह छोड़,
थारी आंख्यां में राच रया, जंजाळ सुहाणी राता रा
तू कोट बणवे उण जूनोड़, जुगरी बोदी बातां रो,
पण बीत गयो सो गयो बीत, अब उणरी कूड़ी आस त्याग
छाती पर पैणा पड्या नाग, रे धोरां आळा देश जाग।[2]

किन्तु जागकर यथार्थ से परिचय भर कर लेना ही तो पर्याप्त नहीं है। आज तक की शोषण और अन्याय की समस्त परम्पराओं से जूझना और अपने खोये हुए अधिकार को पाने के लिए संगठन बद्ध होकर संघर्ष करना और अधिक आवश्यक था, तभी कवि को लिखना पड़ा—

सज्जो अेक संघट्टण, पंथ पलट्टण, राज उलट्टण आज बड़ो
मन में मिनखापण, नैण सुरापण, सांथे खांपण मेल बड़ो[3]

और पंथ पलटने की तमन्ना से आगे आने वाले इस संगठन के एक-एक सदस्य से इतने साहस की अपेक्षा थी कि वह हर खेत को रणक्षेत्र में बदलकर यह सिद्ध करदे कि इस मिट्टी का सच्चा रंगरेज वही है—

खेत बण्या रणखेत, खेजड़ी ऊपर धजा फरूकै
धोरां ऊपर बंध्या मोरचा, ऊभी फौज उडीकै
हेलो देवां जितरी जेज
म्हे हां माटी रा रंगरेज
धरती ज्यूं चावां ज्यूं रंगदां।[4]

---

१. चेत मानखा, चेत मानखा, रेवतदान चारण 'कल्पित', पृ०सं० १
२. रे धोरां आळा देस जाग, श्री मनुज देपावत, अप्रकाशित, पृ० सं० ३३
३. उछाळो, चेत मानखा ; श्री रेवतदान चारण 'कल्पित', पृ० सं० ४६
४. माटी रा रंगरेज, वही, पृ० सं० ४१

शोषणकर्त्ताओं के प्रति घृणा या प्रतिशोध के भाव उसमें कोसों दूर थे। चूंकि उसने अपने उन शोषणकर्त्ताओं को स्वामी और रक्षक के रूप में देखा था, शोषणकर्त्ता के रूप में नहीं अतः इन्हीं सब स्थितियों में जीना उसकी आदत बन चुका था और शोषण एवं अन्याय में पिसते रहना वह अपनी नियति मान चुका था। तभी तो भूखे पेट अपमानित और अवमानित होकर ही नहीं अपितु शारीरिक प्रताड़नाएं पाकर भी निर्लज्ज हँसी हँसना उसकी विवशता बन चुकी थी। ऐसी स्थिति में विचारों से इतने जड़ बने यहाँ के शोषित वर्ग को जगाने एवं उसमें आत्मसम्मान एवं आत्मगौरव के साहसी स्वर फूंकने के लिए कवियों को उसे कई प्रकार से समझाना पड़ा। सबसे पहले उस पर किये जा रहे भीषण अत्याचारों एवं उसके तथा उसके आकाओं के जीवन के आकाश-पाताल के वैषम्य को उसके सामने रखा। एक ओर भूख से बिलबिलाती जनता थी तो दूसरी ओर ऐयाशी का जीवन व्यतीत करने वाले सामन्त लोग थे—

जद मेह-अंधारी राता में, मूटोड़ी धांणी चवती ही
तो माड़ रा रंग मेला में, दारू री मैफिल जमती ही
जद थां ऊनाळू लूंआं में करसे री काया बळती ही
तो धुंल भंवर रे चोबारे, चौसर री जाजम ढळती ही।[1]

जीवन की इस विषमता का अन्त यहीं तो नहीं हुआ। इन दीनहीन मानवों की अपेक्षा उन विलासियों के कुत्ते और घोड़े भी कहीं ज्यादा भाग्यशाली थे—

घोड़ां नै दाणो सावण नै बा दाल चिणा री भिजियोड़ी
पण इणरा टाबर भूखा हा, किसमत इणरूं तिजियोड़ी
कुत्तोरा हुनरिया बैठा, जीमै कंचन री थाळी में
पण एक मिनख रा टाबरिया भूखा सूता दीवाली में
हा दाळ पाव भर कर भेळी, घोड़ां री जूठण उठियोड़ी
था भाग सराया भूखा रो-था गई मेण दूर्णां भारी।[2]

बेगारी और शोषण यहीं भी उसकी कारुणिक जीवन-कथा का अंतिम अध्याय नहीं था। उसकी जीवन-शक्ति को जोंक की तरह चूसनेवाला पूंजीपतिवर्ग भी उसके जन्म से ही उसके साथ लगा था जो कि मृत्यु पर्यन्त उसका पीछा नहीं छोड़ता। इस प्रकार भूख, कर्ज, हीनता और दीनता के शिकार बने इस सामान्य प्राणी में आत्मविश्वास का संचार करने के लिए कवियों ने उसे विविध प्रकार से समझाया। कभी उसे उसकी कायरता के लिए धिक्कारा (ताकि उसमें किसी भी प्रकार से आत्मसम्मान के भाव जग सकें)—

सूरज मेघ समदर माटी, बोवी लोगा देवी,
सांप्रत रे धरतीरा करसा, मौत सूटग्या मेरी[3]

---

1. माटी थने बोलणो पड़सी, मेघ मालण : रेवतदान चारण 'कल्पित', द०का०-दि०सं० पृ०१४, द्वितीय संस्करण, पृ०सं० १८
2. पणिहारी : श्री प्रेमचन्द रावण 'निरंकुश,' पद्मश्री, पृ०सं० ४१.
3. छाल चुगां रो लेखो: मेघ मालण, पृ०सं० ११

तो दूसरे ही क्षण उसे युगों-युगों के अत्याचारों की याद दिलाकर अब भी सावधान होने को कहा गया—

इण माटी में सो-सो पीढ़ी, मरगी भूखी प्यासी,
भाग भरोसे रह्यो बावला, प्रीत करी अकासी,
कदे तो पड़ग्यो काळ अभागो, गिणगिण काढ्यो दोरो,
कदे तो ठाकर लाटो लाट्यो, कदे लाटग्यो चोरो,
कदे तो वैरी दावो पड़ग्यो, कदे आयगी रोळी,
कितरा दिन तक सबर करेला, माट्टी हँसने बोली,
रे बंदा चेत मानखा चेत
जमानो चेतण रो आयो।[1]

लेकिन भला युगों-युगों की निद्रा यों ही थोड़ी भंग हो सकती है ? आजादी मिलने तक के परिवर्तन को वह उनींदी आंखों से देखता रहा है। उसकी आंखों में अब भी अतीत के मोहक स्वप्न तैरते रहे हैं। इस स्वप्न-जाल से बचने के लिए पूर्णतः जागृत होने की आवश्यकता थी—

उठ खोल उणीन्दी आंखड़ल्यां, नैणा री मीठी नींद तोड़,
रे रात नहीं अब दिन उगियो, सुपनां रो झूठो मोह छोड़,
थारी आंख्यां में राच रया, जंजाळ सुहाणी रातां रा
तू कोट बणावे उण जूनोड़, जुगरी बोदी बातां रो,
पण बीत गयो सो गयो बीत, अब उणरी कूड़ी आस त्याग
छाती पर पैणा पड़्या नाग, रे धोरां आळा देश जाग।[2]

किन्तु जागकर यथार्थ से परिचय भर कर लेना ही तो पर्याप्त नहीं है। आज तक की शोषण और अन्याय की समस्त परम्पराओं से जूझना और अपने खोये हुए अधिकार को पाने के लिए संगठन बद्ध होकर संघर्ष करना और अधिक आवश्यक था, तभी कवि को लिखना पड़ा—

सज्जो अेक संघट्टण, पंथ पलट्टण, राज उलट्टण आज घड़ी
मन में मिनखापण, नैण सुरापण, गांधे खांपण मेल घड़ी[3]

और पंथ पलटने की तमन्ना से आगे आने वाले इस संगठन के एक-एक सदस्य से इतने साहस की अपेक्षा थी कि वह हर खेत को रणक्षेत्र में बदलकर यह सिद्ध करदे कि इस मिट्टी का सच्चा रंगरेज वही है—

खेत बण्या रणखेत, मेजड़ी ऊपर धजा फर्कै
धोरी ऊपर बंध्या मोरचा, ऊभी फौज उडीकै
हेलो देवां जितरी जेज
म्हे हां माटी रा रंगरेज
धरती ज्यूं पावां ज्यूं रंगदां।[4]

---

१. चेत मानखा, चेत मानखा, रेवतदान चारण 'कल्पित', पृ०सं० १

२. रे धोरां आळा देश जाग, श्री मनुज देपावत, धरतीरो, पृ० सं० २३

३. उछाळो, चेत मानखा ; श्री रेवतदान चारण 'कल्पित', पृ० सं० ४६

४. माटी रा रंगरेज, वही, पृ० सं० ४१

इस प्रकार हर खेत को रणक्षेत्र में बदल देने का साहस युगों-युगों से प्रताड़ित यह मानव जब संजो लेगा तो 'इन्कलाब' की वह आंधी आयेगी जिसमें आज तक की अन्याय और शोषण की समस्त परम्पराएँ भूमिसात् हो जायेंगी—

> नींवां रे नीचे दबियोड़ी, जुग-जुग री माटी दे भाटी
> थें उठी शिलां में जटा मूल, पसवाड़ो फेर लियो पलटी
> तिणकै ज्यूं उड़गी तरवारां, तोपां रो रूप कियो माला
> हूंसां रै पत्तां ज्यूं उड़गी, थें लाज बचावण री ढालां
> आ पड़ी उतारड़ी में बोतल, मद पीवण रा प्याला उड़ग्या
> महफिल रा उड़ग्या ठाठ-बाट, थें महलां रा रखवाळा उड़ग्या
> थे देश जुगां रा सिंघासण, रड़बड़ता पड़िया ठोकर में
> थे ऊंचा लटकै ठाठबन्ध, नहि भेलै अम्बर में धरती
> थे धार घोर आंधी प्रचंड, आ घुआंधोर धंव-धंव करती
> आवै है उर में आग लियां, गढ़ कोटां बंगलां नै ढहती ।[1]

और तब 'लाल सूरज' उग आने का इन कवियों का स्वप्न साकार हो सकेगा—

> पण पूरब आली पै देखो, यो ऊगै सूरज लाल लाल
> सोनै री किरणां फूट रही, धाप्यां पर भूखै भाज काळ ।[2]

इस प्रकार इन सारी रचनाओं में एक सुनिश्चित विचार दर्शन को स्थापित करने का प्रयत्न हुआ है। विशेष रूप से साम्यवादियों के शोषणहीन, श्रम और सत्ता पर आधारित ऐसे समाज की ओर सामान्य जन को आकृष्ट किया गया है, जिसमें सत्ता और प्रभुत्व कहीं होगा तो वह मजदूर-किसानों के हाथों में। यहाँ एक बात यह ध्यान में आती है कि इस विचारधारा में धर्म एवं जातीयता के सम्बन्ध में सोचने का एक विशेष दृष्टिकोण रहा है। धर्म यहाँ शोषितादि व्यक्ति को ठगने की एक गहरी साजिश माना गया है और जातीय व्यवस्थाएँ उस साजिश को जिन्दा बनाये रखने का शानदार मुखौटा। अतः मार्क्सवादी दर्शन से प्रेरित कवियों ने इन दोनों को नकारा है। जहाँ तक आधुनिक राजस्थानी काव्य का सम्बन्ध है, कवियों ने धर्म एवं जातीय सम्बन्धों को लेकर बहुत कम लिखा है। फिर भी जब इस ओर विचार करते हैं तो ध्यान सहज ही नानूराम संस्कर्ता जैसे कवियों की ओर चला जाता है, जो वैचारिक दृष्टि से चाहे साम्यवाद के समर्थक न भी रहे हों, किन्तु जिन्होंने इन व्यवस्थाओं के कारण कटु से कटु स्थितियों से गुजरने का अनुभव प्राप्त किया है। अतः सहज ही उनकी आहत वाणी धर्म के नाम पर पनपने वाले पाखण्ड और जातीय सम्बन्धों की सार्थकता के नाम पर मानव-मानव में ऊँच नीच की भयंकर खाई उत्पन्न करने वाली व्यवस्था के विरोध में फूट पड़ी। उन्होंने अपनी 'पूर्णगाथ'[3],

---

१. इन्कलाब री आंधी, पेत मोनग्या, पृ० सं० २२

२. ऊगतो सूरज ; श्री त्रिलोक शर्मा, कठ्योडी, पृ० सं० १०१

३. समय बायरो : नानूराम संस्कर्ता, पृ० सं० १५

'धर्म की आड़ में',[1] 'बुरो है वर्णधर्म रो नांव',[2] 'पर पंचायत नै पग मारे'[3] आदि कविताओं में इन तथाकथित धर्माधिकारियों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रखने में किंचित् भी हिचकिचाहट नहीं दिखलायी है—

चरड़ चरड़ चिलमड़ियां चौसै
ओसर जीमता फिरै
न्हावण-धोवण सार न जाणै
कदे ना कुरलो करै
अै: जनेऊ में जूं मारै
पर पंचायत नै पग मारै
आडा पेचां पागड़ बांधै
लांगड़ खुला राखै
मुख मीठा पेटां रा पापी
छुरी छिपायां राखै
अै: धोखो अधर्म विचारै
पर पंचायत नै पग मारै ।[4]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि राजस्थानी कवियों के एक बड़े वर्ग ने समाज को सम-सामयिक समस्याओं से निपटने में निरन्तर पथ-प्रदर्शक के रूप में अपना सहयोग दिया है। आजादी से पूर्व जब कि साधारण-जन में राजनैतिक चेतना के स्वर फूंकने और रूढ़ियों एवं अन्य परम्पराओं से उसे मुक्त करवाने की आवश्यकता थी तब प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों और राजस्थान के क्षेत्रीय साहित्यकारों ने अपनी सीमाओं के बावजूद भी अपने उस दायित्व को बखूबी निभाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जबकि अभिव्यक्ति पर लगे सारे प्रतिबन्ध हट गये थे, कविजनों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार एक ओर जनता में स्वतंत्रता के प्रति विश्वास जगाने और उसमें उनकी आस्था को दृढ़ करने की दृष्टि से, विकास और निर्माण की आवश्यकताओं के उत्साही गीत गाये। दूसरी ओर कुछ अन्य कवियों का जिनका सोचना यह था कि बिना किसी रक्त-क्रांति के साधारण व्यक्ति को सुविधाएं प्राप्त नहीं हो सकेंगी—ने आज तक के शोषण और अत्याचारों के भीषण चित्रों को अंकित करते हुए साधारण व्यक्ति को इस बात के लिए उकसाया कि वह एक क्रांति के द्वारा इन सब सड़ियल व्यवस्थाओं को समाप्त कर एक नये समाज का निर्माण करे। उधर स्वतंत्रता प्राप्त किये वर्षों बीत जाने के बाद भी आम आदमी की हालत में अपेक्षित परिवर्तन न आ पाने की स्थिति में इन्हीं कवियों ने भ्रष्ट शासनकर्ताओं एवं पतित जननेताओं को खूब आड़े हाथों लेना शुरू किया, जिन्होंने कभी इन्हीं शासनाधिकारियों की रीतिनीतियों का इसी विश्वास के साथ समर्थन किया था कि वे अपने त्याग और श्रम से एक नूतन समाज के निर्माण में सफल हो सकेंगे। कहने का तात्पर्य यही है कि राजस्थानी के कवि ने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में प्रतिगामी शक्तियों का विरोध किया और प्रगतिगामी कदमों को सदैव अपना समर्थन दिया।

---

१. समय वायरो : श्री नानूराम संस्कर्ता, पृ०सं० २४
२. वही, पृ०सं० ३५
३. वही, पृ०सं० ७८
४. वही, पृ०सं० ७८

वीर एवं प्रशस्ति काव्य

प्राचीन राजस्थानी साहित्य जहाँ अपने विपुल वीर काव्य के कारण वीर काव्य का पर्याय बन गया है, वहीं आधुनिक काल में आकर उस धारा के मन्द पड़ जाने की बात अवश्य कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होती है, किन्तु यह सत्य है कि राजस्थानी वीर साहित्य की अति समृद्ध परम्परा को देखते हुए आधुनिक काल के गत सत्तर वर्षों में जो वीर काव्य रचा गया है, वह अत्यल्प है। इसका मुख्य कारण भारत की और विशेष रूप से राजस्थान की राजनैतिक स्थिति में निहित है। देश में सन् १८५७ की क्रांति से पूर्व जो व्यापक युद्धजनित उत्साह और मारकाट का वातावरण बना हुआ था, वह राजस्थान में अंग्रेजों की राजस्थानी नरेशों के साथ हुई सन्धियों के साथ मन्द अवश्य पड़ गया पर परम्परा से ही विद्रोही स्वभाव के कतिपय राजपूत सरदारों[1] ने रक्त की अंतिम बूंद रहने तक अंग्रेज साम्राज्यवादियों से संघर्ष किया और राजस्थान के वीर कवियों ने अपने हृदय के भाव-सुमन चढ़ाकर इन वीरों की अर्चना की। यह अवश्य है कि इस सन्धि ने मुगलकाल के अन्तिम चरणों में फैली राजनैतिक अस्थिरता एवं अराजकता को राजनैतिक स्थिरता में बदल दिया। फलतः यहाँ युद्धों की सम्भावना लगभग समाप्त हो गई और ऐसी स्थिति में आलम्बन के ही समाप्त हो जाने पर यहाँ यदि वीर काव्य सृजन की परम्परा मंद पड़ गई हो तो आश्चर्य ही क्या ?

यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि देश में तब से लेकर सन् १९४७ ई० तक स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्दोलन का समय आराम एवं विश्रान्ति का समय नहीं था, अपितु १८८५ ई० में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही सम्पूर्ण देश में क्रमशः अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष का वातावरण बढ़ता गया। अतः ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि कवियों को उस संघर्ष की स्थिति में वीर काव्य-सर्जन का कोई आलम्बन ही नहीं मिला ? इस आपत्ति के सम्बन्ध में दो बातें हैं—प्रथम तो यह कि प्रस्तुत संघर्ष

---

१. अंग्रेजों से अन्त तक लोहा लेने वाले राजपूत सरदारों में कतिपय प्रमुख सरदार निम्नलिखित हैं—

भरतपुर के राजा रणजीतसिंह, आउवा के ठाकुर कुशालसिंह, (खुशालसिंह), आसोप के ठाकुर शिवनाथसिंह, ठाकुर बिशनसिंह गूलर, ठाकुर अजीतसिंह आलनियावास, कोठारिया के रावत जोधसिंह, जोधपुर के महाराजा मानसिंह, प्रतापगढ़ के राजकुमार [illegible], सलूम्बर के रावत केसरीसिंह, [illegible] के [illegible]-[illegible], शेखावाटी के डूंगजी-जवारजी, [illegible] के ठाकुर [illegible], अमरकोट के रतनराणा, आउवा के ठाकुर कुशालसिंह (खुशालसिंह)।

राजस्थानी वीरकाव्य और [illegible] - डा० [illegible], पृष्ठ० २६

चली आ रही युद्ध-परम्परा से सर्वथा भिन्न प्रकार का था, अतः पारम्परिक काव्यों की रचना की प्रेरणा उसमे कैसे प्राप्त होती ? द्वितीय, यह कि राजस्थान मे राजाओं का राज्य होने के कारण, संघर्ष का उग्र रूप प्रकट नही हो सका। अतः कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व के राजस्थान का राजनैतिक वातावरण ही ऐसा बना हुआ था, जिसमें परम्परावादी वीरकाव्य के सर्जन के लिए बहुत कम अवसर था। वीर भाव आधुनिक रूप अवश्य ही आगे चलकर प्रगतिशील कविता के साथ प्रकट हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् यहाँ के अहिंसावादी दृष्टिकोण ने युद्ध को नकारते हुए सदैव शांति का पक्ष लिया। यहाँ यदि चीनी आक्रमण नहीं होता तो शायद कुछ समय के लिए 'युद्ध' इतिहास में पढ़ने जैसी वस्तु बनकर रह जाता। ऐसी स्थिति में परम्परावादी वीरकाव्य सर्जन की आशा कैसे की जा सकती थी ? यद्यपि कश्मीर के कबायली युद्ध ने इस अहिंसावादी दृष्टिकोण को एक झटका अवश्य दिया, किन्तु उसका अहसास लोगों को बहुत बाद में जाकर (भारत-चीन और भारत-पाक युद्ध के समय में) हुआ। तभी तो कश्मीर के टीथवाल मोर्चे पर शहीद हुए परमवीर पीरूसिंह के अमर बलिदान को लेकर सन् १९६५ ई० के अनन्तर ही राजस्थानी कवियों की लेखनी उठी। इन परिस्थितियों में विशेष रूप से गत १५ वर्षों में सृजित इस वीर-प्रशस्ति-काव्य का आकार प्राचीन राजस्थानी वीर-काव्य की तुलना में काफी बौना-सा लगे तो चौंकने जैसी कोई बात नहीं।

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, इस शताब्दी मे देश का वातावरण, विशेष रूप से राजस्थान का वातावरण ही कुछ ऐसा बन गया था, जहाँ पारम्परिक वीरकाव्य के सर्जन का कोई विशेष आधार नहीं रहा लेकिन युग-युग से वीरता को ऊर्जस्वित करने वाली चारणी जिह्वा भला कैसे एकदम चुप रह सकती थी ? वीरों का प्रशस्ति-गान करना, जिनका स्वभाव बन चुका था, ऐसी परम्परा के कवि इस विषम स्थिति मे पहुँच कर सर्वथा मौन नहीं रहे। एक ओर सामयिक घटना-प्रसंगों को लेकर उन्होंने अपनी वाणी को मुखरित किया तो दूसरी ओर वर्तमान को प्रेरणा देने के लिए ये कवि राजस्थान के समृद्ध अतीत की ओर उन्मुख हुए। सामयिक घटना-प्रसंग की दृष्टि से बारहठ केसरीसिंह की 'चेतावणी रा चूंगट्या'[1] महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें कवि ने केवल तेरह सोरठों के बल पर उदयपुर के तात्कालिक महाराणा फतहसिंह को अपने गौरवपूर्ण अतीत एवं वंश की उज्ज्वल मान-मर्यादा का स्मरण करवाते हुए, दिल्ली दरबार में जाने से रोक लिया था।

---

१. घोरा नै घमसांण, हाका हरवल हालणो।
किम हालै कुळराण, हरवळ साहां हांकिया।।
नरियंद सह नजरांण, झुक करसी सरसी जिकां।
पसरेलो किम पांण, पांण थकां थारो फता।।
सिर झुकिया सहशाह, सींहासण जिण सामने।
रळणो पंगत राह, फाबै किम तोनै फता।।
चेतावणी रा चूंगट्या : बारहठ केसरीसिंह, राजस्थानी वीरकाव्य और गुर्जन्य लिखन :
डा० नरेन्द्र भानावत पृ० सं० ४२-४३

अतीत की ओर अभिमुख होने वाली वृत्ति भी दो धाराओं में प्रकट हुई। एक ओर कवियों ने राजस्थानी इतिहास के यशस्वी वीरों की अदम्य वीरता का अंकन एवं गुणगान आरम्भ किया तो दूसरी ओर विशिष्ट वीर के अभाव में सूर्यमल्ल मिश्रण की तरह 'सामान्य वीरत्व' को लेकर तत्कालीन वीर समाज को अंकित करना प्रारंभ किया। प्रथम कोटि की रचनाओं में श्री नारायणसिंह भाटी कृत 'दुर्गादास', कविराव मोहनसिंह कृत 'वीर चरित्र-सतसई',[1] श्री रामेश्वरदयाल श्रीमाली कृत 'हाड़ी राणी'[2], रावत नरेन्द्रसिंह कृत 'वीर सतसई'[3] में आये—पाबूजी राठौड़, गुरवाण गौड़, पंजवन राय, ठाकुर शेरसिंह (रीयां), राव दलपतसिंह चूंडा, जूंझार रतनसिंह मोरडूंगा, राव छत्रसाल (बूंदी), महाराणा राजसिंह, राठौड़ अमरसिंह—आदि वीरों के आख्यान एवं श्री मुकनसिंह बीदावत कृत 'अमरसिंघ जी री वेलि'[4], 'पाबूजी री वेलि'[5] आदि उल्लेख्य हैं। इन ऐतिहासिक पात्रों के अतिरिक्त अन्य कई सामयिक वीरों के अपूर्व साहस एवं स्तुत्य देशभक्ति को लेकर भी इधर कुछ वर्षों में कई रचनाएं प्रकाशन में आई हैं, किन्तु इनमें चरित-नायक की जीवन गाथा प्रस्तुत करने या उसके उज्ज्वल चरित्र को अंकित करने के स्थान पर उनके शौर्य का विभिन्न रूपों में प्रशस्ति-गान ही मुख्य रहा है। ऐसे काव्यों को वीर-चरित-काव्य की श्रेणी में न रखकर वीर-प्रशस्ति-काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस कोटि की उल्लेखनीय काव्य कृतियां हैं—श्री नारायणसिंह भाटी कृत 'परमवीर'[6], श्री हणुवन्तसिंह देवड़ा कृत 'सूरा दीसा देसरा'[7], श्री मुकनसिंह कृत 'सैतान सतसई',[8] एवं 'पीरू सिपरी वेलि',[9] श्री सवाईसिंह धमोरा द्वारा सम्पादित 'सैतान सुजस'[10], 'दीप प्रकाश'[11] और 'गांधी गाथा'[12] श्री नाथूसिंह महियारिया कृत 'गांधी शतक'[13] एवं श्री वेद व्यास द्वारा सम्पादित 'गांधी प्रकाश'[14]।

---

१. वीर चरित्र सतसई : कविराव मोहनसिंह (अप्रकाशित)
   सन्दर्भ सूत्र—राजस्थानी वीरकाव्य और सूर्यमल्ल मिश्रण : डा० नरेन्द्र भानावत, पृ० ४६
२. १९५५ ई० में कला प्रकाशन, जालोर द्वारा प्रकाशित
३. सामयिकों में कुछ अंश प्रकाशित। संदर्भ-सूत्र—राजस्थानी वीरकाव्य और सूर्यमल्ल मिश्रण : डा० नरेन्द्र भानावत, पृ० सं० ४६
४. १९५५ ई० में राजस्थानी साहित्य प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित।
५. १९५४ ई० में राजस्थानी साहित्य प्रकाशन जयपुर द्वारा प्रकाशित।
६. १९६३ ई० में कलाधकार पुस्तक मंदिर रातानाडा, जोधपुर द्वारा प्रकाशित।
७. १९६७ ई० में राजस्थानी साहित्य प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित
८. श्री सवाईसिंह धमोरा द्वारा सम्पादित 'सैतान सुजस' में संकलित
९. १९६६ ई० में गांधी शांति प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित
१०. गांधी शांति प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित।
११. १९६५ ई० में गांधी शांति प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित
१२. १९५८ ई० में साहित्य समिति द्वारा प्रकाशित।
१३. १९६१ ई० में स्वयं द्वारा प्रकाशित
१४. १९५८ ई० में विद्याभवन, जयपुर द्वारा प्रकाशित

ऐतिहासिक वीर काव्यों की दूसरी धारा 'सामान्य वीरत्व चित्रण' की प्रतिनिधि रचना श्री नाथूसिंह महियारिया कृत 'वीर सतसई'[1] है।

ऊपर निर्दिष्ट रचनाओं में श्री नारायणसिंह भाटी कृत 'दुर्गादास' का विशेष महत्त्व है। इस कृति द्वारा कवि ने राजस्थानी वीर काव्य को युगानुरूप मोड़ देने का प्रयत्न किया है। श्री भाटी ने अपने चरित्र-नायक दुर्गादास के चरित्र को अति प्रशस्त रूप में अंकित किया है, फलतः दुर्गादास क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ 'विश्व मानव' का प्रतीक बन गया है। कवि की दृष्टि में उसका संघर्ष हिन्दू-मुस्लिम का जातीय या साम्प्रदायिक संघर्ष नहीं था—

दोयण कुण थारा दुर्गादास?
दोयण मां-भोम रा तूझ दोयण,
न हिन्दुग्रां हेत हय पाड़िया
न मुगल वाढ़वा वाढाळी झाली,
करम-खेत रा माझी ग्रासोत—
थारी कीरत माणसां पंथ हाली।[2]

दुर्गादास ने अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई थी। विश्व में चिरन्तन शान्ति की स्थापना हेतु ही उसने इस आजीवन संघर्ष को झेला—

थे करी असांवत आसरा।
चिर सायत थापवा गाल,
थारी वाढ़ाळी भळकाया-
रगत-वाळा
करुण-आंतिया-ढळता-
अरुण-आंसू टाळवा सारू॥[3]

ऐसे महान व्यक्तित्व का धनी दुर्गादास किसी जाति या संस्कृति विशेष की उपज नहीं था, वह था युग की मांग का प्रतिफलन—

वखत रे खेत निपजिया दुर्गादास,
आयां वखत जुग माझी फेर आवसी।
मौर माणस मर खूटसी इळा रा,
पण जुगां जायोड़ा तो
जुगां ही जीवसी॥[4]

इस प्रकार दुर्गादास में चरित्र-नायक को जातीय एवं स्थानीय संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर, मानवता की उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठापित कर, श्री भाटी ने राजस्थानी वीरचरित काव्यों में एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया।

---

१. १९५५ ई० में स्वयं द्वारा प्रकाशित।
२. दुर्गादास : श्री नारायणसिंह भाटी, पृ० सं० ३७
३. वही, पृ० सं० ४३
४. वही, पृ० सं० ६१

वीर-प्रशस्ति-काव्यों में नायक के अद्वितीय शौर्य को विभिन्न रूपों में 'बिड़दाने' का भाव ही प्रमुख रहा है। ऐसे काव्यों में न तो चरित्र नायक के जीवन को या जीवन के विशिष्ट प्रसंगों को तारतम्य के साथ प्रस्तुत किया गया है और न ही उसके युद्ध-स्थल के कार्यकलापों को ही विस्तार के साथ चित्रित किया गया है। इनमें अधिकांशतः वीर नायक की नाना रूपों में प्रशस्तियाँ ही गायी गई हैं। जहाँ श्री भाटी के 'परमवीर' के प्रशस्ति-स्वर परम्पराओं से हटकर परिष्कृत रूप में उभरे है,[1] वहाँ 'सूरादीवा देसरा' जैसी कृतियों में मध्य-युग के स्वर में स्वर मिलाते हुए ही कवि को राव भाटों की तरह प्रशस्ति पाठ करते सहज ही सुना जा सकता है[2] 'पीरू प्रकाश' एवं 'सैतान-सुजस' में संगृहीत विभिन्न कवियों की रचनाओं में प्रशस्ति का पिछला स्वर ही प्रमुख रहा है। वीर-प्रशस्ति काव्य की एक अन्य उल्लेखनीय कृति है श्री मुकनसिंह कृत 'भालाळै री वेलि'[3]। प्रस्तुत कृति में कवि ने राजस्थान के सुप्रसिद्ध लोक-देवता एवं अनन्य वीर पाबूजी राठौड़ का संस्कृत स्तोत्र शैली में प्रशस्ति गान किया है।

आधुनिक राजस्थानी प्रशस्ति काव्य शृंखला में महात्मा गांधी को आलम्बन बनाकर लिखे गये काव्यों का विशिष्ट स्थान है। वैसे गांधी को भी हम एक वीर नायक के रूप में ले सकते हैं, किन्तु उनका वीरत्व सामान्य युद्धवीरों से सर्वथा भिन्न रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने आजीवन देश-मुक्ति के लिए महान् संघर्ष किया, किन्तु उनका संघर्ष तीर-तलवार वाला प्रत्यक्ष मारकाट का संघर्ष न होकर हिंसा के विरुद्ध अहिंसा का, क्रूरता के विरुद्ध आत्म-शक्ति का अनूठा संघर्ष था। अतः गांधीजी को एक वीर योद्धा स्वीकारते हुए भी उन्हें परम्परागत योद्धाओं की चली आ रही पंक्ति में खड़ा नहीं किया जा सकता। इस कारण गांधीजी की प्रशस्ति में लिखे गये प्रशस्ति काव्यों में पारम्परिक वीर-प्रशस्ति वर्णनों के चित्रित होने का प्रश्न नहीं उठता; फिर भी 'गांधी शतक', 'गांधी गाथा' और 'गांधी-प्रकास' जैसी कृतियों में गांधीजी की प्रशस्ति नाना रूपों में हुई है। यहाँ कवियों ने युद्धवीरों के अश्व और असि के स्थान पर गांधीजी के चरखे और ऐनक को अपना आधार बनाया है। कवियों ने गांधीजी को भगवान से महान् और श्रेष्ठ सिद्ध करने में भी कोई कसर नहीं रखी है।[4]

---

१. रगत वह्यो हिम ऊपरां, नदियां घर ले आय।
जद लग लहरें खेतड़ा, थारो नाम न जाय।
रण-किलोळ जमना हियै, गंग मरण सोपान।
सरसत लहरां पवन पिए, बांचे सुजस जिहांन।
परमवीर : श्री नारायणसिंह भाटी, पृ० सं० ३५, ६३।

२. सच्चो कह्यो सुराज नूं, नित देराण रण चाह।
जूझै भारी जंग में, हिमगिर चालो नाह।।
आली हिमगिर ऊपरो, कांकड़ नाचे काळ।
अंवर बोली अप्सरां, गास्यां घूमर घाल।।
सूरा दीवा देसरा : श्री हणुवन्तसिंह देवड़ा, पृ० सं० २५

३. १९६३ ई० में संघ शक्ति प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

४. क. जिण पढ़ियो गांडिव धनुस, नित पूर्दै नित धार।
गांधी चरखो राजरो पढ़ियो कवण वनाय ।।१४।।
गांधी शतक : श्री नाथूसिंह महियारिया पृ० सं० १०

विशिष्ट वीर या विशिष्ट प्रसंग से अलग हटकर सामान्य वीर एवं सामान्य वीरत्व को सूर्यमल्ल मिश्रण की तरह आधार बनाने वाले कवियों में श्री नाथूसिंह महियारिया का स्थान अग्रगण्य है । उनकी 'वीर सतसई' में सूर्यमल्ल की परम्परा का निर्वाह हुआ है और वीर पुरुष, वीर नारी, वीर बालक, कापुरुष, वीर पति, वीर पत्नी, युद्ध आदि सामान्य प्रसंगों को लेकर नाना रूपों में उनके स्वरूप और स्वभाव को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है । इसी परम्परा की अन्य उल्लेखनीय कृतियां हैं— 'गाडण रामदयाल एवं आढ़िया मुकुन्ददान कृत 'वीर सतसई' एवं 'वीर सतसई' । [1]

आधुनिक राजस्थानी वीर काव्य का एक रूप और भी रहा है, वह है—उद्बोधनात्मक एवं प्रेरणात्मक वीर काव्य । भारत-चीन (१९६२ ई०) और भारत-पाक (१९६५ ई०) युद्ध से प्रेरित होकर ऐसी अनेक कविताओं का सृजन हुआ जिनमें भारतीय वीरों को मातृभूमि की रक्षा के लिए युद्ध में मर मिटने की प्रेरणा दी गई । इन कविताओं में आक्रमणकारी चीन और पाक को ललकारने, लताड़ने एवं तीखी आक्रोशपूर्ण वाणी में उनकी भर्त्सना करने के स्वर भी उभरे । 'मरवाणी', 'ओळमो', 'जनमभोम' आदि सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी स्फुट रचनाएँ प्रकाशित हुई । 'मरण-त्यूंहार'[2] कृति में ऐसी कई रचनाएँ संकलित है । इनमें श्री नारायणसिंह भाटी की 'मोटे मरण-त्यौहार', श्री गिरधारी सिंह पड़िहार की 'मुरदां ज्यूं जीणो लाग्यान है', श्री भंवरसिंह सामोर की 'पहन सपना रा धणी घर', श्री नानूराम संस्कर्ता की 'जीवकर आज्यो वीरा' आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं ।[3] आधुनिक राजस्थानी वीर काव्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि इन काव्यों के अधिकांश गायक राजस्थान से ही सम्बन्धित रहे हैं । मध्यकालीन भावभूमि से ये विशेष ऊपर नहीं उठ पाये हैं । आधुनिक वीर आदर्शों में भी उनकी दृष्टि वीर पीरसिंह और परमवीर शैतानसिंह तक ही सीमित रही है । इसका एक प्रमुख कारण आधुनिक काल में भी वीर काव्य की सर्जना करने वाले कवियों का प्रधानतः 'चारण' एवं 'राजपूत' परम्परा से सम्बद्ध होना रहा है ।

राजस्थानी वीरकाव्य प्रणेताओं ने जहां रणांगण में प्रबल पराक्रम प्रदर्शित करने वाले वीरों का यशोगान किया वहां वीर पत्नियों का बखान करने में भी पीछे नहीं रहे । विभिन्न रूप से जौहर करने वाली ललनाओं एवं पति की वीरगति प्राप्ति के पश्चात् सती होने वाली पत्नियों के अपूर्व साहस, अदम्य मरणोत्कण्ठा एवं उत्कट प्रणयासक्ति का बड़े ओजस्वी ढंग से वर्णन किया है । आधुनिक काल में

रा. गीता-ज्ञान दाता जिमी मोहण रा, जिण रे भी,
मोहण गजाया थेटा नीका गुण गाया रा ।।
कणी भांत थारे तणां करां म्हें बखाण बापू,
देश प्रेम धारा राष्ट्र पिता कहलाया रा ।
करमां रे परे ये गुरदा हुया रा शीश,
मन तणां पुष्प, ये पुरनी रा जाया रा ।।
गांधीगाथा - सं० सवाईसिंह धमोरा, पृ० १३

१. संदर्भ सूत्र—राजस्थानी वीर काव्य और सूर्यमल्ल मिश्रण ; डा० नरेन्द्र भानावत, पृ०४०
२. संपादक—श्री ओंकार श्री एवं भंवरसिंह सामोर । प्रकाशक—राजस्थानी साहित्य संस्थान, जयपुर, प्र० सं० १९६६ ई०
३. मरण-त्यूंहार

भी कवियों की ललक ऐसे प्रसंगों के प्रति कम नहीं हुई, फलतः वे या तो ऐसे प्रसंगों के लिए इतिहास का सहारा लेते हैं[1] या फिर (कानूनन सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने के पश्चात् भी) राजस्थान के किसी कोने में यदा-कदा प्राप्त होने वाले ऐसे प्रसंगों की प्रतीक्षा में आँख लगाये बैठे रहते हैं और जब कभी ऐसा प्रसंग आ उपस्थित होता है तब पारम्परिक कवियों की प्रतीक्षारत तृषित लेखनी उन पर टूट पड़ती है। उस समय उन्हें इतना उत्साह हो आता है कि वे यह भी ध्यान नहीं रखते कि सती होने वाली स्त्री के पति ने कोई अभूतपूर्व वीरता प्रदर्शित करते हुए वीर गति प्राप्त की है या रोग-शैय्या का सहारा लिये-लिये ही वह इस संसार से कूच कर गया है। गत वर्षों के ऐसे दो उदाहरण हमारे सामने हैं, जहाँ पति रुग्णतावश मृत्यु को प्राप्त हुए, पर संस्कार प्रबला राजपूत ललनाएँ सहर्ष अपने पतियों के मस्तक को गोद में लिए, जीवित चितारोहण कर गई और कवि उनकी स्मृति में काव्य-रचना कर बैठे। कवि रतन कृत 'सती-चरित्र'[2] एवं रावल नरेन्द्रसिंह कृत 'सती दयाल कुंवरी जी भटियाणी मूं'ड'[3] की स्मृति में रचा काव्य ऐसी ही रचनाएँ हैं। इनसे स्पष्ट है कि राजस्थानी का कवि किस सीमा तक परम्परा में जुड़ा हुआ है।

आधुनिक राजस्थानी वीर काव्यों का परम्परा से यह गहरा लगाव, उसके अभिव्यक्ति पक्ष से भी जुड़ा हुआ है। प्राचीन राजस्थानी वीर-काव्यों की जो रूढ़ धारणाएँ एवं परम्पराएँ थी, लगभग उन सभी का (एकाध को छोड़कर) इन काव्यों में निर्वाह हुआ है। वही वीरों का सिंह, शूकर और धवल के पारम्परिक प्रतीकों के रूप में चित्रण, वही उनकी वीरता के लिए लालायित स्वर्ग की अप्सराओं का अंकन, वही शिवादि देवता, उनके गण, कापालिक, कालिका आदि के युद्धक्षेत्र में विचरण का चित्रण और इन सबसे भी अधिक वीरों के कार्यों एवं उपलब्धियों का अतिरंजित वर्णन।[4]

---

१. इस प्रसंग में श्री सवाईसिंह धमोरा द्वारा संपादित 'चित्तौड़ के जौहर व शाके' नामक संकलन द्रष्टव्य है।

२. श्री सवाईसिंह धमोरा द्वारा संपादित।

३. संघशक्ति, वर्ष ३, अंक १०, अक्टूबर १९६२ ई०, पृ० सं० ३०

४. क. शूरवीर के सिंहादि प्रतीक—

भड़पण सूं भड़ले भुरज, वण बैठे सिरताज।
राजतिलक कोय न करै, वणै सीह वनराज।

वीर सतसई : नाथूसिंह महियारिया
पृ० सं० ९

ग. वीरों को रंग देने की परम्परा—

वीरों को उनके अद्वितीय शौर्य के लिए रंग देने (साधुवाद देने) की राजस्थानी वीर साहित्य की परम्परा रही है। आधुनिक राजस्थानी काव्य में भी इसका निर्वाह हुआ है। श्री मुकनसिंह बीदावत ने 'रंग रा दूहा' नामक एक स्वतन्त्र कृति की ही रचना कर डाली है।

संक्षेप में आधुनिक राजस्थानी का वीर एवं प्रशस्ति काव्य अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों में अपने प्राचीन काव्य से कमजोर है, हां, अलबत्ता प्रशस्ति गान की दृष्टि से यह फिर भी कुछ पुष्ट

श्री नारायणसिंह भाटी, श्री उदयराज उज्जवल, श्री हनुवन्तसिंह देवड़ा प्रभृति सभी कवियों ने 'रंग के दोहे' लिखे हैं—

> टीथवाळ री घाटियां, विकट पहाड़ां बंग ।
> सेगं किय अद्भुत समर, रंग पीरूसी रंग ॥
> मियां कियो द्रिढ़ मोरचो, सबल पहाड़ी संग ।
> जीव झोक करग्यो विजय रंग पीरूसी रंग ॥

श्री उदयराज उज्जवल, पीरूप्रकास, पृ० सं० १

> गुणिया अर भणिया घणा, बांका बळहट वीर ।
> परतख म्हें गुणिया हमें, रंग रजवट रण-धीर ।

परमवीर, श्री नारायणसिंह भाटी, पृ० २६

ग. वीरों के युद्ध को देखने के लिए सूर्य के रथ का रुकना, देवताओं का नभ से उनका रण निहारना एवं स्वर्ग की अप्सराओं का वीरों के वरण के लिए लालायित होना, शिव का मुण्डमाल के मुण्डों के लिए रणक्षेत्र में विचरण, योगिनियों का रक्तपान आदि युद्धवर्णन सम्बन्धी परम्पराओं का अंकन—

> चमर दुळंता चौनरां, गातां अपसरगान ।
> सूरापण री मेहरी, सुरग गयो सैतान ।

सूरा दोहा देगरा : श्री हनुवन्तसिंह देवड़ा, पृ० सं० ६५

> अरक थम्यो असमान में, कंपिया कोन कमट्ठ ।
> झेमी जवनी झेर घा, जद पीरू जमघट्ठ ॥

पीरू प्रकास, पृ० सं० ४७ ।

> सिव रंभा नवलग सगत, आवै स्वारथ हेत ।
> धमको दीसै सुरग हूं, धन भूमि रण खेत ।
> देवर सिर पड़ियां किया, पण परियां विण मूंड ।
> भाभी पर दळ देखग्ये, गूं बाटा बिण गूंड ॥
> केता सिर तिल-तिल किया, कर न सकै सिवमेळ ।
> हेमो मंच घमेरियो, मुंडमाल रो मेळ ॥
> सोप सियाळे सीवगूं, डाह करै वरदाय ।
> जिण दिन नाग मे सधरै, ये ही उण दिन जाय ॥

वीरसतसई : श्री मादूसिंह महियारिया

दृष्टिगत होता है। परम्परा से वह अब भी सम्पृक्त है और युग की बदलती हुई परिस्थितियों ने उसकी क्षेत्रीयता को कोई विशेष प्रभावित नहीं किया है।

⊛

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त भी आधुनिक राजस्थानी वीर काव्य में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं, जहां पारम्परिक शैली में वीरों, वीरांगनाओं एवं युद्ध का काफी विस्तार से वर्णन हुआ है। श्री महियारिया की 'वीर सतसई' तो पग-पग पर प्राचीन वीर काव्य-परम्परा का स्मरण कराती चलती है।

हास्य को प्रमुख रस न माने जाने के कारण, साहित्य में उसे वह स्थान नहीं मिल पाया जो उसे पाश्चात्य साहित्य में प्राप्त है। इसका असर राजस्थानी साहित्य में भी स्पष्टतः देखने को मिलता है। यहाँ शृंगार एवं वीर रस को जितना महत्त्व प्रदान किया गया है, उसकी अपेक्षा हास्य सर्वथा उपेक्षित रहा है। या तो 'विसर' साहित्य में ही कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य का प्रयोग हुआ है या वीररसान्तर्गत कायरों की भर्त्सना करते हुए कहीं-कहीं अच्छे मजाक किये गये हैं—

कंत ! घरे किम आवियां, तेगां री घण त्रास ?
लंहगे मूझ लुकीजिये, वैरी रो न विसास ।
मैं तो विण सब हासिया, उण भड़ एक महेस ।
काय दिये घण मेहणूं, हूँ भड़ हूंत विसेस ।[1]

अन्यथा अधिकांश में तो वह द्वितीय श्रेणी की ही वस्तु रहा है। यहाँ यह अवश्य उल्लेखनीय है कि राजस्थानी पद्य साहित्य की अपेक्षा गद्य साहित्य में हास्य-व्यंग्य के स्वर अधिक मुखर रहे हैं, विशेष रूप से लोक साहित्य में तो वह सहज रूप से मुखरित हुआ है। अनेक प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक बाधाओं-बन्धनों से विवश जनमानस ने अपने मन के उफान को इन लोक कथाओं के माध्यम से व्यक्त किया, फलतः यहाँ व्यंग्य की प्रधानता हो गई। इसके अतिरिक्त उस समय में मनोरंजन के साधनों की कमी ने भी इस हास्य-व्यंग्य विधा को प्रोत्साहित किया और लोक-शिक्षण का बहुत ही सबल साधन होने के कारण भी इसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

राजस्थानी हास्य-काव्य में 'भूंगर' के 'घेसळों' का एक विशिष्ट स्थान है। विचित्र असम्बद्धताओं से युक्त ये घेसळे आज भी जनवाणी पर स्थान पाये हुए हैं। कतिपय विद्वानों ने इन 'घेसळों' के पीछे किसी गहरे अर्थ को खोजने में काफी दिमागी कसरत की है, किन्तु वस्तुतः इनके पीछे असम्बद्ध बातों से लोगों को हंसाने की प्रवृत्ति ही मुख्य रूप से कार्यरत रही है।[2] उलटवासियों का स्मरण करवाने वाले कुछ एक 'घेसळे' द्रष्टव्य है—

गुवाड़ विचाळै पीपळो, मैं जाण्यो बड़बोर ।
लाफा मार्‌यो घेसळो, छाछ पड़ी मण च्यार ।
लुगायां कादा चुगल्यो ए, घणै री दाळ सा ।।
भिड़क भैंस पीपळ चढ़ी, छोप भाजगा ऊंट ।
गधेड़े मारी लात की, हाथी का दो टूक ।
लुगायां लाठी ल्यावो ए, गूदड़े में डोरा घालो ।।[3]

राजस्थानी साहित्य के आधुनिक काल के प्रथम चरण में सुधारवादी भावना का बोलबाला रहा। सामाजिक कुरीतियों को लेकर अनेक प्रकार की रचनाएं उस समय राजस्थान के भीतर और राजस्थान के बाहर (प्रवासी राजस्थानियों द्वारा) सर्जित होती रहीं। ऐसे सुधारवादी युग में सर्जित होने वाले साहित्य से अपेक्षा तो यही थी कि यहाँ व्यंग्य का प्राधान्य हो, किन्तु अधिकांश कवियों ने

---

१. वीरसतसई : सम्पादक—नरोत्तमदास स्वामी, नरेन्द्र भानावत प्रभृति, पृ० १३५ एवं १५२
२. भूंगर रा घेसळा : डा० मनोहर शर्मा, मरवाणी, पृ० सं० ५, वर्ष ५, अंक १।
३. भूंगर मचिरा घेसळा, ओळमो, पृ० सं० ३६, वर्ष १, अंक १।

हास्य एवं व्यंग्य

हँसना मानव की सहज वृत्ति है। बुद्धि के पश्चात् प्रकृति ने मानव को हँसी ही एक ऐसी वस्तु प्रदान की है जो उसे अन्य प्राणियों से विलगाती है। साहित्य स्वीकृत नौ रसों में हास्य ही एक ऐसा रस है, जहां आबाल-वृद्ध समान रूप से प्रसन्नता का अनुभव कर सकते हैं। हास्य की व्यापकता, सार्वजनीनता और उपयोगिता के कारण ही पाश्चात्य जीवन एवं साहित्य में हास्य-व्यंग्य का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहां के साहित्य में इसका बड़ा ही सरस एवं मनोरंजक अंकन हुआ है। इसके विपरीत स्वभाव से ही गम्भीर और आदिकाल से ही गहरी दार्शनिक गुत्थियों में उलझे रहने वाले भारतीयों ने अपने जीवन में हास्य-व्यंग्य को विशेष महत्त्व नहीं दिया, फलतः यहां के साहित्य में भी यह एक गौण रस के रूप में ही आया है। अब पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क के पश्चात् सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में हास्य-व्यंग्य का फलक काफी विस्तृत हुआ है। अब गद्य और पद्य, साहित्य के उभय पक्षों को लेकर नाना रूपों में हास्य-व्यंग्यपूर्ण रचनाओं की सर्जना बड़ी तेजी से होने लगी है।

हास्य को शास्त्रीय दृष्टि से विवेचित करने का प्रयास भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही साहित्याचार्यों ने किया है और दृष्टि-भेद के कारण दोनों के विवेचन में पर्याप्त भिन्नता भी है, किन्तु यहां उन पर विस्तार से विचार करना संभव नहीं होगा। संस्कृत-साहित्याचार्यों ने 'हास्य' का उसका स्थायी भाव बताते हुए उसके निम्नलिखित भेद किये हैं—

(१) स्मित (२) हसित (३) विहसित (४) उपहसित (५) अपहसित (६) अतिहसित।[1] संस्कृत-साहित्याचार्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया यह वर्गीकरण उतना तर्क सम्मत नहीं है जितना कि पाश्चात्य विचारकों का हास्य व्यंग्य सम्बन्धी विवेचन। इस सम्बन्ध में वहां अनेक विचारकों ने काफी गहराई तक पैठ कर अपने-अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। आज वहां हास्य के निम्नलिखित सर्व स्वीकृत रूप मान्य हैं—

(१) स्मित-हास्य (Humour), (२) वाग्वैदग्ध्य (Wit), (३) व्यंग्य (Satire), (४) वक्रोक्ति (Irony) और (५) प्रहसन (Farce)।[2]

हास्य के सामान्य स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् अब हम राजस्थानी साहित्य के संदर्भ में हास्य-व्यंग्य पर विचार करते हैं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय आचार्यों द्वारा

---

१. हिन्दी साहित्य में हास्यरस : डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, पृष्ठ० २८, द्वितीय संस्करण, १९६३ ई०

२. वही, पृ० २७

हास्य को प्रमुख रस न माने जाने के कारण, साहित्य मे उसे वह स्थान नहीं मिल पाया जो उसे पाश्चात्य साहित्य में प्राप्त है। इसका असर राजस्थानी साहित्य मे भी स्पष्टतः देखने को मिलता है। यहाँ शृंगार एवं वीर रस को जितना महत्त्व प्रदान किया गया है, उसकी अपेक्षा हास्य सर्वथा उपेक्षित रहा है। या तो 'विसर' साहित्य में ही कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य का प्रयोग हुआ है या वीररसान्तर्गत कायरों की भर्त्सना करते हुए कहीं-कहीं अच्छे मजाक किये गये हैं —

कंत ! घरे किम आविया, तेगा री घण त्रास ?
लंहगे मूझ लुकीजिये, वैरी रो न विसास ।
मैं तो विण सब हासिया, उण भड़ एक महेस ।
काय दिये घण मेहणूं, हूँ भड़ हूंत विसेस ।[1]

अन्यथा अधिकांश में तो वह द्वितीय श्रेणी की ही वस्तु रहा है। यहाँ यह अवश्य उल्लेखनीय है कि राजस्थानी पद्य साहित्य की अपेक्षा गद्य साहित्य मे हास्य-व्यंग्य के स्वर अधिक मुखर रहे हैं, विशेष रूप से लोक साहित्य में तो वह सहज रूप से मुखरित हुआ है। अनेक प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक बाधाओं-बन्धनों से विवश जनमानस ने अपने मन के उफान को इन लोक कथाओं के माध्यम से व्यक्त किया, फलतः यहाँ व्यंग्य की प्रधानता हो गई। इसके अतिरिक्त उन समय में मनोरंजन के साधनों की कमी ने भी इस हास्य-व्यंग्य विधा को प्रोत्साहित किया और लोक-शिक्षण का बहुत ही सबल साधन होने के कारण भी इसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

राजस्थानी हास्य-काव्य मे 'भूंगर' के 'घेसळो' का एक विशिष्ट स्थान है। विचित्र असम्बद्धताओं से युक्त ये घेसळे आज भी जनवाणी पर स्थान पाये हुए हैं। कतिपय विद्वानों ने इन 'घेसळों' के पीछे किसी गहरे अर्थ को खोजने मे काफी दिमागी कसरत की है, किन्तु वस्तुतः इनके पीछे असम्बद्ध बातों से लोगों को हसाने की प्रवृत्ति ही मुख्य रूप से कार्यरत रही है।[2] उलटवासियों का स्मरण करवाने वाले कुछ एक 'घेसळे' द्रष्टव्य है—

गुवाड़ विचाळै पीपळी, मैं जाण्यौ बड़बोर।
लाफा मार्‌यो घेसळो, छाछ पड़ी मण च्यार।
लुगायां कांदा चुगल्यो ए, घणे री दाळ सा ।।
भिड़क भैंस पीपळ चढ़ी, दोय भाजगा ऊंट।
गधेड़े मारी लात की, हाथी का दो टूक।
लुगाया साठी ल्यायो ए, गूदड़े मे डोरा पालो ।।[3]

राजस्थानी साहित्य के आधुनिक काल के प्रथम चरण मे सुधारवादी भावना का बोलबाला रहा। सामाजिक कुरीतियों को लेकर अनेक प्रकार की रचनाएं उस समय राजस्थान के भीतर और राजस्थान के बाहर (प्रवासी राजस्थानियो द्वारा) सर्जित होती रही। ऐसे सुधारवादी युग में सर्जित होने वाले साहित्य से अपेक्षा तो यही थी कि यहाँ व्यंग्य का प्राधान्य हो, किन्तु अधिकांश कवियों ने

१. वीरसतसई : सम्पादक—नरोत्तमदास स्वामी, नरेन्द्र भानावत प्रभृति, पृ० १२५ एवं १४२
२. भूंगर रा घेसळा : डा० मनोहर शर्मा, मरुवाणी, पृ० सं० ४, वर्ष ५, अंक १।
३. भूंगर कविरा घेसळा, मोळ्यो, पृ० स० ३६, वर्ष १, अंक १।

व्यंग-वक्रोक्ति का सहारा छोड़कर, सीधे कोसने की शैली को अपनाया, फलतः उनकी शैली साहित्यिक कम, प्रहारात्मक अधिक हो गई। श्री ऊमरदान लालस की 'सोटे सन्तांरो सुनाणो',[1] 'मतान्नां री मारसी,'[2] 'तमाखू री ताड़ना',[3] 'अमल रा औगण'[4] प्रभृति कविताएँ इसी श्रेणी में आती हैं। प्रवासी राजस्थानियों ने भी अधिकांश में, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, कन्या-विक्रय, दहेज, फिजूलखर्ची आदि कुरीतियों को लेकर सीधी चोट ही अधिक की है। ऐसी कविताओं में व्यंग्य-वक्रोक्ति का सहारा बहुत ही कम लिया गया है। जहां भी सीधे कोसने या निवेदन करने की शैली को छोड़, व्यंग्य-वक्रोक्ति का सहारा लिया गया है, वे रचनाएँ अवश्य ही अधिक प्रभावी एवं सरस बन पड़ी हैं। श्री गुलाबचन्द नागोरी की 'कुंवारा का दुखड़ा' एक ऐसी ही रचना है—

सभा का भी 'पति' बणग्या, धिराण्यां का तो हो ही थे।
कहो कुण का बणां पति म्हे? कुंवारां की सुणो अरजी॥
डबल जोड़ करे कोई। कठे तो छै ट्रिपल बीबी।
सुजन म्हे एक सू राजी। कुंवारां की सुणो अरजी॥[5]

लेकिन समग्ररूप से उन सुधारवादी रचनाओं में ऐसी रचनाओं की न्यूनता ही रही है। पश्चात् 'आगीवाण' जैसे पत्र ने राजनैतिक जागरूकता का ध्वज अपने हाथ में लिया। यद्यपि यह पत्र मूलतः राजनैतिक था और हिन्दी में बालमुकुन्द गुप्त प्रभृति लेखकों ने तात्कालिक विसंगतियों को लेकर जैसी तीखी व्यंग्योक्तियां कसी है, वैसा कुछ इस पत्र में देखने को नहीं मिलता, फिर भी देश की राजनैतिक स्थिति से उद्वेलित एवं राजस्थानी के सामन्ती शोषण की पीड़ा से उत्तेजित यह पत्र कभी-कभी मुक्त हँसी हँसते हुए भी सुना गया है—

आयो सियाळो पड़ रही ठार
सिगड़ी तापे भर अंगार।
बैठो झुक झुक झोला खाय,
पड्यो पगड़ी सिगड़ी माय॥
हुओ भभको उठी भाळ
मूँछ मूँदा रा बळग्या बाळ
फेरयो हाथ रयो नहीं केस
खिजमत होगई सारे बेस।[6]

१. ऊमर काव्य, पृ० सं० १६१, (तृतीय संस्करण)।
२. वही, पृ० सं० १६७।
३. वही, पृ० सं० २६३
४. वही, पृ० सं० २७५
५. कुंवारा का दुखड़ा : मातृभाषा प्रेमी नागोरी, पंचराज, वर्ष २, अंक २, पृ० सं० ४५
६. सियाळा री खिजमत: श्री शाहिबचन्द गुराणा, आगीवाण, वर्ष १, अंक ४ (दिसम्बर १९३७) पृ०सं० २

स्वतंत्रता से पूर्व राजस्थानी साहित्य में अत्यन्त विरल रूप में प्रवाहित होने वाली यह हास्य-व्यंग्य धारा गत २५ वर्षों में काफी कुछ मुटिया गई है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम तो 'मरुवाणी', 'ओळमो', 'कुरजां', 'मारवाड़ी' जैसे स्वतंत्र राजस्थानी पत्रों का प्रकाशन एवं द्वितीय कवि सम्मेलनों की बढ़ती हुई लोकप्रियता। इनमें द्वितीय कारण ही प्रमुख कहा जा सकता है। क्योंकि हास्य रस एक ऐसा रस है जो कवि को मंच पर सुगमता से जमने देता है और लम्बे समय तक एक ही कवि जनता को 'विलमाये' रख सकता है। अतः स्वाभाविक रूप से ऐसे अवसरों पर ऐसी ही कविताओं की मांग अधिक होती है। इसके अतिरिक्त आज हास्य-व्यंग्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। अब उसके आलम्बन केवल कायर, कंजूस, मूर्ख या गंजी खोपड़ी वाले लोग ही नहीं रह गये हैं, अपितु वर्तमान जीवन की प्रत्येक सामाजिक, राजनैतिक, एवं धार्मिक असंगति पर अब उन्मुक्त रूप से हँसा जा सकता है। उन पर अच्छी खासी मीठी चुटकियाँ ली जा सकती हैं। इन सामाजिक एवं राजनैतिक असंगतियों के अतिरिक्त हमारा दैनन्दिन वैयक्तिक जीवन भी हास्य का भण्डार है, विशेष रूप से पति-पत्नी की नोक-झोंक तो मधुर हास्य सामग्री का स्रोत बन गयी है। इस प्रकार हास्य-व्यंग्य का धरातल अब काफी विस्तृत हो गया है।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मंच ने (कवि सम्मेलनों ने) हास्य एवं व्यंग्य रचनाओं के लिए अच्छा खासा धरातल प्रस्तुत किया है। जहाँ यह सुविधा हास्य-व्यंग्य के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है, वहीं यह उसकी सीमा भी बन गयी है। यह तो निर्विवाद रूप से मानना ही पड़ेगा कि आधुनिक राजस्थानी साहित्य की अधिकांश हास्य-व्यंग्य रचनाओं की सर्जना लोक-मांग पर हुई है। इसके कारण हास्य कवि के मस्तिष्क में हर समय अपने पाठक या श्रोता समाये रहते हैं। उसका हर संभव प्रयास एक-एक शब्द पर श्रोताओं को हँसाने और पाठकों को आह्लादित करने का होता है। अब यह पाठकों के स्तर पर निर्भर करता है कि उनको ध्यान में रखकर लिखी गयी कविता कैसी बनी? कवि के सम्मुख जिस वर्ग का श्रोता एवं पाठक होगा, उसकी कविता भी लगभग उसी स्तर की होगी। शिष्ट और उच्च बौद्धिक हास्य की दृष्टि से सुरुचि सम्पन्न पाठकों की आवश्यकता होती है। राजस्थान में शिक्षा का वर्तमान स्तर एवं स्थिति देखते हुए, ऐसे उच्चस्तर के हास्य-व्यंग्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

स्मित-हास्य (Humour) का स्तरीय निर्वाह तो हिन्दी साहित्य में भी अपेक्षाकृत काफी न्यून रहा है, ऐसी स्थिति में आधुनिक राजस्थानी साहित्य में उसका प्रवाह और भी क्षीण हो तो आश्चर्य ही क्या? हाँ, व्यंग्य वक्रोक्ति एवं वाक्-वैदग्ध्य की दृष्टि से आधुनिक राजस्थानी साहित्य ने फिर भी कुछ गति पकड़ी है, किन्तु यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि हास्य-व्यंग्य के इन काव्यों में हास्य, व्यंग्य, वक्रोक्ति, वाक्-छल (वाक्-वैदग्ध्य) सभी परस्पर इस प्रकार गुम्फित हैं कि उन्हें सहज ही अलगाया नहीं जा सकता, फलतः यहाँ उन पर सम्मिलित रूप से ही विचार करना समीचीन होगा।

आधुनिक राजस्थानी हास्य-व्यंग्य-साहित्य का सबसे सबल बिन्दु-जो उसे प्राचीन साहित्य की अपेक्षा काफी समृद्ध बना देता है—आलम्बन का विस्तार है। कायर एवं कंजूस को यद्यपि अब भी कभी-कभी हास्य आलम्बन बनाया गया है—

प्रीतम रण पड़िया दगा, रुप सीधी तरवार।
दाठी तन री दांतली, ऊभा पाड़ै वार॥

पीव समर में जावतां, पाछा गया पधार
मंडियो दीठो भींत पर, माना सहित सवार ।।[1]

तथापि अधिकांश में हमारे वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक जीवन की असम्बद्धताएँ एवं विसंगतियाँ ही हास्य का आलम्बन बनी हैं। वैसे कहीं-कहीं असामान्य शारीरिक गठन भी हास्य-व्यंग्य का आधार बना है—

कीं न चढ़ायो मांस, सूका रहग्या हाडिया।
लांबो बदग्यो बांस, बिन बूझे ही गूंग में।
मघरो गोळ मटोळ, गींडी सो गुड़तो फिरै।
बदै नहीं रै गोळ, मंगळ सोगन रावली ।।[2]

पौराणिक देवी-देवताओं ने भी हास्य कवियों के लिए अच्छी खासी सामग्री प्रस्तुत की है। *भगवान शिव के पारिवारिक जीवन को लेकर या उनकी विचित्र वेशभूषा को लेकर संस्कृत साहित्य* में कहीं-कहीं अच्छे खासे मजाक किये गये हैं। हिन्दी में भी पौराणिक देवताओं को लेकर काफी कुछ स्तरीय हास्य-विनोदपूर्ण रचनाएँ सर्जित हुई हैं। ऐसी स्थिति में राजस्थान का कवि भी इससे सर्वथा अछूता नहीं रहा है। शंकर के पारिवारिक जीवन को लेकर ली गयी ये चुटकियाँ बरबस पाठक के होठों पर मुस्कान ला देती हैं—

क. एक दिन बिगरग्यो, शंकर जी रो नांदियो
डेरो डप्पो सौह बेटै सुरी कर'र ढाह दियो
भोळो हो समाधि में
उठै कियां आधी में
उठ्या इतै नारै धूणीं मूत'र बुझा दियो।

ख. शंकर जी ने कैवण लागी एक दिन पारवती
सगळै दिन बैठ्याकर मोडिया बेकार मती
भोळै हो' र ओघी
काना नीचै दो दी
तो बोल्या जियां मरजी कर, मरज्याणा मार मती।[3]

पौराणिक देवी-देवताओं को आधार बनाकर लिखी गयी हास्य-व्यंग्य-प्रधान कविताओं में अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं—श्री विमलेश की 'बिरमा जी को बाद'[4], 'नई साल को नयो कलेण्डर'[5], श्री बुद्धिप्रकाश पारीक की 'मैं गयो देव इन्दर कै घर'[6], 'मैं गयो सुरग में एक बार'[7], आदि। यद्यपि

१. वीर सतसई : श्री नाथूसिंह महियारिया, पृ० सं० ३१७
२. मूंमा मोती : श्री भीमराज भंवीक, पृ० सं० ६४
३. आठ डागळा, श्री मोहन आलोक, जनमभोम, पृ० स० ६७, वर्ष २, अंक २-३
४. देहलानी, पृ० सं० १८
५. वही, पृ० सं० ५६
६. इन्दर सूं इण्टरव्यू, पृ० सं० ५
७. वही, पृ० सं० २१

उपर्युक्त रचनाओं में आलम्बन पौराणिक देवी-देवता रहे हैं तथापि इनमें मुख्यतः वर्तमान समाज की किसी-न-किसी समस्या को ही उठाया गया है। ऐसी रचनाओं में कवि का अभीष्ट वर्तमान जीवन की असम्बद्धताओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना रहा है। 'बिरमाजी को वाद' में जहाँ बढ़ती हुई जनसंख्या की स्थिति का उपहासास्पद चित्र अंकित हुआ है, वहाँ 'मैं गयो देव इन्दर के घर' में वर्तमान समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार आदि पर तीखी चुटकियाँ ली गयी हैं। सुधारवादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर लिखी गयी कविताओं के आलम्बन केवल पौराणिक देवी-देवता ही नहीं रहे हैं, अपितु भ्रष्टाचार, अनैतिकता, नेताओं का दम्भी जीवन, बेकारी, महँगाई, मिटते पुराने मूल्यों और स्थापित होते नये मूल्यों के बीच त्रिशंकु की तरह अधर में लटके हमारे वर्तमान जीवन-दर्शन सभी कुछ इनमें समाविष्ट हो गये हैं। यहाँ प्रमुख रचनाओं के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों को उद्धृत किया जा रहा है—

क. अँ कळजुग में खाण नैं
खास चीज है धूळ,
मूंडा पीळा पड़ गया
हिवड़ै लागी सूळ
हिवड़ै लागी सूळ
भाव रो ताव देखल्यो
कागदिया मोट्यार
देसरी जाव देखल्यो
घी दूधां में खालिस की
तो बात छोड़द्यो,
मिनखां में भी मिले—
मिलावट आज देखल्यो ॥[1]

ख. ओ सैकिंड को सुणो चोरटो
चोरी करकै भाग्यो जाय्यो
पाछै पाछै थाणेदार सिपाई भाग्यै
जांकै हाथ नहीं ओ आय्यो
ठिगणूं थाणेदार सराबी मतवाळो हो—
होळ्यां होळ्यां एक घड़ी में एक पैंड़ हळ्यासी मेलै
अर बूढ़को सिपाई जी कै
हाडां में है चटक आज भी
एक घड़ी में बारा कोस भाग ज्यावे है
पीछै भी चोर नै नहीं बै पकड़ सके है
क्यूं ? ओ म्हाटो जबर जग है
एक घड़ी में आठ कोस मारै फलांगा

1. बिरखा बीनणी : श्री नागराज शर्मा, पृ० सं० ५०–५१

पण लोगां के एक भ्रम भो भी होर्‌यो है
थाणेदार सिपाई से ई सै मिलर्‌या है
रिपियां की चावी से चालै चोर पकड़्या में दिखावटी
ये दोनूं भी घणा घाघ है
जांण बूझ के कोन्या पकड़ै चोरटियं नैं[1]

पति-पत्नी की आपसी नोंक-झोंक हम सभी के लिए अच्छे मनोविनोद का विषय हो सकती है, इस तथ्य को वर्तमान काल के हास्य कवियों ने भली-भांति अनुभूत किया है। दैनन्दिन जीवन में उभरने वाले ऐसे अनेक प्रसंग हास्य कवियों के आलम्बन बने हैं—

म्हैं घर जाकर पूछण लाग्यो, धोती ने गंदी कुण करदी
बोली के धोती रो तोड़्यो टावरिये ट्टी सूं भरदी
म्हैं कियो बावळी घो धोती, घर धर्‌यो घणो सावण सोडो
बोली पिडत देख्यो कोनी, क्यूं परणीज्यो वणतो मोडो
म्हैं बोल्यो पाणी घाल बाळ, बोली के मेंहदी लगाई है ॥
दूजै दिन रूस' र जा सोगी, बोली मेरी आसंग कोनी
म्हैं बोल्यो थांरो के दूखै, बोली ग्रेठो सिर दावो नी
म्हैं सिर दावण नैं त्यार हुयो, वण सिर इक पांव पसार दियो
बोली पगमां सरणा चालै, माथल गोडा सैं टूट रिया।
म्हैं किसे कूवे में पड़ूं अबै, दे मुट्ठी जोर दवाई है।[2]

आलम्बन विस्तार के साथ ही आधुनिक राजस्थानी हास्य-काव्य में जिस प्रवृत्ति ने सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त किया है, वह है व्यंग्य की प्रवृत्ति। चाहे 'विमलेश' हो या बुद्धिप्रकाश या फिर 'भ्रमन' हो या 'सुदामा', सभी कवियों में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य का प्राधान्य रहा है। श्री 'सुदामा' की 'पिरोळ में कुत्ती ब्याई' में संगृहीत कविताओं में दो-तीन कविताओं को छोड़कर शेष सभी कविताएँ व्यंग्य प्रधान हैं। उन्होंने आज की भ्रष्ट जीवन-व्यवस्था और अति भौतिकवादी प्रवृत्ति से स्फुलग्न महानगरीय जीवन की विकृतियों का यथार्थ अंकन अपनी इन कविताओं में किया है। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि समाज में इन प्रवृत्तियों का पनपना सामाजिक जीवन के लिए बड़ा भारी अभिशाप है।[3] वे आज की इस अधोमुखी एवं विकृत जीवन-प्रणाली से स्वयं पीड़ित ही नहीं हैं, अपितु व्यापक सामाजिक धरातल पर खड़े होकर सोचने के कारण, एक सीमा तक संत्रस्त भी हैं। फलतः वे इन सबका एक ऐसा क्रूर यथार्थ भरा चित्र अंकित करना चाहते हैं जिससे पाठक का मन सहज ही वितृष्णा से भर उठे।

---

१. सैंकिड को सूयो : छिड़काणी, श्री विमलेश, पृ० सं० १०६–१०
२. अकल ठिकाणे : श्री नानूराम संस्कर्ता, जलमभोम, पृ० सं० ३७, वर्ष २, अंक २-३
३. "हूं सोनूं टिवलो तो साम्ही शरीर सूं एक दृश्यमान कुत्ती ही, भलां ही हुयो, पण अब स्त्री-पुरुष री माणस पिरोळ में, वासना, लोभ, लिप्सा री कुत्ती ब्यावणी शुरू हुवै तो बा परलै स्तर ई स्थूल कुत्ती सूं घणी भयावह हुवै।"
पिरोळ में कुत्ती ब्याई, श्री भगवान 'सुदामा' (गोदी म्हारी ही)

राजस्थानी भाषा के मुहावरों का यथार्थ ज्ञान एवं भाषा पर अच्छा अधिकार उनके कथ्य को और अधिक प्रभावी बनाने में सहायक हुआ है। कहीं-कहीं चिन्तन की प्रबलता के कारण ये कविताएँ विचार बोझिल अवश्य बन गयी हैं।

श्री 'सुदामा' की तरह ही श्री बुद्धिप्रकाश में भी व्यंग्य की प्रधानता रही है। जहाँ 'सुदामा' का चिन्तन सम्पूर्ण समाज और वर्तमान जीवन की नानाविध विसंगतियों को लेकर चला है, वहाँ बुद्धिप्रकाश अधिकांशतः मध्यमवर्गीय या निम्न-मध्यमवर्गीय समाज की सामाजिक कुरीतियों की ओर विशेष झुके हैं। उनकी अनेक प्रसिद्ध कविताएँ—'म्हें गया देखवा दीवाळी'[१], 'मैं गिरै सान्ती करवाई'[२], 'मैं गयो साधवा नै बरात'[३], 'मैं गयो निमटवा एकबार'[४], 'मैं चढ़्यो निकामी की घोड़ी'[५] प्रभृति में निम्न-मध्यमवर्गीय समाज की कुरीतियों की अच्छी खासी मजाक उड़ाई गई है और हास्यास्पद स्थितियों में उनका अन्त दिखलाकर लोगों को उस ओर से विरत होने को प्रेरित किया गया है। इनके अधिकांश व्यंग्य चोट खाये हृदय की गहरी मर्माभिव्यक्ति लिये हुए हैं। अपनी न्यूनताओं और अपने ही अभावों पर हँस सकने की कवि की क्षमता रचना की प्रभविष्णुता को कई गुना बढ़ा देती है—

अं दिन भी तेल उधार ल्यार, दीया जोया छा घरहाळी।
म्हें गयो देखवा दीवाळी ॥
वा भी दीयां को बच्यां तेल, बाळां मं घाल करी चोटी।[६]

दीपावली जैसे पर्व पर तेल उधार लाकर दिये जलाना और उन दियों के बचे हुए तेल से माथे में तेल लगाने से अधिक विडम्बनाभरी स्थिति और क्या हो सकती है? अपने अभावों पर इस प्रकार हँसने का साहस कम ही कवि कर पाते हैं। इसी तरह आज के साधारण अध्यापक की अभावों भरी जिन्दगी का बड़ा ही कारुणिक व्यंग्य चित्र 'मैं गयो साग लेवा बजार' में अंकित हुआ है। गरीब अध्यापक के पास इतने पैसे भी नहीं है कि वह महीने के अन्तिम दिनों में बाजार से दो पैसे की 'साग' भी खरीद कर ला सके। जब उसकी गृहिणी सब्जी के लिए अधिक जोर डालकर कहती है—

गैणा-गांठा कपड़ा लत्तां केई तो मं ग्यूं ही कैया ?
तरकारी तक के तांई भी, तनखा आवा का दिन जोया।[७]

उस समय अध्यापक द्वारा अपने अभावों को आदर्शों की ओट में छिपाने का प्रयास जिस कारुण हास्य की सृष्टि करता है वह द्रष्टव्य है—

मैं सीक "हार मत हिम्मत नं, बस हिम्मत की ही कीमत है,
ईं जग मैं वै ही अमर हुया, ज्यो झेलो घणी मुसीबत छै।
हो जावै देर भलांई पण, अन्धेर नहीं ऊंचा घर मं,
दे-दे'र दुःख वो परखं छै, देखां म्हा मं कितणो सत छै ?"[८]

---

१. फूंटक्या : श्री बुद्धिप्रकाश, पृ० सं० १६
२. वही, पृ० सं० २१
३. धबड़का : श्री बुद्धिप्रकाश, पृ० सं० २६
४. वही, पृ० सं० २४
५. वही, पृ० सं० २
६. म्हें गया देखवा दिवाळी : फूंटक्या, पृ० १७
७. फूंटक्या, पृ० सं० ३७
८. वही, पृ० सं० ३८

श्री 'विमलेश' ने कई सफल व्यंग्य कविताएँ लिखी हैं, पर उनका दृष्टिकोण पाठकों या श्रोताओं को हँसाने का ही अधिक रहा है। यद्यपि उनकी 'विरमाजी की याद', 'बीनणी ऊपाड़' मूंडे म्हाई रे'[1], 'इन्टरव्यू'[2] 'चुनाव भासण'[3] आदि कविताओं मे समग्र रूप से वर्तमान जीवन की किसी-न-किसी सामाजिक या राजनैतिक विसंगति पर तीखा व्यंग्य किया गया है, किन्तु उनमें कथ्य, शब्द-चयन, एवं प्रस्तुतीकरण का ढंग ही कुछ ऐसा मजाकिया लहजा लिये हुए है कि हंसे बिना नहीं रहा जा सकता। 'विरमाजी की याद' आज की बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या पर चोट है, किन्तु कवि ने प्रस्तुत कविता में बढ़ती जनसंख्या के भीषण परिणामों का चित्रण करने की अपेक्षा उसे ब्रह्मा एवं शिव के विवाद का रूप देकर, बोझिलता से बचाकर, अच्छी खासी रोचकता प्रदान कर दी है। यह इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि 'इन्टरव्यू' जैसी सफल व्यंग्य कविता में भी कवि ने प्रारम्भिक अंशों को सरस बनाने की दृष्टि से 'मोदूड़ दर्जी' की सरचना कर डाली है। वैसे यह न भी होता तो भी आज की धांधली पर बड़ा तीक्ष्ण प्रहार करने वाली इस कविता के तीखेपन में कहीं कोई अन्तर नहीं आता। इसमें कवि ने जैसे 'इन्टरव्यू' की ही बेखिया उधेड़ कर रख दी है—

> सै सै पैली मेरे ऊपर निजर पड़ी एँ चातारणों की
> मन्नै पूछ्यो आपको नाम ? बाप को नाम ? गाव को नाम ?
> मैं सुन्नू सो होगो, मन में बात विचारी
> देखो आपां खाता पीता फैया के मोया से भिडगा
> जाणें कठै धरमसाळा मे कमरो मांगण नै आयो हूं
> ओभी कोई सुवाल है—
> आपको नाम, बाप को नाम, गांव को नाम ?
> पण मै हिम्मत करके सीदो ही बोल्यो, सर
> अरजी मे सै लिख्या पड़्या है, एक बार बांच्या तो होता
> सुणे बिनां ही ओ जुवाब, बावै कानी अचकनिशूं उछळ्यो
> जो इब तांणी सही सलामत चुप बैठ्यो थो
> '... ...क्......क्......क्......भा......भाई..........'
> बो के पूछयो मनै सुण्यो ही कोनी पण मैं—
> बडी मुसकला से हांमी ने डाटो राखी
> सोची यो तो सारे को मारोड़ो ही म्हारो डूबोड़ो है
> मैं बोलू जी पैल्या ही बिचल्योड़ो बेमाता बोलो —
> "थे ब्यायोड़ा हो' क कुंवारा ?
> ब्यायोड़ा हो तो थारे कितणा टावर है ?"[4]

ये उन्मुक्त अट्टहास श्री विमलेश की हर व्यंग्य कृति में सुने जा सकते हैं।

---

१. हिड़म्बानी : विमलेश, पृ० सं० ३१

२. वही, पृ० सं० २६

३. आज रा कवि : सं० रावत सारस्वत एवं वेद व्यास, पृ० सं० ७५

४. इन्टरव्यू, हिड़म्बानी : विमलेश, पृ० सं० ४७

व्यंग्य की तीखी चोट करने और पाठक के अन्तस को कचोटने में समर्थ कविताओं के सृजन की दृष्टि से श्री 'अमन' का अपना विशिष्ट स्थान है । उनका ध्यान विशुद्ध राजनैतिक जीवन और समस्याओं की ओर रहा है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भारत ने जिस सुनहले जीवन का स्वप्न संजोया था, वह स्वार्थ, अकर्मण्यता, भ्रष्टाचार एवं वैयक्तिक महत्ता की स्थापना में किस कदर लड़खड़ा पड़ा, इसकी बड़ी तीखी अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में हुई है । अपने आस्थावादी विचारों के कारण जहाँ श्री 'सुदामा' की कविताएँ वाक्छल एवं वक्रोक्ति प्रधान बन पड़ी हैं, श्री बुद्धिप्रकाश में हलकी मीठी चुटकियाँ हैं और श्री विमलेश में हास्य से आवृत होकर व्यंग्य प्रकट हुआ है, वहाँ श्री 'अमन' में सीधे चोट करने की प्रवृत्ति प्रबल रही है । कवि ने बिना किसी लाग-लपेट एवं कटुता की परवाह किये, तिलमिला देने वाले तीखे व्यंग्य बाणों की बोछार अपनी कविताओं में की है । उनकी 'थे मत आया,'[१] 'राम राज'[२], 'कंई होसी'[३] आदि कविताएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं । 'थे मत आया' में कवि ने गांधी को सम्बोधित करते हुए इस बात पर खुशी प्रकट की है कि अच्छा हुआ तुम समय रहते इस विश्व से चले गये अन्यथा तुम्हारे अनुयायी तुम्हारे साथ क्या कुछ नहीं करते—

तो खद्दरिया,
स्हो की बिसरा,
सैं भूल-भुला,
गुण-गाळ होय नैं,
पलभर में,
कपड़ा स्यूं बारै हो लेता
औरंगजेब बण बापू नैं,

सल्लै में पाणी प्या देता,
ऐ नाकां चिणा चबा देता ।

गांधी टोपी नैं फाड़-फूड़,
टुकड़ा-टुकड़ा कर
चरखै नैं,
बाळण रै भाव बिका देता ।[४]

राजस्थानी के उपर्युक्त चार प्रमुख व्यंग्यकारों के अतिरिक्त श्री नृसिंह राजपुरोहित, श्री किशोर कल्पनाकान्त, श्री नानूराम संस्कर्ता, श्री करणीदान बारहठ, श्री गोपालसिंह राजावत, श्री

---

१. पूंडिया : श्री सत्यनारायण प्रभाकर 'अमन', पृ० सं० ६१

२. वही, पृ० सं० ७१

३. वही, पृ० सं० ८१

४. पूंडिया : श्री 'अमन' पृ० सं० ६३–६४

नागराज शर्मा, श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, आदि कवियों ने अच्छी व्यंग्य-प्रधान कविताएं लिखी हैं। मानव 'चांद' पर पहुंच चुका है पर भारतवर्ष कहां है, जरा देखिये तो—

डील हुगाड़ो पोलियो माथै
लीरा लटकै, नीचै धोती गोडा तांई
ऊपर आभो, नीचै धरती
सिसकारी मार-मार बोल्यो—
'बिरखा पांनी बरसै भगवान ।'
जूआ मारती लुगाई बोली—
'दाणा निवड़ग्या'
इतै में एक जुवान आयो, पेंट पैर्यां
पट्टा बाधा, मूंछ्या माथै—
फिर्योड़ो पाछगो, हंस-हंस सुणाई बात—
'चांद पर मिनख उतरै'
लुगाई जूं मारै
आदमी देखै बादळी काली
टाबर हुगाड़ा गेळै
चांद पर मिनख उतरै ।'[1]

विषय वैविध्य की भांति आधुनिक राजस्थानी हास्य-व्यंग्य काव्य का शिल्प वैविध्य प्राचीन काव्य से काफी आगे बढ़ा है। 'पैरोडी' 'कहमुकरणी' एवं 'डांखळा' (लिमरिक 'तुक्तक') का हास्य रूप में प्रयोग सर्वप्रथम अर्वाचीन राजस्थानी काव्य में ही हुआ है। जहां तक 'कहमुकरणियों' का प्रश्न है, हिन्दी में उनका प्रयोग अमीर खुसरो से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु राजस्थानी में सर्वप्रथम श्री चन्द्रसिंह ने ही इस ओर अपने चरण बढ़ाये हैं। अमीर खुसरो की 'कहमुकरणियों में' जहां कहीं-कहीं छिछलापन उभर आया है, वहां श्री चन्द्रसिंह की कहमुकरणियां, इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं—

चंचल घणो, अड़ीलो मोटो
लाग उपाड़न लागै गोटो
बरज हारी, पर मानै फूण
क्यूं सखि साजन, ना सखि फून ।[2]
हर वेळा गळ-बांथां रागै
छाती छोड़ै न मूं मूं भागै
फीको यें बिन सब सिणगार
क्यूं सखि साजन, ना सखि हार ।[3]

---

1. चांद पर मिनख : श्री कानीदान बारहठ, जनमभोम, पृ० सं० २६, वर्ष २, अंक २-३
2. कहमुकरणी : श्री चन्द्रसिंह, पृ० सं० ७
3. वही, पृ० सं० १०

आंगण सूती अचानक आयो
ऊपर पड़तो घणो सुवायो
टपकों टपकों भीजी देह
क्यूं सखि साजन ? ना सखि मेह ।।[1]

श्री चन्द्रसिंह की सभी कहमुकरणियां शृंगार-परक रही हैं। श्री चन्द्रसिंह द्वारा स्थापित हास्य की इस नवीन प्रवृत्ति को एकाध कवि को छोड़ शेष कवियों ने नहीं अपनाया है—

हाट बाट कर राज दुवारे,
आदर पावै कारज सारै,
कदै करूं नहिं नैणा ओट,
क्यूं सखि साजन ? ना सखि नोट ।[2]

'पैरोडी' एवं 'डांखळा' (तुक्तक) दोनों ही पाश्चात्य काव्य-जगत् से प्रेरित विधाएँ हैं। 'पैरोडी' में किसी भी विशिष्ट शैली या लेखक की ऐसी हास्यास्पद अनुकृति होती है कि वह गंभीर भावों को परिहास में परिणत कर देती है।[3] मूल विषय से सर्वथा विपरीत प्रायः इसका विषय अत्यन्त क्षुद्र होता है। वैसे पैरोडी के तीन भेद किये गये हैं[4] किन्तु सशक्त पैरोडी वही कही जायेगी जो कि मूल काव्य की आत्मा को कहीं ठेस नहीं पहुँचाये या जिससे मूल काव्य की गरिमा कम न हो। वैसे कवि या लेखक को उसकी शैलीगत न्यूनता दर्शाने में 'पैरोडी' एक सफल विधा है। राजस्थानी में 'पैरोडी' लेखन का प्रचलन कम ही रहा है, फिर भी श्री मुरलीधर व्यास, श्री बुद्धिप्रकाश आदि कवियों ने कुछेक सुन्दर पैरोडियां लिखी हैं। हिन्दी की प्रसिद्ध आरती 'ओम जय जगदीश हरे' की सफल पैरोडी श्री बुद्धिप्रकाश की 'जै मांखी माई' है—

जै मांखी माई। ओम जै मांखी माई।
जण्डै देखो उण्डै, तू ही तू पाई।
च्यार पंख छै चरणी, सेत स्यानवरणी,
दरसण सै मन ही क्यूं, प्राण तलक हरणी। ओम०
थारा सिरजन आगै बिरमा सरमावे ?
लाख-लाख अण्डा दे, जद-जद तू ब्यावै। ओम०
जल-थल और पवन में, विष्णु सी थापै,
धरती सै आमर तक, तू पल मे मापै ।। ओम०
पोळ-चोक भर नाळ्यां, साळ गुसलखानू
तारा परनाळो तक, तै सै नहिं छानू ।। ओम०[5]

---

१. कहमुकरणी : श्री चन्द्रसिंह, पृ० सं० २८
२. श्री मोहनलाल पुरोहित, आधुनिक राजस्थानी साहित्य एक शताब्दी : श्री शांतिलाल भारद्वाज, पृ० सं० ६१
३. हिन्दी साहित्य में हास्य रस : डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, पृ० सं० ५० (द्वितीय संस्करण)
४. इस प्रकार 'पैरोडी' तीन प्रकार की कही जा सकती है—
(१) शाब्दिक (२) आकार-प्रकार सम्बन्धी (३) भावना सम्बन्धी।
हिन्दी साहित्य में हास्य-रस : डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी पृ० सं० ५१ (द्वितीय संस्करण)
५. तिरसा : श्री बुद्धिप्रकाश, पृ० सं० ८१

श्री मुरलीधर व्यास ने भी हिन्दी के प्रसिद्ध दोहों की कई पैरोडियां लिखी हैं—

दुख में सुमरन सब करे, सुख में करे न कोय।
सुख री मौजां माणतां, कुण सुमरण नै रोय ॥
तुलसी कबहूं न त्यागिये, अपने कुल की रीत।
घर बेचो करजो करो, परम तणी आ नीत ॥
अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
यूं सूतो रह महल में, इन यूं भरसी दाम ॥
आसन दृढ़ आहार दृढ़ सुमति ज्ञान दृढ़ होय।
नूंतो घर जजमान भर, दुर्लभ दिखणा होय ॥
सांई टेढ़ो अविलसों, वैरी खलक तमाम।
चमचा सूं हरजे परी, दो भला है दाम। ।[1]

'डांखळा' अंग्रेजी लिमरिक से प्रेरित रचनाएं हैं, जिनमें निरर्थक तुक का निर्वाह सबसे बड़ी वस्तु होती है। हिन्दी में श्री भारतभूषण ने सर्वप्रथम इनका प्रयोग प्रारम्भ किया और उन्हें 'तुकतक' संज्ञा प्रदान की। राजस्थानी में श्री मोहन आलोक प्रथम कवि हैं जिन्होंने इसे अपनाया है। इसके लिए प्रयुक्त यह नाम 'डांखळा' भी उन्हीं का दिया हुआ है। सहज साधारण दृष्टिगत होने वाले जीवन के क्षण भी, काव्य-प्रयोजन के लिए उपयोगी हो सकते हैं और ऐसे हल्के-फुल्के से प्रतीत होने वाले ये वर्णन अपने उपहासपूर्ण कलेवर के कारण शिक्षित एवं अशिक्षितों में समान रूप से प्रिय हो सकते हैं, यही भाव प्रतिष्ठापित करने का दृष्टिकोण, इनके पीछे प्रमुख रूप से कार्यरत रहा है। 'जलमभोम', 'मधुमती', 'संघशक्ति' आदि पत्र-पत्रिकाओं में छुट-पुट रूप में कवि ने पर्याप्त संख्या में ये 'डांखळे' प्रकाशित करवाये हैं, कुछ उदाहरण देखिये—

क. ले ने 'र फासिया आसो गाव सूंटियो,
रीसाणों होर चाल्यो गोयरा ने भरूंटियो,
बात हुई आही
धाक लै 'र जाही
जद, बामणां री बहू रे भर लिन्यो चिंटियो[2]

ख. चोगले चमार रे आया जणां बराती
हळफळिज्योड़ो चमारी फिरे गाती गाती
चमार बोल्यो सायल पळ
जाग सालळ चावळ मळ
तावणी सी धी फूट मळ सबड़न करेगा गाती[3]

1. पैरोडी : श्री मुरलीधर व्यास, राजस्थान भारती, पृ० १४४, भाग-३, अंक ३-४, जुलाई १९५१
2. एक डांखळो : मोहन आलोक, गंगानगर पत्रिका, १५ अगस्त १९७१
3. तीन तुकतक : मोहन आलोक, भारत गणनायक, ११-१-१९६९

ग. ठाकर सा करै ववकरियै रो चक्कर।
केठा कुजात रै कांई उठ्यो मक्कर ॥
इस्सी करी वां मे,
पोपा'र होग्यो सामै
अधमर्या कर नाख्या मार मार टक्कर ।[1]

यहाँ जो पैना व्यंग्य किया गया है, वह द्रष्टव्य है । शोषण जब सहन शक्ति की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, तब विवश शोषित ही आक्रामक बन जाता है ।

इस प्रकार विषय एवं शैली वैविध्य की दृष्टि से परिपुष्ट बनी हास्य-व्यंग्य की यह काव्य-धारा, जहाँ हमें आश्वस्त करती है वहाँ स्तरीय हास्य की विरलता, राजस्थानी हास्य-व्यंग्य कवियों से यह अपेक्षा भी रखती है कि भविष्य में उनका सृजन लोक-मंच के आधार पर कम और स्तरीय अधिक होगा ।

❀

पद्य कथाएँ

वीरों के यशस्वी कार्यों का प्रशस्ति गान राजस्थानी साहित्य की परम्परा रही है। यहाँ के लोक-साहित्य एवं शिष्ट साहित्य में समान रूप से वीरों एवं वीरांगनाओं की अपूर्व वीरता, त्याग, कर्त्तव्यनिष्ठा और प्रण-पालन की दृढ़ता का गुणगान हुआ है। अंग्रेजों की अधीनता से पूर्व तक यहाँ शौर्य, बलिदान, आत्म-त्याग एवं जौहर की जो शानदार परम्परा रही उसकी अनुगूंज सामयिक साहित्य में बराबर सुनने को मिलती है। आधुनिक काल में स्थितियाँ बदल जाने के कारण वीर काव्य की यह परम्परा अक्षुण्ण तो नहीं बनी रही, किन्तु उसका एकान्तिक अभाव भी रहा हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। एक ओर जहाँ पारम्परिक शैली के काव्य रचयिता अब भी पुराने साजो-सामान के साथ वीरता की बिड़दावलियाँ बखान रहे थे, वहाँ नवयुग के अनुरूप इस भावना को श्री मेघराज 'मुकुल' की 'सैनाणी'[1] में सर्वप्रथम स्वर मिले।

दीनाजपुर के राजस्थानी साहित्य सम्मेलन (वि० सं० २०००) में सुरीले कंठ से गायी गयी 'मुकुल' की इस कविता ने एकदम सहस्र-सहस्र जनों का ध्यान अपनी मातृभाषा राजस्थानी की ओर खींचा और सही माने में राजस्थानी कविता को मंच पर ला खड़ा करने का कार्य भी इसी कविता ने किया। इसके पश्चात् तो राजस्थानी की मंचीय कविता दिनों-दिन लोकप्रियता की सीढ़ियाँ पार करने लगी। समय के अनुसार यह मंचीय कविता जनरुचि के अनुरूप वेश परिवर्तन करती हुई एक लम्बे अर्से तक राजस्थानी श्रोता के मन-मस्तिष्क पर छाई रही। सर्वप्रथम इसने पद्य कथाओं के सहारे अपना व्यापार शुरू किया। 'सैनाणी' की इस अप्रत्याशित लोकप्रियता ने एक बार तो उस समय के प्रायः सभी राजस्थानी कवियों को न्यूनाधिक रूप में पद्य कथाओं की इस दुनियाँ में ला खड़ा किया। और तो और श्री कन्हैयालाल सेठिया जैसे गंभीर प्रकृति और परिष्कृत रुचि के कवि भी इस प्रवाह में 'पातळ अर पीथळ'[2] की रचना करने को प्रेरित हुए। 'सैनाणी' के पश्चात् इस कविता ने भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की और इन दोनों कविताओं की सफलता और लोकप्रियता ने अत्यधिक पद्य कथाओं के सर्जन के प्रेरक का कार्य किया।

यह सही है कि 'सैनाणी' और 'पातळ अर पीथळ' की सफलता एवं लोकप्रियता राजस्थानी में पद्य कथाओं के सर्जन का एक बहुत बड़ा कारण रही है, किन्तु इसे ही केवल एकमेव कारण नहीं माना जा सकता। यह तो युग की आवश्यकता थी, जिसने 'सैनाणी' को यह लोकप्रियता दी और अन्य-अन्य

1. सैनाणी री जागी जोत : श्री मेघराज 'मुकुल,' पृ० सं० १
2. मळगोजो : सं० श्रीमन्तकुमार व्यास, पृ० सं० १७ (द्वितीय संस्करण)

पद्य कथाओं को भी निरन्तर प्रकाश में आते रहने देने के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान किया। देश की स्वतन्त्रता का नशा इस समय पूरे जोर पर था और लोगों के उत्साह ने अपने अतीत के गौरवशाली पृष्ठों के गीत गुनगुनाने का अवसर कवियों को दिया। यह उत्साह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के कुछ वर्षों तक भी बना रहा और लोग उसी उत्साह से इन पद्य कथाओं का स्वागत करते रहे। कालान्तर में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय बनाये गये सुख और समृद्धि के काल्पनिक चित्रों के धुंधलाते प्रभाव के साथ-साथ पद्य कथाओं का आकर्षण भी कम होता गया, फिर भी इनका सर्जन एकदम रुक नहीं गया। कवियों की इस मान्यता—"वीरां रो प्रसस्ति गान सबल राष्ट्रां री जीवंती जात्यां रो गुण हुवै, सभाव हुवै"[1]—ने पद्य कथाओं के सर्जन-पथ को एकदम अवरुद्ध नहीं होने दिया।

प्रारम्भ में पद्य कथाओं के विषय इतिहास एवं वीरों के लोक प्रसिद्ध आख्यानों से ही सम्बन्धित रहे, किन्तु धीरे-धीरे पौराणिक प्रसंगों, लौकिक प्रेम-कथाओं एवं अन्य लौकिक प्रवादों को लेकर भी पद्य कथाएं लिखी जाने लगी। यद्यपि प्राधान्य अब भी ऐतिहासिक प्रसंगों के आधार पर लिखी गयी पद्य कथाओं का ही रहा। इन पद्य कथाओं के लेखन के पीछे कवियों का दृष्टिकोण मुख्यतः घटनाओं को सरस एवं सरल रूप में प्रस्तुत करने का रहा। फलतः इनमें इतिवृत्त प्रधान हो उठा और काव्यत्व गौण। यही कारण है कि अधिकांश पद्य कथाओं में घटनाओं की स्थूल अभिव्यक्ति भर हुई है। कवि लोगों ने न तो इन घटना-प्रधान कविताओं को युग-चिन्तन के सन्दर्भ में प्रस्तुत करने की ओर ही ध्यान दिया है और न ही कथा के मार्मिक स्थलों के अपेक्षित विस्तार एवं गहराई से अंकन में ही रुचि ली है। जिन किन्हीं कवियों ने उपर्युक्त दोनों बातों की ओर थोड़ा भी ध्यान दिया है, उनकी कविताएँ स्वतः ही अन्य पद्य कथाओं की अपेक्षा मार्मिक एवं प्रभावी बन पड़ी हैं। इस दृष्टि से स्व० गिरधारीसिंह पड़िहार की 'मेघनाद'[2], 'पुरु'[3] एवं 'पातळ, अकबर, मान'[4] तथा श्री करणीदान बारहठ की 'देशूंटो'[5] आदि कविताएँ उल्लेखनीय बन पड़ी हैं। 'मेघनाद' में मेघनाद के ओजस्वी एवं स्वाभिमानी व्यक्तित्व को उभारने का शानदार प्रयास हुआ है, जो उसके पारम्परिक रूप से थोड़ा भिन्न होते हुए भी पाठक को भाता है, जबकि विभीषण को इसके विपरीत कायर एवं देशद्रोही के रूप में चित्रित किया गया है और अपने देश के साथ गद्दारी करने के लिए उसे खूब आड़े हाथों लिया गया है। इसी भांति 'पातळ, अकबर, मान' कविता में महाराणा प्रताप के कार्य को पर्याप्त महत्त्व देते हुए एवं उनके व्यक्तित्व का भव्य चित्र अंकित करते हुए भी, उनके प्रतिपक्षी अकबर के चरित्रांकन में भी कवि ने उसी उदात्त मनोवृत्ति का परिचय दिया है। फलतः अकबर यहां हिन्दू-द्वेषी एवं सत्ता-लोलुप के रूप में चित्रित न होकर सहज मानवीय गुणों से युक्त अंकित हुआ है। अपने प्रतिपक्षी महाराणा के प्रति उसके हृदय में पर्याप्त आदर के भाव हैं और वह अपने राज्य-विस्तार की अपेक्षा भारतवर्ष का एकीकरण और हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय चाहता है, ताकि धर्म के नाम पर आये दिन किये जाने वाले भीषण अत्याचारों एवं मानवीय संहार से बचा जा सके—

---

१. दो शब्द, जागती जोतां : गिरधारीसिंह पड़िहार, पृ० सं० १, प्र० का०–१९६० ई०
२. जागती जोतां : पृ० सं० १
३. वही, पृ० सं० २७
४. वही, पृ० सं० ४९
५. भरभर-कथा : करणीदान बारहठ, पृ० सं० १४, प्र० का०—१९६४ ई०

परदेसी मुगल हुवै देसी,
भारत नै एक कियो चावा ।
पातळ अकबर नयों मान मिटै,
सै एक डोर में बंध ज्यावां ।
म्हांरा तो प्राण अडिक है,
कुण जाणै वो दिन कद आसी ।
जद मिनख मिनख नै समझैलो,
हरियळ केसरिया रळ जासी ।[1]

इस प्रकार कवि के चिन्तन का सुलझापन और दृष्टि की यह उदारता इस साधारण पद्य कथा को भी विचारोत्तेजक बना देती है ।

श्री पड़िहार की उपर्युक्त कविता में हिन्दू-मुस्लिम एकता को लेकर जो उदार एवं समन्वय-वादी विचार व्यक्त हुए हैं, उनके पीछे वर्तमान चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है । वर्तमान चिन्तन श्री पड़िहार की कविताओं की अपेक्षा श्री चारणीदान बारहठ की 'देशूंठो' जैसी कविताओं में और भी अधिक मुखरित हुआ है; जहाँ शासक एवं शासितों के आपसी सम्बन्ध एवं प्रजातन्त्र की अच्छाइयों-बुराइयों को लेकर काफी विस्तार से विचार हुआ है । इसके अतिरिक्त भी मानव-समता की वकालत, नारी को प्रतिष्ठित पद पर आसीन करने का प्रयास और निर्दोष जीवन-पद्धति एवं समाज-व्यवस्था में ही इस भूलोक पर स्वर्ग की कल्पना आदि बातें भी स्पष्टतः वर्तमान युग के चिन्तन की ही प्रतिध्वनि हैं । वस्तुतः ऐसी कविताएँ सामान्य पद्य कथाओं की अपेक्षा काफी सशक्त बनी हैं – जहाँ पुरातन को नूतन के सन्दर्भ में पुनर्व्याख्यायित किया गया है ।

कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान और उनका अपेक्षित गहराई एवं विस्तार के साथ वर्णन बहुत ही कम पद्य कथाओं में देखने को मिलता है । डा० मनोहर शर्मा ने अवश्य ही अपनी पद्य कथाओं में स्थूल इतिवृत्त की अपेक्षा सरस वर्णनों और प्रकृति के मोहक चित्रों को अंकित करने में रुचि ली है, किन्तु डा० शर्मा की सबसे बड़ी सीमा यही है कि वे कहीं तो कथा-प्रवाह में अनावश्यक रूप से माया-ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा के रूपक बांधने लगते हैं और अधिकांश में कदाचित् शाब्दिक हेर-फेर के साथ उपमा और उत्प्रेक्षा के एक सीमित दायरे में ही चक्कर लगाते रहते हैं । फलतः पुनरावृत्ति और पिष्ट-पेषण उनकी कविता के सौन्दर्य और चमत्कार को समाप्त कर देते हैं और रूढ़ और पारम्परिक उपमानों का प्रयोग उनकी कविता को मशीनी उत्पादन के समान बेजान बना देते हैं । उनकी कविताओं में मन, सौरम, मुधरस, इमरत आदि कुछ-एक शब्दों का शब्दजाल-सा बुना रहता है । उदाहरणार्थ केवल 'मन' को लेकर कदाचित् हेर-फेर के साथ–मन को सूरज, मन री सीर, मन रो मेवड़, मन री ओर, मन री वाडी, मन की सौरम, मन की तीमा, मन मन की सीमा – जैसे प्रयोग अनेकों बार हुए हैं और लगभग यही स्थिति अन्य उपमानों के साथ भी रही है ।

इसकी अपेक्षा डा० गिरधारीसिंह पड़िहार की पद्य कथाओं में संवादों की सजगता एवं चरित्र-चित्रण और पात्रों की स्वभावोक्ति ने उन्हें पर्याप्त रोचक बना दिया है । इस दृष्टि से उनकी 'मेघनाद'

---

1. पातळ, अकबर, मान : श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, जागती जोत, पृ०सं० ६५

एवं 'सिसपाळ'[1] जैसी कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय बन पड़ी हैं। पात्रों के वार्तालाप में भाषा के ठेठ प्रवाह और सहज मिठास ने उन्हें बड़ा सरस बना दिया है। 'मेघनाद' कविता का एक प्रसंग द्रष्टव्य है। मेघनाद के अतुल पराक्रम के सामने राम की संपूर्ण सेना संत्रस्त हो उठती है। ऐसे समय में लक्ष्मण रणक्षेत्र में आते हैं और मेघनाद को समझौते की नेक सलाह देते हैं तथा सीता को लौटा देने की बात करते हुए उसे कई तरह से समझाने का प्रयास करते हैं—

> ओ दंभ घणो दुख देवेलो, जग नगरो नेड़ी आज्यासी ।
> रावण रा करम इसा काळा, भाखी लंका नै साज्यासी ।।[2]

लक्ष्मण के इतना कहते ही मेघनाद ने जो तीखा एवं सधा हुआ जवाब दिया है, वह देखते ही बनता है –

> लंकेस कुँवर बोल्यो "लिछमण, थपूं करम धरम नै छाणे है ।
> जुलमा री जड़ तैं रोपी है, आखी दुनियां जाणे है ।।
> ....
> तूं सुरपणखा री नाक काट, लकारी स्यान गमाई है ।
> जद सीता लाज अवध वाळी, बदळै में लंका आई है" ।[3]

इसी तरह 'सिसपाळ' में भी पात्रों के मनोभावों की सहज एवं सशक्त अभिव्यक्ति करने वाले संवाद श्री पड़िहार के कवि की एक विशिष्ट छाप पाठकों के हृदय पर छोड़ जाते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का प्रसंग है। दरबार में सभी बड़े-बड़े राजा, महाराजा आसीन हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्वोच्च आसन पर किसे बैठाया जाये। आपसी विचार विमर्श के पश्चात् श्रीकृष्ण का नाम सामने आता है जिसे प्राय: सभी राजा लोग स्वीकारते हैं, किन्तु श्री कृष्ण से द्वेष रखने वाला शिशुपाल श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही एकदम उत्तेजित हो उठता है। उस समय उसके ईर्ष्यालु हृदय से जो स्वर फूटे, उसे पड़िहार कितनी कुशलता से व्यक्त करने में सफल हुए हैं –

> आनी थी हूयो किसै दिन रो, ग्वाळो है गायां चारणीयां ।
> वनरावन रो नट नाचणीयो, वृज री मरजाद बिगाड़णीयो ।।
> बालकपण री आ बाण पड़ी, चोरी कर भागण लाग्यो है ।
> कुण मानै मोटो सूरवीर, हैं सतरा बार भगायो है ।।[4]

श्री मेघराज 'मुकुल' की परवर्ती पद्य कथाओं में भी इतिवृत्त की अपेक्षा मार्मिक प्रसंगों के अपेक्षित विस्तार और पात्रों के अन्तर्जगत की हलचलों को चित्रित करने में एक सीमा तक सतर्कता का परिचय दिया गया है। फलतः उनकी 'कोडमदे' एवं 'सता रो स्याग', जैसी पद्य कथाएँ अधिक सशक्त एवं सरस बन पड़ी है। 'सता रो स्याग' में महाराणा सांगा अपने वार्द्धक्य में संबंध से राजकुमार चूण्डा के लिए शादी का नारियल माने वाले पुरोहित से जो मर्म की मजाक करते हैं, वह पूर्ण चरित

---

1. जागती जोतां : पृ० सं० १४
2. मेघनाद, जागती जोतां, पृ० सं० ४
3. वही, पृ० सं० ४
4. सिसपाळ, जागतीजोतां, पृ० सं० २०

राजदरबार के राग-रंग, मादकता एवं विलासिता से आपूर्ण वातावरण के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही अर्थ पूर्ण बन पड़ी है। इसी प्रकार 'चंवरी' में शादी से कुछ पूर्व के क्षणों में नववधू की मनःस्थिति का कितना स्वाभाविक अंकन हुआ है—

> चंचल चित्त धीरज के पंग गूं, मेहदी उतार के पान गड्यो।
> बिछिया बांध्या पहली पिछाण, जद मिलन रात रो चाव चढ्यो।
> हिंगळू में लाज लिपट बैठी, नैणां में काजळ सरमायो।
> बैणा में घुलग्या मधुर गीत, जद पाबू तोरण पर आयो।[1]

यहाँ तक राजस्थानी पद्य कथाओं की सामान्य विशेषताओं पर विचार हुआ है, आगे विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उन पर कथंचित् विस्तार से विचार करेंगे।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से हम राजस्थानी की इन पद्य कथाओं को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—क. ऐतिहासिक ख. पौराणिक एवं ग. लौकिक प्रेम कथाओं तथा लोक प्रसिद्ध आख्यानों पर आधारित। इन पद्य कथाओं में सर्वाधिक संख्या चूंकि ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित पद्य कथाओं की रही है, अतः पहले इन्हीं पर विचार करना ठीक रहेगा।

ऐतिहासिक पद्य-कथाओं में इतिहास-प्रसिद्ध वीरों का चरित-गान हुआ है तथा उनमें उनके शौर्य, कर्त्तव्यपरायणता, स्वामिभक्ति, आत्म-त्याग, स्वाभिमान एवं धर्मनिष्ठा आदि गुणों को दर्शाने वाली घटनाओं की अभिव्यक्ति विशेष रूप से हुई है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन ऐतिहासिक पद्य कथाओं में अधिकांश का सम्बन्ध राजस्थान के ही इतिहास से मुख्य रूप से रहा है और उनमें भी कतिपय अति प्रसिद्ध प्रसंगों को बार-बार दुहराया गया है। पाबूजी के प्रणपालन और अपूर्व शौर्य की घटना और राजकुमार चूण्डा के विलक्षण त्याग के प्रसंग को लेकर कई रचनाएँ एक साथ उठी हैं।[2] वैसे मुख्य ऐतिहासिक प्रसंगों के आधार पर लिखी गई पद्य कथाओं में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं - श्री मेघराज मुकुल' की 'सैनाणी', 'कोडमदे'[3] एवं 'हिरोल'[4], श्री कन्हैयालाल सेठिया की 'पातळ अर पीथळ', डा० मनोहर

---

१. चंवरी, सैनाणी री जागी जोत, पृ० सं० ३१

२. क. पाबू जी के प्रणपालन से संबंधित पद्य कथाएँ —
   (i) पाबूजी राठौड़ : डा० मनोहर शर्मा, गीतकथा : डा० मनोहर शर्मा, पृ० सं० ११
   (ii) चंवरी, श्री मेघराज 'मुकुल', सैनाणी री जागी जोत, पृ० सं० ३१
   (iii) पाबूजी : श्री गिरधारीसिंह पड़िहार, जागती जोत, पृ० सं० ३८

   ख. राजकुमार चण्ड के आत्म-त्याग से संबन्धित पद्य कथाएँ :—
   (i) सत्ता रो त्याग : श्री मेघराज 'मुकुल', सैनाणी री जागी जोत, पृ० सं० २६
   (ii) मेवाड़ो चण्ड : श्रीमती रामप्यारी 'भाटी', चारगाथा : श्रीमती रामप्यारी भाटी, पृ०सं० २०
   (iii) चूण्डाजी : डा० मनोहर शर्मा, गीतकथा, पृ० सं० १०

३. सैनाणी री जागी जोत, पृ० सं० ७

४. वही, पृ० सं० ४

शर्मा की 'सुजानसिंह शेखावत'[1], 'बालूजी चंपावत'[2], 'मानसिंह झाला'[3], श्री गिरधारीसिंह पड़िहार की 'घूड़कोट'[4], एवं 'डूंगजी ज्वार जी'[5], श्री सूरज सोलंकी की 'जूनी बात मेणोरो मोल'[6] एवं 'जूनी बात लोहियाणी कंवर री'[7] तथा श्री करणीदान बारहठ की 'दोवड़ा आंसू'[8], 'वाह शाहणी'[9] एवं 'महामाया'[10] आदि।

राजपूती इतिहास से भिन्न भी युग के स्वाभिमानी, निडर एवं देश-प्रेम से ओत-प्रोत व्यक्तित्व[11], चाणक्य के हठी एवं कूटनीतिक चरित्र[12], गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों के साहस और दृढ़ता युक्त आचरण[13] तथा रानी दुर्गावती के स्वातंत्र्य प्रेमी स्वभाव[14] ने पद्य कथा लेखकों को आकर्षित किया है। इन इतिहास प्रसिद्ध चरित्रों के त्याग, शौर्य बलिदान और स्वाभिमान की गाथा उन्होंने उसी उत्साह से गाई है, जिस उत्साह से राजपूती इतिहास के वीरों का गुणगान किया है। राजपूती इतिहास या राजपूतेतर इतिहास के इन प्रसिद्ध प्रसंगों के चयन के पीछे सामान्य वीर पूजा की भावना और अपने वैभवशाली अतीत के प्रति गौरवानुभूति के भाव ही मुख्य रूप से प्रेरक रहे हैं।

ऐतिहासिक प्रसंगों की अपेक्षा पौराणिक घटना प्रसंगों पर लिखी गयी पद्य कथाओं की संख्या बहुत सीमित है और उनके लेखन का उद्देश्य भी वीर-पूजा के भाव को प्रोत्साहित करना या अपने अतीत के प्रति स्वाभिमान को जागृत करना उतना नहीं है, जितना कि सामयिक चिन्तन के पक्ष में उनकी पुनर्व्याख्या और उन पौराणिक प्रसंगों के बदलते दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति। इस दृष्टि से कतिपय उल्लेखनीय पद्य कथाएँ हैं—श्री गिरधारीसिंह पड़िहार की 'मेघनाद' एवं 'सिंगनाळ' तथा श्री करणीदान बारहठ की 'देशूठो'।

पौराणिक प्रसंगों पर लिखी गयी पद्य कथाओं की अपेक्षा लोक प्रसिद्ध आख्यानों एवं लोक-प्रवादों के आधार पर लिखी गयी पद्य कथाओं की संख्या अधिक रही है। इनमें एक ओर वीर चरित्रों से सम्बद्ध किंवदन्तियों को आधार बनाया गया है तो दूसरी ओर कुछ अति प्रसिद्ध प्रणय-गाथाओं

---

१. गीत कथा, पृ० सं० १
२. वही, पृ० सं० २०
३. वही, पृ० सं० ५४
४. जागती जोत, पृ० सं० ७८
५. वही, पृ० सं० ९३
६. जूनी वातां : सूरज सोलंकी, पृ० सं० १८
७. वही पृ० सं० ३५
८. झरमर कन्या : करणीदान बारहठ, पृ० सं० ७
९. वही, पृ० सं० २२
१०. वही, पृ० सं० २७
११. पुरु. जागती जोत, पृ० सं० २१
१२. चाणक्य री चोटी : चार गाथा, पृ० सं० ३६
१३. गोविन्द गुरु रा टाबरिया, जागती जोत, पृ० सं० ९६
१४. दुर्गावती, मेवाड़ री जागती जोत, पृ० सं० १३

को उठाया गया है। प्रथम प्रकार की रचनाओं के पात्र तो ऐतिहासिक हैं, किन्तु उनसे संबंधित जिन प्रसंगों को उठाया गया है, उनमें समाहित अलौकिकता के अंश के कारण वे विश्वसनीय एवं इतिहास सम्मत नहीं रह गये हैं। वैसे ये किंवदन्तियाँ उन चरित्र नायकों के प्रति रही हुई लोकभावना को अवश्य व्यक्त करती हैं। ऐसी पद्य कथाओं में कतिपय उल्लेखनीय रचनाएँ हैं—'जगदेव पंवार'[1], 'सांगो गोड़'[2], 'जूनी वात आपदकाल में राज रक्षा री'[3] आदि। 'सांगोगोड़' में मृत सांगा कविराजा ईसरदास की कृपा से पुनर्जीवित हुआ चित्रित हुआ है, तो 'जूनी वात आपदकाल में राज रक्षा री' में अकबर के शिविर में महाराणा प्रताप और एक वृद्ध राजपूत सरदार के अकबर के प्राण प्राप्त करने के उद्देश्य से जाने और पीरों के प्रताप से अकबर के जीवित बच जाने की चामत्कारिक घटना का वर्णन हुआ है।

वीरों की शौर्यभरी गाथाओं के समान ही युगल प्रेमियों के निर्मल, निश्छल प्रेम की अनेक गाथाओं को यहाँ के लोक मानस ने बड़े स्नेह से अपने अन्तर में संजो रखा है। ढोला-मरवण, जेठवा-ऊजळी, मोमळ-राणों, सोरठ-बींझो आदि की प्रेम कथाएँ यहाँ बहुत ही अधिक लोकप्रिय हैं। इनकी इसी लोकप्रियता से प्रेरित होकर आधुनिक युग के पद्य कथाकारों ने वीर गाथाओं के पश्चात् इन्हें ही अपनी पद्य कथाओं का आधार बनाया। इस दिशा में डा० मनोहर शर्मा ने विशेष रुचि दिखलाई है। उन्होंने इन वार्ताओं को गेय शैली में अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी ऊजळी[4], मोमल[5], सोहणी,[6] भ्रिणान्दे[7] आदि ऐसी कतिपय उल्लेखनीय पद्य कथाएँ हैं। डा० शर्मा ने इनके मूल कथ्य में परिवर्तन न करते हुए भी अपने सात्विक चिन्तन के अनुरूप इन अमर प्रेमियों के प्रेम को वासनात्मक से ऊपर तैरते निर्मल पंकज के समान चित्रित किया है। जहाँ लोक प्रचलित इन प्रेम कथाओं में प्रेम की उन्मुक्त स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई है, वहाँ उनमें शारीरिक आकर्षण और स्थूल वासना के स्वर भी काफी मुखरित रहे हैं, किन्तु डा० शर्मा ऐसे स्थलों को कुशलता से बचा गये हैं। एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

ऊजळी की प्रसिद्ध कथा में जहाँ ऊजळी का अपने यौवन की उष्मा से पथिक की शीतलता एवं तज्जन्य मूर्च्छा को दूर करने का प्रसंग नाटकीय ढंग से आता है, वहाँ डा० शर्मा ने प्रारम्भ में ऊजळी एवं जेठवा के परस्पर आकर्षण का वर्णन किया है और पश्चात् वन में साथ-साथ रहते हुए उनके स्वाभाविक प्रेम को विकसित होते हुए चित्रित किया है—

बन बन फिरती धेन चरावै, सार करै मनधार
आप बढावू हळवै हायां साज करै सिणगार
दोनूं बन में गावै
निरखी सरसावै सुण रस रागनी
अम्बर रंग रानै।[8]

१. गीत कथा, पृ० सं० २८
२. वही, पृ० सं० ३५
३. जूनीवातां, पृ० सं० २८
४. मरुवाणी, पृ० सं० ७, वर्ष २, अंक-१
५. ओळमों, पृ० सं० २२, वर्ष १, मास २०११
६. मरुवाणी, पृ० सं० १०, वर्ष ३, अंक-१
७. वही, पृ० सं० १३, वर्ष १, अंक-५
८. ऊजळी, मरुवाणी, पृ० सं० ८, वर्ष २, अंक-६

प्रथम मिलन में ही शारीरिक समर्पण की बात को वे टाल गये हैं।

इस प्रकार 'सेनाणी' की वीर गाथा से चली राजस्थानी पद्य कथाएँ पौराणिक प्रसंगों, लोक प्रसिद्ध आख्यानों और प्रसिद्ध प्रेमगाथाओं तक की यात्रा में मुख्यतः इतिवृत्त- प्रधान ही रही हैं और राजस्थान का गौरवपूर्ण अतीत ही इन पद्य कथाकारों के मन को विशेषरूप से भाया है। वैसे यदा-कदा इनमें इतर भी श्री नरूकर्ता जैसे एकाध कवि ने पद्य कथा शीर्षकान्तर्गत लोक प्रचलित कतिपय रोचक बातों को भी गुनगुनाया है[1] किन्तु उनकी संख्या नगण्य है और वे ऐतिहासिक एवं पौराणिक या कि लोक प्रसिद्ध प्रेमगाथाओं की तरह अपना कोई विशिष्ट रूप बनाने में सफल नहीं हुई हैं।

⊛

---

१. श्री नाथूराम खड्गावत ने 'मरुवाणी' में समय-समय पर निम्नलिखित लोक प्रसिद्ध बातों को पद्यबद्ध किया है—

क. अगूं अगूं भीजै कामळी लूं लूं भारी होय, मरुवाणी, पृ० सं० ३४, वर्ष १, अंक-४

ख. भाइ भाइ पै ऐंनी नार। फिरत कुड़ो तो मूंला मार। मरुवाणी, पृ० सं० ३८, वर्ष १, अंक ५

ग. इसी बेटी बाइड मारे, मामो में उठ मुठरो मारे, मरुवाणी, पृ० सं० ६, वर्ष १, अंक ६

भक्ति काव्य

प्राचीन राजस्थानी साहित्य जहाँ अपने विपुल वीर साहित्य के लिए प्रसिद्ध है, वहाँ उसका धार्मिक एवं भक्ति साहित्य भी पर्याप्त रूपेण समृद्ध रहा है। उसमें एक ओर जैन कवियों की शानदार परम्परा रही है तो दूसरी ओर सन्त कवियों का प्रशंसनीय योगदान रहा है और तीसरी ओर भक्त कवियों की पौराणिक एवं धार्मिक प्रसगों तथा ईश्वर भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ आज भी अविस्मरणीय बनी हुई हैं। पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुकमणी री', सांयां झूला का 'नागदमण', माधोदास का 'रामरासो', जाम्भोजी, जसनाथजी तथा उनके शिष्यों की वाणी, दादू, रज्जब, बीगोजी आदि सन्त कवियों का निर्गुण की उपासना में तल्लीन स्वर और मीरां का भाव विह्वल कर देने वाला भक्ति काव्य राजस्थानी भक्ति साहित्य की ही नहीं, पूरे भक्ति साहित्य का अनमोल खजाना है। उधर शक्ति की स्तुति में रची गयी सैकड़ों कवियों की सहस्रों 'चरजाएँ' भी राजस्थानी भक्ति काव्य की एक विशिष्ट उपलब्धि बनी हुई हैं।

राजस्थानी के आधुनिक काल में भक्ति-सरिता उस उद्दाम वेग से तो प्रवाहित नहीं हो रही है, फिर भी उसका प्रवाह सर्वथा अवरुद्ध भी नहीं हुआ है। जैन कवि अब भी अपनी आराधना में लगे हुए हैं, तो सन्तों की वाणी भी यदा-कदा निर्गुण के गीत गुनगुनाती सुनाई पड़ जाती है। इसी अवधि में धार्मिक एवं पौराणिक प्रसंगों को लेकर भी प्रबन्धों की रचना हुई है और यदा-कदा मीरां की भाँति ही तन्मय होकर अपने स्वामी के प्रति पूर्णतः समर्पित भाव से भगवद् भजन भी गाये गये हैं। किन्तु, इतना सब कुछ होते हुए भी वर्तमान काल का भक्ति काव्य परिमाण और श्रेष्ठता उभय दृष्टियों से अपने पूर्ववर्ती भक्ति साहित्य से काफी पीछे है।

आधुनिक राजस्थानी धार्मिक साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन और उन्हें आचरण में अपनाने की प्रेरणा देने वाली उपदेशप्रद रचनाओं से सम्बन्धित रहा है। ऐसी रचनाओं में विह्वल भक्त के नहीं, अपितु ज्ञानी ज्ञान गरिमा से साधारण जनों को उद्बोधित कर उपकृत करने वाले आचार्य के ही दर्शन होते हैं। ऐसी स्थिति में इन रचनाओं पर भक्तिकाव्यान्तर्गत विचार न कर उनका विवेचन नीतिकाव्यान्तर्गत करना समीचीन समझा गया है।

राजस्थानी के आधुनिककालिक जैन भक्ति काव्य पर विचार करने से पूर्व जैन भक्त कवियों के भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण और मान्यताओं का स्पष्ट हो जाना आवश्यक है। "जैन दर्शन की मान्यता है, आत्मा स्वयं अपने ही उपक्रमों से पवित्र और कलुषित होती है। कोई विराट् शक्ति इस विषय में उसे अनुगृहीत नहीं करती। फिर भी साधक की अन्तःशुद्धि के लिए चार शरण और पांच परम इष्ट

आराध्य रूप होते हैं।"[1] वह इन्हें ही अपना आदर्श मानकर स्वयं उसी मुक्तावस्था को प्राप्त करने के लिए उनकी आराधना करता है। ऐसी स्थिति मे उसके काव्य में कर्तृत्ववाद की भूमि पर गढ़े पूर्णतः समर्पित भक्त जैसी भावों की वह प्रगाढ़ता नहीं आ पाती जो किसी भी भावुक हृदय भक्त को अपने में समग्र रूप से बांध ले। स्वयं जैन मनीषी अपनी भक्ति सम्बन्धी इस सीमा को पहिचानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में उनकी उपासना पद्धति में इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है।[2] "जैन भक्तिवाद के अरिहन्त और सिद्ध ये दो ही मुख्य आधार है। अन्य दो शरण धर्म और साधु तथा तीन इष्ट आचार्य, उपाध्याय और मुनि हैं।—गुरु का स्थान जैसे कबीर की वाणी में भगवत् स्वरूप बना है, उससे कहीं अधिक जैन धर्म में उसकी गरिमा है।"[3] भक्ति निदर्शन के भावना-परक और बौद्धिक प्रकार में यहाँ द्वितीय पक्ष ही प्रधान रहा है, किन्तु फिर भी कहीं-कहीं भावनात्मक स्तर पर भी उसकी आत्माभिव्यक्ति श्लाघनीय बन पड़ी है—

मोहि स्वाम संभारो, मोहि स्वाम।
स्वाम संभारो, नाथ संभारो, मैं शरणागत थारो।
भगवन ! मति रे बिसारो, मोहि स्वाम संभारो।
पल-पल छिन-छिन घड़ी-घड़ी निश-दिन ध्याऊं ध्यान तुम्हारो।
सर्वदर्शी समदर्शी तुम हो, आन्तर भाव निहारो।।
सहज रूप कर करुणा, शरणागत रा कारज सारो।
भव सागर में नैया म्हारी, अब तो पार उतारो।।[4]

परन्तु यह स्थिति अधिकांश में नहीं है, बहुत से स्थलों पर उसके समर्पित भावुक हृदय के साथ-साथ उसका ज्ञानवान मस्तिष्क भी सक्रिय रहा है—

प्रभु म्हारे मन-मंदिर मे पधारो,
करूं स्वागत गान गुणा रो।
करूं पल-पल पूजन प्यारो।।
चिन्मय ने पाषाण बनाऊं ? नहिं मैं जड़ पूजा रो।
अगर-तगर, चन्दन वपु चरचूं ? कण-कण सुरभित थारो।।
नहिं फल कुसुम की भेंट चढ़ाऊं, मैं भाव भेंट करणारो।
आप अमल अविकार प्रभूजी (तो) स्नान कराऊं क्यारो।।

---

१. सम्पादकीय, श्री कालू उपदेश वाटिका : सम्पादक मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम', पृ० सं० १०
२. "यह सच है कि कर्तृत्ववाद की भूमि पर आत्म-समर्पण की अनुभूतियों को निखरने का जितना अवकाश है उतना व्यक्तिपरक ईश्वरता की भूमि पर नहीं हो सकता और न वह अपेक्षित ही रहता है। वहां व्यक्ति स्वयं में पूर्ण है। अपने पुरुषार्थ से वह सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। वह कृतकृत्यता की अवस्था है। वहां करना कुछ भी शेष नहीं रह जाता, इसलिए कर्तृत्ववाद भी अपेक्षित नहीं रह जाता।"
श्री कालू उपदेश वाटिका, आचार्य तुलसी, पृ० सं० ११
३. वही, पृ० सं० ११
४. वही, पृ० सं० १२

चरित्र के वीरता के प्रति सहज आकर्षण भाव को ही व्यक्त करती हैं। चरजाओं में भक्त कवियों ने उपास्य को दो रूपों में देखा है—प्रथम, मंगल-कारणी देवी के रूप में एवं द्वितीय, शत्रु-संहारिका शक्ति के रूप में। भक्तों की इस दृष्टि भिन्नता के कारण ही चरजाओं के दो रूप प्राप्त हैं—'सिगाऊ' एवं 'घाडाऊ'। "सिगाऊ चरजाओं में भक्त अपनी आराध्या के चरित्र का वर्णन और प्रशंसा करता है। घाडाऊ चरजाओं में भक्त के दैन्य भावों का प्राधान्य होता है तथा उसकी देवी को ममत्व भाव से या अपनत्व की भावना से उलाहना देते हुए शक्ति का आह्वान किये जाने की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है।"[1] प्राचीनकाल में जहाँ अनेकों कवियों ने सहस्रों चरजाओं की रचना कर शक्ति के प्रति अपनी आस्था एवं अपनी भक्ति भावना व्यंजित की है, वहाँ आधुनिक काल में भी 'करणी जी' आदि कुछ विशिष्ट शक्ति अवतारों की स्मृति में कवि लोगों की लेखनी गतिमान रही है—

> सुण अम्बा ए ! म्हारी मैं हूँ रे चरणां रो थांरो दास ।
> ऊँचों देवल आपरो ए अम्बा, विराजै आवड़ जी थारे वास ।
> नेड़िजी नेड़ा वसे ए अम्बा, सांचो है थारोड़ो विश्वास ।
> अब देसाणे आवमां ए अम्बा, छोडां नहीं थारा मंद री छांव ।
> प्रेम भाव पग पूजमां ए अम्बा, रहमां थों देवी रा चरणा माय ।
> आया कदमा आपरे ए अम्बा, जोवत हा दरशण री थांरी वाट ।
> मिट्या पाप पद परसता ए अम्बा, होसी रे घर घर में आनन्द ठाट ।
> सुण वीस हृती सिध वाहनी ए अंबा, पडियो हूँ चरणां में थारे पास ।
> आप कृपा आछी करी ए अम्बा, पुरी है 'फता' री मोटी आस ।[2]

आधुनिक काल में अधिकांश में सिगाऊ चरजाओं की ही रचनाएं हुई हैं। इस दृष्टि से कतिपय अन्य उल्लेखनीय कृतियां हैं—श्री हिंगलाज दान कविया कृत मेहाई महिमा', रावबहादुर राजा फतेसिंह कृत 'करनी करुणाकर बावनी' एवं श्री शक्तिदान कविया कृत 'करनीयश-प्रकाश'।

निष्कर्षतः राजस्थानी का आधुनिककालीन भक्ति साहित्य अपने पूर्ववर्ती भक्ति साहित्य की ऊँचाइयों को छूने में असमर्थ रहा है। इसका मुख्य कारण प्रथम तो भक्ति साहित्य में नवीनता का अभाव एवं द्वितीय, बहुत से भक्त कवियों का ध्यान मौलिक सर्जन की अपेक्षा अनुवादों में लगा रहना है। अनुवादों की इस परम्परा का सूत्रपात महाराज चतुरसिंह जी की रचनाओं से होता है। उन्होंने 'महिम्न स्तोत्र' और 'चन्द्रशेखर स्तोत्रम्' के समश्लोकी अनुवाद मेवाड़ी भाषा में किये।[3] इसी परम्परा में पंडित गिरधरलाल शर्मा ने मार्कण्डेय कृत 'शिवस्तोत्रम्' का अनुवाद किया।[4] महाराजा चतुरसिंहजी ने ही 'गीता' का अनुवाद[5] पहली बार मेवाड़ी में किया और पश्चात् तो चार अन्य लोगों ने भी इसके

---

1. मालपुरा क्षेत्र में प्रचलित चारण-चरजाएं और उनका अध्ययन : श्री गुलाबदान चारण (अप्रकाशित लघुशोध प्रबन्ध) पृ० सं० ११२
   राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय, जयपुर।
2. फतै विनोद : राव बहादुर राजा फतेसिंह, पृ० सं० १३१-१३२ (चतुर्थ संस्करण) वि० सं० २००८
3. आधुनिक राजस्थानी साहित्य : श्री भूपतिराम साकरिया, पृ० सं० ४१
4. वही, पृ० सं० ४२
5. वही, पृ० सं० ४३

'लाल कन्हैया' पतित, पतित-पावन प्रभु बिड़द बिचारो ।
हूं दासन को दास, दास की दारुण दशा निवारो ।[1]

भगवान को समवयस्क सखा के रूप में मानकर समानता के धरातल पर उसके साथ बराबरी का व्यवहार भक्त और भगवान के बीच जिस मधुरता की सृष्टि करता है, वह दास्य भाव की भक्ति में संभव नहीं है । उसे अपने ही बराबर का मानने के कारण मीठी डांटफटकार भी लगायी जा सकती है, प्यार भरे उपालम्भ भी दिये जा सकते हैं और प्रत्यक्ष में उस पर क्षोभ भी किया जा सकता है । भक्त का यह उपालम्भ और कोप भी भक्त और भगवान के बीच के आपसी मधुर सम्बन्धों के कारण कितना स्पृहणीय बन जाता है—

कुण बिसवासै पातीजै तुण, ओळग करम हुई अपुळाट ।
ध्यावता बपू आवै जद धारी, करसी अबो किनारा काट ।
धार जननी सूं धणी, करायो, निरमळ माळ्यो नयो नकोर ।
चूक पड़ी काई ज्यां चमाया, धाना हो बपू आपो चोर ।
बड़ा भाग रा गिरजण वाळा, जग रावण जुग-जुग दाता ।
कर्‌ गई धारी माळाई, अवनी थगसी, करी थंबार ।
अण हूंतो पद पायो ईसर, जीवड़ै मांहि मसै भळ्ळाट ।
ओछो बेळ्या अर्द न आया, पतना आडा दिया कपाट ।[2]

भक्त की यह झल्लाहट और उसका यह सात्विक क्षोभ कभी स्वयं की उपेक्षा के कारण प्रगट होता है तो कभी विश्व की दुर्व्यवस्था एवं उसमें फैले अन्याय तथा अत्याचार को देखकर । श्री मुकनसिंह कृत 'बहुनामी री बेलि'[3] में वर्तमान समय में फैली इस अव्यवस्था के कारण ही भगवान को अपने भक्त से अनेक कठोर बातें सुननी पड़ी हैं—

कथा किहा करसी करुणाकर, मुरळ बाजा ओपी जोह ।
अनरथ अनाचार धिळ भूपर, ओढंता की चितरोजोह ॥
अनाचार आगी धिळ भूपर, नगी किहा बैठा करसोह ।
आदुधनरा मधुर अँटावो, धींगाएं धूहो धरसोह ॥
पिळा आज आगी पिछ धारी, अचल भुजाई अवनी सेम ।
जग जग जोह जोह जग जरो, कितय किहा कीध मछ केम ॥
नाळेर री बिगसायो ममुहा, अपरोगल अवनी अवरीत ।
आगुण भार मना की मळारी, केसव ! किह्वा करीजै कीत ॥[4]

राजस्थानी भक्ति साहित्य की एक विशेष देन रही है, शक्ति की उपासना से निकला हुआ उसका 'चरजा' साहित्य । शक्ति के विभिन्न अवतारों की उपासना में रचित ये चरजाएं राजस्थानी

1. गीता री गुंजार : श्री कन्हैयालाल दूगड़, पृ० सं० ४६
2. ओळमो, ओळग : श्री गोपालसिंह राजावत, पृ० सं० ४२-४८
3. अप्रकाशित प्रकाशन, र० का०-१६६० ई०
4. बहुनामी री बेलि : मुकनसिंह, पृ० सं० १

चरित्र के वीरता के प्रति सहज आकर्षण भाव को ही व्यक्त करती हैं। चरजाओं में भक्त कवियों ने उपास्य को दो रूपों में देखा है—प्रथम, मंगल-कारणी देवी के रूप में एवं द्वितीय, शत्रु-संहारिका शक्ति के रूप में। भक्तों की इस दृष्टि भिन्नता के कारण ही चरजाओं के दो रूप प्राप्त हैं—'सिगाऊ' एवं "घाडाऊ'। "सिगाऊ चरजाओं में भक्त अपनी आराध्या के चरित्र का वर्णन और प्रशंसा करता है'। घाडाऊ चरजाओं में भक्त के दैन्य भावों का प्राधान्य होता है तथा उसकी देवी को ममत्व भाव से या अपनत्व की भावना से उलाहना देते हुए शक्ति का आह्वान किये जाने की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है।"[1] प्राचीनकाल में जहाँ अनेकों कवियों ने सहस्रों चरजाओं की रचना कर शक्ति के प्रति अपनी आस्था एवं अपनी भक्ति भावना व्यंजित की है, वहाँ आधुनिक काल में भी 'करणी जी' आदि कुछ विशिष्ट शक्ति अवतारों की स्मृति में कवि लोगों की लेखनी गतिमान रही है—

सुण अम्बा ए ! म्हारी मैं हूँ रे चरणां रो थांरो दास ।
ऊँचों देवल आपरो ए अम्बा, विराजे आवड जी थारे वास ।
नेड़िजी नेडा वसे ए अम्बा, साचो है थारोड़ो विश्वास ।
अब देसाणे आवसां ए अम्बा, छोडां नहीं थांरा मंद री छांय ।
प्रेम भाव पग पूजसां ए अम्बा, रहसां थो देवी रा चरणां मांय ।
आया कदमा आपरे ए अम्बा, जोवत हा दरशण री थांरी बाट ।
मिल्या पाप पद परसतां ए अम्बा, होसी रे घर घर में आनन्द ठाट ।
सुण बीस हती सिंघ वाहनी ए अबा, पड़ियो हूं चरणां में थारे पास ।
आप कृपा आछी करी ए अम्बा, पुरी है 'फता' री मोटी आस ।[2]

आधुनिक काल में अधिकांश में सिगाऊ चरजाओं की ही रचनाएं हुई हैं। इस दृष्टि से कतिपय अन्य उल्लेखनीय कृतियां है—श्री हिंगलाज दान कविया कृत 'मेहाई महिमा', रावबहादुर राजा फतेसिंह कृत 'करनी करुणाकर बावनी' एवं श्री शक्तिदान कविया कृत 'करनीयश-प्रकाश'।

निष्कर्षतः राजस्थानी का आधुनिककालीन भक्ति साहित्य अपने पूर्ववर्ती भक्ति साहित्य की ऊँचाइयों को छूने में असमर्थ रहा है। इसका मुख्य कारण प्रथम तो भक्ति साहित्य में नवीनता का अभाव एवं द्वितीय, बहुत से भक्त कवियों का ध्यान मौलिक सर्जन की अपेक्षा अनुवादों में लगा रहना है। अनुवादों की इस परम्परा का सूत्रपात महाराज चतुरसिंह जी की रचनाओं से होता है। उन्होंने 'महिम्न स्तोत्र' और 'चन्द्रशेखर स्तोत्रम्' के समश्लोकी अनुवाद मेवाड़ी भाषा में किये।[3] इसी परम्परा में पंडित गिरधरलाल शर्मा ने मार्कण्डेय कृत 'शिवस्तोत्रम्' का अनुवाद किया।[4] महाराजा चतुरसिंहजी ने ही 'गीता' का अनुवाद[5] पहली बार मेवाड़ी में किया और पश्चात् तो चार अन्य लोगों ने भी इसके

---

१. मालपुरा क्षेत्र में प्रचलित चारण-चरजाएं और उनका अध्ययन : श्री गुलाबदान चारण (अप्रकाशित लघुशोध प्रबन्ध) पृ० सं० ११५
राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय, जयपुर।

२. फतै विनोद : राव बहादुर राजा फतेसिंह, पृ० सं० १३१-१३२ (चतुर्थ संस्करण) वि० सं० २००८

३. आधुनिक राजस्थानी साहित्य : श्री भूपतिराम साकरिया, पृ० सं० ४१

४. वही, पृ० सं० ४३

५. वही, पृ० सं० ४३

अनुवाद राजस्थानी में प्रस्तुत किये जिनमें ठाकुर कुमेरसिंह का 'गीता ज्ञानामृत'[1] और श्री विश्वनाथ विमलेश का 'गीता' (राजस्थानी पद्यानुवाद)[2] उल्लेखनीय बन पड़े हैं। अनुवादों की इस शृंखला की दो अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं, श्री मुकुन्दसिंह कृत 'उपनिषद-बेलि'[3] एवं श्री मनोहर प्रभाकर कृत 'भरथरी सतक'[4]। इनके अतिरिक्त भी श्री कन्हैयालाल दूगड़ कृत 'योगमहरी'[5] और श्री मुकुनसिंह कृत 'वारण री वेलि'[6] नामक कृतियाँ पूर्णतः अनुवादित रचनाएँ न होते हुए भी भावभूमि की दृष्टि से अपने मूल ग्रंथों के काफी निकट रही हैं।

१. प्र० का०—वि सं० २०१६
२. प्र० का०—१६६० ई०
३. प्र० का०—१६६८ ई० (मूल ईशावास्य उपनिषद्)
४. प्र० का०—१६६८ ई०
५. प्र० का० —१६६६ ई०
६. प्र० का०—१६६७ ई०

नीति काव्य

व्युत्पत्तिजन्य जो व्यापक अर्थ 'नीति' शब्द को मिला है, अपने सामान्य प्रचलित अर्थ में वह उस व्यापकता को समाहित नहीं कर पाता है। आज नीति एवं नीति काव्य शब्द एक विशिष्ट अर्थ तक ही सीमित हो गया है। सामान्यत. "समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति करने के लिए जिन विधि-निषेधमूलक नियमों का विधान, देशकाल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है, उसे 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं और नीति के अन्तर्गत आने वाली इस प्रकार की बातों से युक्त काव्य नीति काव्य है।"[1] संस्कृत और परवर्ती भारतीय आर्य भाषाओं के समृद्ध नीति काव्य ने यहाँ के सभी भाषा साहित्यों को पर्याप्तरूपेण प्रभावित किया है। राजस्थानी साहित्य भी उसका अपवाद नहीं है। भर्तृहरि प्रभृति प्रसिद्ध नीति एवं सूक्तिकारों के नीति वाक्यों एवं सूक्तियों में व्यक्त परम्परानुभूत अनुभवों को तो राजस्थानी में अनुवाद रूप में[2] या कि उनके मूल भाव को ग्रहण कर उन्हें अपने ढंग से तो प्रस्तुत किया ही गया है, किन्तु साथ-ही-साथ लेखकों ने व्यष्टि एवं समष्टि जीवन से सम्बन्धित स्वानुभूत अनुभवों को भी वाणी प्रदान करने में संकोच नहीं किया है। 'राजिया' जैसे कवियों के सोरठों में स्वर्जित जीवन एवं जगत् के यथार्थ से सम्बन्धित ये स्वानुभूत सत्य परम्परानुभूत अनुभवों को दुहराने वाली रचनाओं से अधिक लोकप्रिय रहे हैं।

राजस्थानी के आधुनिककालिक नीति काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व उससे सम्बन्धित दो तीन अन्य बातों पर चर्चा कर लेना असंगत नहीं होगा। प्रथम, हिन्दी में जहाँ अधिकांशतः नीति-प्रधान रचनाओं के लिए सामान्यतः कवित्त, कुण्डलिया, छप्पय एवं दोहे छन्द का उपयोग हुआ है, वहाँ राजस्थानी में इस क्षेत्र में सर्वप्रिय 'सोरठा' छन्द ही रहा है। प्राचीन काल में जहाँ राजिया, भैरिया, किसनिया, नाथिया, चकरिया आदि नामों से अनेक कवियों ने[3] नीति काव्य के लिए सामान्यतः 'सोरठा' छन्द को ही अपनाया वहाँ राजस्थानी के आधुनिक काल के नीति काव्यकारों ने भी प्रथम वरीयता 'सोरठा' एवं द्वितीय स्थान 'दोहा' छन्द को दिया है।[4]

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–१, पृ० सं० ४५७ (द्वितीय संस्करण)
2. भरथरी-शतक : अनुवादक मनोहर प्रभाकर, प्र० सं०–१९६८ ई०
3. सोरठा संग्रह, प्रकाशक : शर्मा भीखमचन्द बुकसेलर, कटला बाजार, जोधपुर।
4. आधुनिक काल के नीति काव्यकारों के निम्नलिखित नीति काव्य संग्रहों में अधिकांश में 'सोरठा' छन्द ही मुख्यरूपेण व्यवहृत हुआ है –
   1. रमणिये के सोरठे : श्री कन्हैयालाल सेठिया, प्र० सं०–वि० सं० १९९७

द्वितीय, राजस्थानी में आधुनिक काल में नीति काव्य की सर्जना पूर्व की अपेक्षा कम हुई है, वहाँ नहीं इस युग में रचा गया नीति काव्य उतना लोकप्रिय एवं जन प्रचलित नहीं हो पाया जितना कि पूर्वरचित काव्य आज भी है। इसके कई कारण हो सकते हैं। एक तो आज सामान्यतः कोई भी व्यक्ति उपदेश सुनना पसन्द नहीं करता, अतः स्वाभाविक रूप से प्रोत्साहन के अभाव में नीति काव्यकारों ने अपनी प्रतिभा का उपयोग दूसरे क्षेत्र में किया। द्वितीय, आधुनिक युग में नीति सम्बन्धी जो रचनाएँ सामने आयी हैं, उनमें स्थूल उपदेश का प्राधान्य रहा है और उनके सर्जकों का ध्यान परम्परानुभूत व्यावहारिक सत्यों को ही दुहराते रहने में लगे रहने के कारण नवीनता के अभाव में उनका काव्य जन-साधारण का ध्यान आकर्षित कर सकने में असमर्थ रहा है। तीसरे, सामयिक राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन से सम्बद्ध प्रसंगों को ध्यान में रखकर लिखी गयी रचनाएँ बृहद् जन-चेतना और परिवर्तित जन रुचि के कारण अधिक लोकप्रिय रहीं और एक प्रकार से आधुनिक युग में ऐसी रचनाओं ने ही नीति काव्य का स्थान ले लिया है।

राजस्थानी साहित्य के आधुनिक काल के प्रथम चरण में प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों और स्थानीय साहित्यकारों में सुधारवादी मनोवृत्ति एवं नैतिक दृष्टि वाले कवियों ने अधिकांशतः उपदेश-प्रद कविताओं की रचनाएँ की हैं। इस दृष्टि से प्रवासी राजस्थानी साहित्यकारों में सर्वश्री शिवचन्द्र भरतिया, गुलाबचन्द नागोरी, धर्मचन्द सेमका आदि का नाम उल्लेखनीय है और यहाँ के साहित्यकारों में महाराज चतुरसिंह, ऊमरदान लालस, राव बहादुर राजा फतेसिंह प्रभृति कवियों ने ऐसे साहित्य की सर्जना में विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इन रचनाओं के सर्जन के पीछे सामान्य रूप से किसी सामयिक सामाजिक समस्या के प्रति जनसाधारण को उद्बोधित करने का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है, फलतः इन रचनाओं में काव्यत्व गौण एवं उपदेश प्रधान हो गया है। इस श्रेणी की बहुत सी रचनाएँ तो सामान्य पद्यबद्ध उपदेश होने के कारण काव्य की श्रेणी में स्थान पाने की अधिकारिणी भी नहीं हैं। चूँकि ऐसी रचनाओं में अधिकांशतः कल्पना की रम्य उड़ानों और उक्ति-वैचित्र्य का भी अभाव रहा है, अतः यहाँ उन पर विस्तार से चर्चा अनावश्यक होगी। उदाहरणार्थ दो चार रचनाओं के कतिपय अंश प्रस्तुत हैं—

क. वो नर जग में धन्य है, जो करे समाज सुधार।
पर दुख अपणों जाणकर, करे देश उपकार।
छोड़ो सट्टा फाटका, कपट आग अज्ञान।
विणज करो परदेश सूं, झट हो वो धनवान।[1]

---

२. केसर का सोरठा : श्री चन्द्रशेखर व्यास, प्र० का०—वि० सं० २०१४
३. मूंघा मोती (सोरठा संग्रह): श्री भीमराज नवीन, प्र० का०—१९५८ ई०
४. विचार बावनी (सोरठा संग्रह) : श्री कन्हैयालाल दूगड़, प्र० का०—१९६६ ई०
५. उजाले रंग (सोरठा संग्रह): मुनि श्री दुलीचन्द 'दिनकर' प्र० का०—१९७० ई०
६. मरुमालती (दोहा एवं सोरठा संग्रह) : श्री मोतीलाल चतुर्वेदी, प्र० का०—वि० सं० २००६
७. सिणगार (दोहा संग्रह) : मुनि श्री मिश्रीमल, प्र० का०—वि० सं० २०२४

१. भूमिका, कनक सुन्दर : शिवचन्द्र भरतिया, पृ० सं० ५

ख. वेश्या प्यालो जहर को,
(हां रे कोई) महत लपेटी धार
धन की प्यासी पापणी
(कोई) झूठो करती प्यार।
वेश्या छै पैनी छुरी रे
(हा रे भाई) तीन ठौर सूं खाय
धन छीजै जोबन हरे
(कोई) मर्‌या नरक लेजाय।[1]

ग. कर क्षण भंग शरीर को, मिलणो धूळ कबूल।
पापी रा पग ऊपर, मती फूल रे फूल।[2]

घ. दारू परदार दोहूं है तन धन री हाण।
नर सांप्रत देखो निजर, नफो ग्रोर नुकसाण॥[3]
विभचारी विभचार कर, कुल ग्रग खोय कुमोज
खूट गया इण खलक में, खुटको हुवो न खोज।[4]

प्रथम चरण के इन नीति काव्यकारों की अपेक्षा परवर्ती नीति काव्यकारों ने अधिकांशतः ऐसी परम्परानुभूत एवं स्वानुभूत बातों पर लिखा, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण से अधिक रहा। अन्यथा इस अवधि में सर्जित रचनाओं में धार्मिक जीवन से सम्बन्धित उपदेशप्रद रचनाओं का ही बाहुल्य रहा। इस अवधि में एक अन्य उल्लेखनीय बात यह रही है कि यहाँ एक ओर तो स्वतन्त्र रूप से नीति काव्यों का प्रणयन हुआ एवं दूसरी ओर कुछ एक प्रबन्ध काव्यकारों ने अपने प्रबन्ध काव्यों में प्रसंगवश आयी नीति सम्बन्धी बातों पर काफी ध्यान दिया है। प्रथम प्रकार अर्थात् स्वतंत्र रूप से नीति काव्यों का प्रणयन करने वालों में सर्वश्री कन्हैयालाल सेठिया, भीमराज भवीड़, मनोहर लाल चतुर्वेदी, चन्द्रशेखर व्यास, कन्हैयालाल दूगड़, आचार्य तुलसी, मुनि दिनकर, मुनि मिश्रीमल प्रभृति के नीति एवं धर्मोपदेश सम्बन्धी काव्य संकलन उल्लेखनीय बन पड़े हैं। दूसरी ओर रामकथा, मानखो, मधुम्लता, राधा एवं महमवंक जैसे प्रबन्धकाव्यों में कतिपय सामयिक (किन्तु चिरकालिक) प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार हुआ है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से हम आधुनिक राजस्थानी नीतिकाव्य को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—धार्मिक आचरण से सम्बन्धित, सामान्य आचरण से सम्बन्धित एवं समसामयिक सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित। इन तीनों में भी प्रथम दो विषयों पर रचनाएं अधिक लिखी गई हैं। धार्मिक आचरण से सम्बन्धित रचनाएं अधिकांशतः धर्माधिकारियों द्वारा रची गयी हैं, जिनमें एक

---

१. वैश्या निषेध : रामलाल दुगाड़्या, मारवाड़ी अग्रवाल, वर्ष ३, खंड २, पृ० सं० ४८२, आषाढ़ १९८१ वि०
२. चतुर चिंतामणि : महाराज चतुरसिंह, आधुनिक राजस्थानी साहित्य, पृ० स० ४३
३. दारू रा दोस : ऊमरदान लालस, ऊमर काव्य, पृ० स० २०२ (तृतीय संस्करण)
४. विभचार री बुराई : ऊमरदान लालस, वही, पृ० स० २०३

और विधानात्मक शैली में करणीय बातों पर प्रकाश डाला गया है तो दूसरी ओर निषेधात्मक शैली में अकरणीय क्या है यह भी स्पष्ट हुआ है। ऐसी धार्मिक रचनाओं में जैन धर्माचार्यों की एक सतत ही धारा प्रवाहित हुई है। उन्होंने इन रचनाओं में एक ओर अपने विशेष धार्मिक विधि-विधानों के पालन के लिए अपने श्रावकों एवं साधुओं को उद्‌बोधित किया है तो दूसरी ओर सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि पर युगों-युगों से चले आ रहे मनीषियों के चिन्तन को अपनी वाणी में अभिव्यक्ति दी है। जैन एवं जैनेतर सभी धर्मोपदेश-प्रधान काव्य संकलनों में प्राचीन व्यवस्थाओं का ही मुख्यतः प्रतिपादन हुआ है। बदले हुए सन्दर्भों में उन सिद्धान्तों को पुनर्व्याख्यायित करने का प्रयास बहुत ही कम हुआ है। ऐसे काव्य संकलनों में 'श्री कालू उपदेश वाटिका'[1], 'भजनों की भेंट'[2] 'उमरते रंग', 'सिंहनाद', 'चतुर चिन्तामणि'[3] 'योग लहरी'[4], 'विचार बावनी' आदि प्रमुख हैं। इन काव्य संकलनों की अधिकांश रचनाएं धर्माचरण सम्बन्धी उपदेशों से परिपूर्ण हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत है :-

क. रोको काया री चंचलता ने ऐ श्रमण सती।
होसी जोगां पर काबू पायां ही नेड़ी मुगती ॥
काया री प्रवृत्ति हरदम चालती रहै है।
सती ! चंचलता ने रोके साता काया-गुपति ॥[5]

ख. षट दरसन में सातम्, दयावाद दरसाव।
मत विसरै रे मानवी, ओछी ऊमर मांय ॥
दयावान नर देव सो, यह तो विसवा वीस।
धर्मोमती ताला घड़े दाग्यो है जगदीस ॥[6]

ग एक जागतो जोत, जिणरी जग करतूत है।
उण भजियां सुख होत, मौत न फटके कानियां ।[7]
चवऊ अरु में नाथ, सूरत निरखी आ गई।
अधिर वाऊंज भांप, हिम हरि दरसण कानियां ॥[8]

धार्मिक नीतिकाव्य में जहां सामान्य धर्माचरण को ही लेकर मानव जीवन के एक पहलू को छुआ जाता है, वहां सामान्य आचरण या कि लोक व्यवहार सम्बन्धी नीति काव्य का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन के साथ-साथ आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित व्यावहारिक एवं लोक कल्याणकारी बातों का भी समावेश होता है। ऐसी रचनाओं में एक ओर व्यक्ति और विभिन्न समाजों में उनके सम्बन्धों को लेकर बहुत

---

1. आचार्य श्री तुलसी, प्र० का०—१६५१ ई०
2. मुनि श्री धनराज 'प्रथम', प्र०का०—१६६६ (चतुर्थ संस्करण)
3. महाराज चतुरसिंह, प्र० का०—वि० सं० २०२१
4. श्री कन्हैयालाल दूगड़, प्र०का०—१६५८ ई०
5. श्री कालू उपदेश वाटिका, पृ० सं० १८६
6. सिंहनाद, पृ० सं० ८७
7. विचार बावनी, पृ० सं० १४
8. वही, पृ० सं० ५

कुछ कहा गया होता है, तो दूसरी ओर धन, यौवन, स्वास्थ्य, युद्ध, भक्ति, गुण-अवगुण, व्यापार, भाग्य, कृषि आदि नाना विषयों को लेकर देशकाल के सन्दर्भ में करणीय-अकरणीय पर प्रकाश डाला जाता है। यहाँ भी बात को सीधे उपदेश रूप में और अन्योक्ति तथा सूक्ति शैली में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस क्षेत्र में भी आधुनिक राजस्थानी नीतिकाव्यकारों ने अधिकांशतः परम्परानुभूत सत्यों और अनुभवों को ही अपने ढंग से दोहराया है, यथा—

होनहार सो होय, करम लिखेड़ी ना टळै।
जो नर मूरख होय, रुदन मचावै रमणियां॥
अस्थिर है संसार, गरब नै कीजे भूलकर।
ले ज्यासी जण च्यार, रथी बणा कर रमणिया॥[1]

इस प्रकार की रचनाओं का काव्य स्वर भी प्राचीनों से ही मिलता जुलता है, अतः नवीनता के अभाव में इनका कोई असर पाठक के हृदय पर नहीं पड़ता। इसकी अपेक्षा जहाँ कहीं भी कवियों ने किंचित् भी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है या कि नूतन कल्पनाओं के सहारे परम्परा अनुभूत अनुभवों को ही प्रस्तुत किया है, वे स्थल अधिक प्रभावी बन पड़े हैं—

क. कागद तो कहतो फिरै, हर कोन हकनाक।
   जांरी हूं ह्वीने कहै, हियो लिफाफो राख॥[2]
ख. दीप सिखा सी नित जळै बारवधू की सेज।
   पुन्य पतंगां सो पड़ै, जळै धर्म, धन, तेज॥[3]

कुल मिलाकर स्वतंत्र रूप से नीति काव्य का प्रणयन करने वालों में ऐसी रचनाओं की न्यूनता ही रही है। उनकी अपेक्षा तो प्रबन्धकाव्यकारों ने समयानुकूल सामयिक समस्याओं के सन्दर्भ में युग-चिन्तन को वाणी देकर अपनी प्रगतिशील दृष्टि का परिचय दिया है। 'मानखो' और 'राधा' जैसे काव्यों में जहाँ युद्ध के औचित्य-अनौचित्य को लेकर काफी कुछ विचार हुआ है, वहीं 'शकुन्तला' में नारी को प्रतिष्ठा के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठापित करने का प्रयास कर कवि ने युग की मांग को ही वाणी दी है। 'राधा' एवं 'मानखो' का युद्ध विषयक चिन्तन पर्याप्त रोचक प्रभावी एवं विचारोत्तेजक बन पड़ा है, क्योंकि यहाँ बुद्धि-चातुर्य के साथ-साथ हृदय के भावावेग का संयोग भी हुआ है—

मन रा मीत कान्हा रे—
जग में जै सहारो पसराग, तो
जमना में कोई रैसी नीर,
माटी रै'जासी सागी बोटियां।
बस्ती में पाया रिसगा सूर,
सूना संगड़ा बगा धर्न भोदमी।

१. रमणियै रै सोरठे : श्री कन्हैयालाल सेठिया
२. आधुनिक राजस्थानी साहित्य, पृ० सं० ४८
३. मरुभारती, श्री मतिलाल चतुर्वेदी, पृ० सं० ४६

धरणधड़ रै जासी सगळी भोम,
ऊमड़ बिरगी होसी कोटड़ियां ।
थपूं भेदै रखवाळा रो नांव,
मुड़जा फौजां नै पाछी मोड़ळै ।[1]

यहाँ बड़े प्रभावशाली शब्दों में युद्ध के विरोध में आवाज बुलंद की गई है पर इसके कवि ने न तो सीधे-सीधे युद्ध की निंदा की है और न ही युद्ध के विरोध में भारी भरकम तर्कों का कोई अम्बार ही उपस्थित किया है ।

नीति काव्य के प्रणयन में शैली की दृष्टि से सामान्यतः उपदेश शैली, अन्योक्ति शैली एवं सूक्ति शैली का उपयोग होता है । इनमें उपदेश शैली, काव्य की दृष्टि से निकृष्टतम प्रयोग माना जाता है । राजस्थानी के आधुनिक काल के अधिकांश नीतिकाव्यकारों ने इसी शैली का ही उपयोग किया है । इस शैली में नीतिकार सीधे-सादे शब्दों में उपदेशी स्वरों में अपनी बात रखता चलता है । यहाँ न कल्पना की नवीनता और रम्यता से नीतिकार को कोई मतलब होता है और न ही उक्ति-वैचित्र्य या कि अन्योक्ति के सहारे अपनी बात को आकर्षक बनाने की फुर्सत ही उसे होती है । फलतः बहुत सी बार तो ऐसी उक्तियाँ सामान्य पद्य रचना से अधिक कुछ नहीं कही जा सकती हैं । वैसे तो वर्ण्य-विषय पर या अन्यत्र विचार करते समय इस शैली के कई उदाहरण प्रस्तुत विवेचन में आ चुके हैं, फिर भी यहाँ एक उदाहरण देना असंगत न होगा —

झूठी बात बणाय, साच गमावै आपणी ।
नजरां में गिर जाय, मगन्न झूठ न बोलणो ।।
आखर वैरी ओ'र, घालै मारग गोचरे ।
मंगल रखो नजीक, झूठो गावै हार हो ।।[2]

उपर्युक्त उपदेश शैली की अपेक्षा अन्योक्ति, काव्यतत्व की दृष्टि से अधिक सशक्त कही जा सकती है । यहाँ नीतिकार सीधे उपदेश देने पर न उतर कर अपनी बात को अप्रत्यक्ष मधुर बनाकर प्रस्तुत करता है । राजस्थानी के आधुनिक नीति काव्यकारों में बहुत कम स्थलों पर इस शैली का उपयोग *देखने को मिलता है—*

माभळ निर्मल नीर, थूं भी जो कीचड़ गर्यो ।
काजळ-काळो नीर, पंगत कुण उजळावसी ।।[3]

यहाँ किसी सात्विक वृत्ति मानव के आचरण की ओर बढ़ते कदमों को देख, कवि ने अन्योक्ति के सहारे उसको सतर्क किया है । यहाँ कोई प्रसंग विशेष इस सोरठे की पृष्ठभूमि में रहा है, वैसे किसी सामान्य कथन के लिए अन्योक्ति का सहारा लेकर उस कथन को विशिष्ट बनाया जा सकता है—

पारस परस्यो लोह, एक बार सोनो हुयो ।
फेर न परसी लोह, कठैक फेरो 'कानियो' ।।[4]

---

१. राधा : सत्यप्रकाश जोशी, पृ० सं० १४-१५
२. मूंधा मोती : मोहनराज भंडारी, पृ०सं० ६, प्र० सा० १९६४ ई०
३. उमरां रंग : मुनि दिनकर, पृ०सं० ३१
४. विचार बावनी : कन्हैयालाल दूगड़, पृ०सं० २

उक्त अन्योक्ति शैली की अपेक्षा सूक्ति शैली का उपयोग तो और भी कम हुआ है—

जळ स्यूं भरियो माट, जळरे मांही डूबसी।
ज्यूं जळ हूमी घाट किरमे उठसी 'कानियां' ॥[1]

सूक्ति शैली में अधिकांशतः उदाहरण, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति आदि अलंकारों का सहारा लेकर सामान्य बात को भी सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बना दिया जाता है—

क. नीचा जे ऊंचा चढ़े, तो कट कट मर ज्यायँ।
ज्यों पतंग आकाश में, लड़कट गिर टुट ज्यायँ ॥[2]

ख. आक तणो अकतूल, रोही में रुळतो फिरै।
चिहुं दिशि चाटे धूळ, चेतन हळको मानवी ॥[3]

निष्कर्षतः राजस्थानी के प्राचीन नीतिकाव्य की तुलना में राजस्थानी का आधुनिक नीतिकाव्य काफी अपुष्ट एवं क्षीण रहा है। उसमें न तो स्वानुभूत अनुभवों की ही सशक्त अभिव्यक्ति हुई है और न ही वह सामान्यतः स्थूल उपदेश के मोटे दायरे से ही बाहर निकल पाया है। परम्परानुभूत अनुभवों को साधारण रूप में प्रस्तुत करने वाला वर्तमानकालिक नीतिकाव्य एक अति साधारण घटना ही बनकर रह गया है।

---

१. विचार बावनी पृ०सं० ८
२. मरुभारती : श्री मांगीलाल चतुर्वेदी, पृ०सं० १०३
३. उमगते रंग : मुनि दुलीचन्द 'दिनकर', पृ०सं० २०

नयी कविता

राजस्थानी में नयी कविता का प्रवेश हिन्दी में इस काव्यान्दोलन के स्थापित हो जाने के बाद ही सम्भव हो पाया । वैसे छुटपुट रूप से १९५५ ई० से ही राजस्थानी की पुरानी पीढ़ी के कवि 'मुक्त छन्द' का प्रयोग कर स्वयं को इस काव्यान्दोलन के साथ जोड़ने की कोशिश करते रहे, किन्तु नयी कविता के मोड़-मिजाज से अपरिचित एवं पारम्परिक संस्कारों से गहरे तक जुड़े हुए ये कवि नयी कविता के सही स्वरूप को नहीं पहिचान पाये । वस्तुतः १९६५ ई० के बाद से जबकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की पीढ़ी के युवा कवियों ने राजस्थानी काव्य क्षेत्र में—अपनी सुलझी हुई दृष्टि और सामयिक परिवर्तनों के सही स्वरूप को समझ सकने की क्षमता के साथ—प्रवेश किया, तभी से राजस्थानी नयी कविता का प्रारम्भ समझना चाहिए ।

इससे पूर्व की बुजुर्ग पीढ़ी के काव्य में व्यंजित आधुनिकता अधिकांशतः आरोपित आधुनिकता सी प्रतीत होती है, फिर भी यह स्थिति उनके बदलाव के प्रति आकर्षण एवं ममत्व को तो स्पष्ट करती ही है । बदलते जीवन मूल्यों के प्रति उस पीढ़ी के सभी साहित्यकारों की स्थिति एक जैसी नहीं रही है । उनमें से अधिकांश की मनःस्थिति इस बदलाव को समर्थन-स्वीकारने के अनुकूल नहीं बन पायी, फलतः वे केवल एक अनुसरित बोझ लिए बदलने का 'पोज' भर बनाते रहे हैं । श्री मूलचन्द 'प्राणेश' की कविता 'वधू'[1] में इस श्रेणी के साहित्यकारों की झुंझलाहट के स्वरों को स्पष्ट सुना जा सकता है । ऐसे साहित्यकारों की अपेक्षा कुछ अधिक प्रगतिशील एवं समझदार कवियों ने युग-परिवर्तन की अनिवार्यता को देखते हुए 'कल्पना के हंस' की अपेक्षा 'यथार्थ की कोयली' का स्तवन बेहतर समझ, स्वयं को उसी बदले हुए रूप में प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया है, किन्तु उनका यह परिवर्तित रूप अन्तर की सहज और भीतर की आवाज का परिणाम नहीं अपितु बदलते प्रवाह में अपने पैर स्थिर रखने की लालसा का परिणाम ही है । डा० मनोहर शर्मा की 'हंस और कोयली'[2] ऐसी मनःस्थिति वाले कवियों की आत्म-स्वीकारोक्ति का सबसे सशक्त उदाहरण कही जा सकती है । इन कवियों का मन तो अब भी कल्पनालोक की मधुर कोकिलों में खोया रहना चाहता है, किन्तु बुद्धि बदलते हुए परिवेश को ध्यान में रखकर सही

१. वधू : श्री मूलचन्द 'प्राणेश', पृ० सं० ६३, जागती जोत, वर्ष २, अंक—२-३
२. जागती जोत, वर्ष २, अंक २-३, पृ० सं० ११

सलाह देती है कि अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए इस नूतन परिवेश का स्वागत ही श्रेयस्कर होगा। कल्पना के हंस के प्रति समर्पित होते हुए भी विवश होकर कवि को यह कहना पड़ा है—

कवि
कल्पना रो हंस
मन भावनो है
तो यथार्थ री
कोचरी भी
कम रूपाळी कोनी।
हंस रै गीतां साथै
अब कोचरी रा भी
गीत गावो।[1]

प्रस्तुत कवितांश की इन अन्तिम तीन पंक्तियों में इस वर्ग के कवियों की विवशता स्पष्टतः व्यंजित हो जाती है। उपर्युक्त दोनों स्थितियों से भिन्न, राजस्थानी के पुरानी पीढ़ी के कवियों का एक वर्ग ऐसा भी है, जिन्होंने युग के इस परिवर्तन को ईमानदारी से महसूसा और उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की दृष्टि से भावनात्मक स्तर पर स्वयं को तैयार किया है। श्री कन्हैयालाल सेठिया एवं श्री सत्यप्रकाश जोशी इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचनाकार हैं। इनकी रचनाओं में "दृष्टि का यह बदलाव युग-आग्रह की आन्तरिक समझ से मुखर हुआ है। श्री कन्हैयालाल सेठिया का एक भाव बिम्ब सम्मुख है, जिसमें सौन्दर्य-बोध की बदलती हुई दृष्टि स्पष्ट है—

पून री धीमी सांस में यूं
एक अचपळो बगूळियो जलम्यो
गुडाळियां चाल्यो नीं
घड़ी करी नीं
भचकै ऊभो हुयर
घूमर घाली तो इमी कै
धास फांस धूळ
जिकी ई चीज लपेट में आई
धूकियो पकड़'र उठाई अर
बूढै सूरज रै आगणै में बगाई।

उपर्युक्त बवंडर बनने की प्रक्रिया में एक विशिष्ट मनःस्थिति का जुड़ाव बिम्ब को सजाते हुए निर्मित करता है। यहाँ संध्या के समय उठते बवंडर का जो मानवीकरण किया गया है, वह परिचित दृश्य को महसूसने की नितान्त नवीन दृष्टि का परिचायक है।"[2] श्री सेठिया की तरह ही श्री सत्यप्रकाश

१. 'हंस और कोचरी', जलमभोम, वर्ष-२, अंक २-३, पृ० सं० ५९
२. स्वातंत्र्योत्तर राजस्थानी काव्य की नयी प्रवृत्तियां : श्री तेजसिंह जोधा (लघु शोध प्रबन्ध) राजस्थान विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, जयपुर।

जोशी की 'जोधपुर एक नगरी' जैसी कविताओं में उनकी बदलती सौन्दर्य-बोध की दृष्टि को स्पष्टतः देखा जा सकता है—

> सोळै बरसां री छोरी है
> हाल न ऊगी छाती, ना अड़वीजी कोनी,
> गूंगी है ।
> असवारां रा फाटमोड़ा गाना बांधै
> दिनभर खावै पान, सदैई दारू पीवै
> कोट-कचेड़ी में भटकै, सिक्का रा चिक्कर देवै ।
> छोरी है—अवाध बार ऊपर जावै है
> एक म्हार पाळी ही इण नैं ।
> मांधो हो वो म्हार, भायला पतर स्याळिया
> उण नैं म्हारा पेट में उणरो मांस खायग्या ।
> आ सातूं वीरां रै बिचली वीरण बाई ।[1]

इस प्रकार राजस्थानी में नवबोध की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल धरातल के निर्माण का कार्य कई चरणों में मंथर गति से सम्पादित हुआ और लगभग सन् १९६५ ई० के पश्चात् ही नवबोध के स्वर प्रमुख रूप से उभरने लगे हैं ।[2] यद्यपि पारम्परिक शैली में काव्य रचना करने वाले कवियों की संख्या अब भी कम नहीं हुई । गत तीन-चार वर्षों में प्रकाशित हुए 'ओळमो', 'मरवाणी' और 'जनमभोम' के काव्य विशेषांकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि परम्परावादी काव्य रुझान अब भी किस कदर राजस्थानी मानस पर 'हावी' है, वैसे इन विशेषांकों में स्वयं की ऊर्जा से गतिशील बनी "नयी कविता" की शक्ति-परिचायक कतिपय रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं, पर 'राजस्थानी'-एक में ही प्रथम बार राजस्थानी नवबोध के स्वर अपने पूरे वेग के साथ उद्घोषित हुए हैं । यद्यपि उसमें भी दो एक कवियों में कहीं-कहीं प्रयोग की चमक एवं चमत्कृत करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से मुखरित हो उठी है ।

इस प्रकार 'राजस्थानी'-एक में नवबोध के जो स्वर मिले हैं, वह अचानक संभव नहीं हुआ है, अपितु उसके लिए राजस्थानी साहित्यकारों को वर्षों तक धरातल तलाशते रहना पड़ा है । नवीन और प्राचीन के बीच झूलते राजस्थानी साहित्यकार को केवल नवीनता के मोह में 'छन्द तोड़ने' से लेकर पुनः

---

1. जोधपुर एक नगरी : श्री सत्यप्रकाश जोशी, जाणकारी, पृ० सं० ७, सितम्बर-अक्टूबर १९६८ ई०
2. १९६५ ई० से पूर्व की राजस्थानी नयी कविता के सम्बन्ध में श्री तेजसिंह जोधा का यह कथन सत्य के बहुत अधिक निकट प्रतीत होता है—"सन् १९६५ तांई मुक्त छन्द और छंद में लिखीजी मानखी कवितावां रूप री निजरसूं 'है ओपा हैं' पणांरी री अणहूंती सामाजिक चेतना रे ऊंडै-ऊंडै रूपी घर कदी अणी में भी गुमानसूं बीजणी म्हूं बापड़ा कांई मानखावां, भारतीय और माधवराई मुडी-चढ़ेती डोकरियां रै पगां आपणी बात पर नीक घाई मात दोड़ री दौड़ रागी ।"

   राजस्थानी-एक : सं० तेजसिंह जोधा, पृ० सं० १०

की पुकार एवं 'आन्तरिक समझ' से प्रेरित हो कर मुक्त छन्द के प्रयोग के बीच अनेक पापड़ बेलने पड़े हैं। जहाँ तक पारम्परिक छन्दों से विद्रोह कर मुक्त छन्द को स्वीकारने का प्रश्न है, इस दृष्टि से राजस्थानी में प्रथम प्रयोग[1] श्री नानूराम संस्कर्ता ने अपने 'समय-बायरो' में किया है। कवि ने स्वयं प्रस्तुत कृति की 'गाथा' में लिखा है कि—"म्हे राजस्थान रै विद्यार्थी बालका रा हिड़दा करड़ा एवं ऊजळा बणावण वास्ते प्रगतिवाद तथा स्वच्छन्द-छन्दा नै मातृभासा राजस्थानी में ल्यावण रा पूरा-पूरा प्रयत्न किया है।"[2] मुक्त छन्द के प्रयोग के अतिरिक्त भी 'समय बायरो' की दो एक विशेषताएँ ऐसी हैं जो कि नयी कविता से एक सीमा तक साम्य रखती हैं। प्रथम है, उसमें प्रयुक्त दैनन्दिन व्यवहार की जनसाधारण की भाषा एवं उस भाषा के गद्य के निकट पहुँचाने की स्थिति एवं द्वितीय, उसकी अधिकांश कविताओं चित्रित हुआ बदलती हुई स्थिति का यथार्थ अंकन। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजा महाराजाओं के जीवन में आया यह परिवर्तन द्रष्टव्य है—

इसा महीपत
मां-बाप दुनियां रा बाज्या
आज वैः ही
हरिजनां सूं
समोद हाथ मिलावै
डोकरी सोधै चूं सा
उड़ाया भीठोरा
बायरो बाजे।[3]

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी हम इस कृति को नयी कविता के रूप में अंगीकार नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें संगृहीत अधिकांश कविताओं की स्थूल अभिव्यक्ति एवं उपदेशवृत्ति उन्हें साधारण नीति काव्य से अधिक कुछ नहीं बनने देती है।

'समय बायरो' के पश्चात् तो राजस्थानी काव्य-जगत् में मुक्त छन्द के प्रयोग का एक 'फैशन' सा ही चल निकला। गनेचाज मंचीय कवियों से लेकर पद्यकथा लेखकों ने समान रूप से इसे अंगीकार किया, शायद आधुनिक कहलाने की ललक से। मुक्त छन्द के इस चलन ने केवल मुक्तक काव्य-प्रणेताओं को ही आकर्षित नहीं किया अपितु प्रबन्धकारों की दृष्टि को टांकने में भी यह सफल हुआ। सर्व प्रथम 'रामदूत' में कवि ने प्रारम्भ के दो एक पृष्ठों तक इसके साथ कदम बढ़ाये किन्तु

१. श्री नारायण सिंह भाटी के 'दुर्गादास' को उस कृति के भूमिका लेखकों, श्री विजयदान देथा एवं कोमल कोठारी ने राजस्थानी में मुक्त छन्द की प्रथम कृति माना है। (यह मुक्त छन्द में लिखी हुई पहली काव्य कृति है। भूमिका, दुर्गादास, पृ० सं० २१) इसी आधार पर श्री तेजसिंह जोधा ने भी इसे राजस्थानी मुक्त छन्द की प्रथम कृति माना है। (राजस्थानी काव्य में मुक्त छन्द का प्रायोगिक प्रारंभ डा० नारायणसिंह भाटी की काव्य कृति 'दुर्गादास' से होता है।) किन्तु यह बात सही नहीं है, क्योंकि 'दुर्गादास' का प्रकाशन फरवरी १९५६ में हुआ है जबकि 'समय बायरो' का प्रकाशन काल वि० सं० २००९, ई० सन् १९५३ है।

२. गाथा : नानूराम संस्कर्ता, समय बायरो, प्र० रा०-हाँसी, सं० २००९

३. समय बायरो : श्री नानूराम संस्कर्ता, पृ० सं० ३-४

परम्परा-प्रिय कवि के लिए अन्त तक उनके साथ निर्वाह करना संभव नहीं था, अतः उसने आगे के सर्गों में इनका साथ छोड़कर प्राचीन छन्दों से ही मैत्री स्थापित कर ली। इस दृष्टि से 'राधा' के कवि श्री सत्यप्रकाश जोशी ने अधिक प्रगतिशीलता का परिचय दिया। 'राधा' में आद्यन्त मुक्त छन्द का ही प्रयोग नहीं हुआ है अपितु भाषा को नया अर्थ देने और उसे पारम्परिक प्रयोगों से मुक्त रखने का प्रयास भी कवि ने किया है। शब्दों को नवीन और सार्थक अर्थ देने की प्रक्रिया में कवि ने 'गुनगुना छूने' शब्दों को भी चमत्कृत कर देने वाला रूप-सौन्दर्य प्रदान किया है। 'अघोट पुरुषों', 'हेठली जामण', 'अणांडी प्रीत', 'कोडीला हाथ' आदि ऐसे ही सरस प्रयोग हैं।

'राधा' के बाद के प्रबन्ध काव्यों में मुक्त छन्द के प्रयोग की प्रवृत्ति सहज आधुनिक कहलाने की ललक से ही कहीं-कहीं स्वीकृत हुई है, अन्यथा अधिकांश में तो कवियों ने पुरातन 'लीक' पर चलना ही अधिक पसन्द किया है। 'शकुन्तला' के 'ओळखो' सर्ग में हुआ मुक्त छंद का प्रयोग एवं 'दुर्गादास' तथा 'हाडी राणी' में मुक्त छन्द को स्वीकृति, कथानक की मांग एवं कवि की आन्तरिक आवश्यकता की प्रेरणा से नहीं मिली है। इन कृतियों में इसके प्रयोग का कौतूहल ही प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

इस प्रकार 'समय–बायरो' से लेकर 'पिरोळ में कुत्ती ब्याई' तक में हुआ मुक्त छन्द का प्रयोग और उसमें यत्र-तत्र उभरा छद्मवेशी आधुनिकता-बोध, सहज समय के साथ पिछड़ जाने की अपनी विवशता को छिपाने की छटपटाहट भर कहा जा सकता है। जिन परिस्थितियों के कारण आज की कविता में बदलाव आया है, उन बदली हुई परिस्थितियों के मानव-मन की आन्तरिक छटपटाहट का अंकन करने में ये रचनाएं समर्थ नहीं कही जा सकती क्योंकि इन कवियों का चेतना धरातल मध्ययुगीन चेतना से अधिक भिन्न नहीं रहा है। जीवन को अतीत आसक्ति से मुक्त होकर देखने-समझने की दृष्टि का विकास इनमें से किसी में भी नहीं दीख पड़ता है और न ही इनमें से कोई भी कवि आधुनिक जीवन के प्रति पूर्वाग्रही तुच्छता के भाव से मुक्ति का साहस ही संजो पाया है। इस श्रेणी के कवियों में श्री अन्नाराम 'सुदामा' की 'पिरोळ में कुत्ती ब्याई' एक ऐसी कृति है जिसे कतिपय आलोचक राजस्थानी नयी कविता की एक महान उपलब्धि मानते हैं, अतः यहां उस पर थोड़ा विस्तार से विचार आवश्यक हो जाता है।

श्री 'सुदामा' की प्रस्तुत कृति में वर्तमान जीवन की विसंगतियों पर तीखा व्यंग्य-प्रहार, आज के महानगरीय जीवन की विकृतियों का नग्न अंकन एवं जन-मन की निराशाओं में जिजीविषा के साथ-ही-साथ वर्तमान जीवन के मूल्यों और आदर्शों का भी अच्छा उद्घाटन हुआ है। इसके साथ-ही-साथ भाषा की दृष्टि से भी नवीन उपमानों का प्रयोग और नये मुहावरों की तलाश के लिए कवि की तत्परता भी इस कृति को नयी कविता की देहलीज पर ला खड़ा करती है; किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी हम इसे राजस्थानी नये युग की प्रतिनिधि रचना नहीं कह सकते और न ही इसे वर्तमान जीवन को नयी अभिव्यक्ति देने वाली रचना ही माना जा सकता है, क्योंकि कवि का शहर से दूर किसान, ग्रामीण के प्रति गहरी आसक्ति, शहर जीवन को देखने की 'यहां आदमी-आदमी को खा रहा है?' की किसी पुरानी मध्यवर्गीय भावुकतापूर्ण दृष्टि, आधुनिकता को केवल फैशन का पर्याय समझ लेने की अनुचित मनोवृत्ति और इन सबसे बढ़कर वर्तमान जीवन के प्रति उसका सहानुभूतिशून्य रवैया, इसे मूल से कहीं विलग हुआ और कुंठाग्रस्त मन के प्रतिक्रियावादी विचारों का पोषक घोषित कर देते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक जीवन की जिन विडम्बनाओं एवं आज के स्वार्थ, नष्ट भारतीय समाज का जो यथार्थ चित्रण इसमें हुआ है, उसके पीछे अतीत

की अपेक्षा वर्तमान और ग्राम्यजीवन की अपेक्षा शहरी जीवन को हीन सिद्ध करने की भावना प्रबल रही है यही कारण है कि श्री 'सुदामा' का काव्य आम आदमी की विवशता की कहानी नहीं बन सका है। इसी कारण कवि की दृष्टि वर्तमान जीवन में आते हुए बदलाव, टूटते हुए सम्बन्धों, निरन्तर निरर्थक होते जाते रिश्तों और दिनों-दिन स्वकेन्द्रित होते जा रहे मानव के अन्तर की अकुलाहट के चित्रण में सफल नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति के स्तर पर वर्णनात्मक शैली एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता भी उसे द्विवेदीयुगीन कवि के संस्कारों से जोड़े रखती है। वस्तुतः श्री 'सुदामा' का चिन्तन एक ऐसे संस्कारवान आस्थावादी एवं आदर्शवादी मनः चेता का चिन्तन है जो अतीत की उपलब्धियों से अभिभूत है और उसी के परिपार्श्व में खड़े होकर, वर्तमान को देखने को विवश है। उनकी 'आकांक्षा'[1] और 'स्टैण्डर्ड री ममता'[2] नामक कविताओं में अंकित ग्राम्यजीवन का चित्र इस कथन की पुष्टि करता है—

थोड़ा दिन पैलां
हूं गांव में रैतो
गांव फूठरो
दो पासे धोरां सूं घणो घिर्‌योड़ो
आछा ऊजळ निरमळ धोरा
कुदरत रे सिंघासण सा
फोग जिकां पर हर्‌या-भर्‌या
साधक री सुरता सा
मीठे मनरी ममता सा
निष्कामी री सेवा सा[3]

इसके अतिरिक्त भी जिन-जिन विशेषणों में गांव का स्तवन इनमें हुआ है वह कवि की ग्राम्य ममता और उसके चिन्तन-धरातल को स्पष्टतः द्योतित करता है।

इस प्रकार 'समय बायरो' से चली मुक्त छन्द की यह गाड़ी 'चिरोळ में कुत्तो ब्याई' तक पहुंच कर भी नयी कविता की सही राह को नहीं पकड़ पायी। वस्तुतः तो 'राजस्थानी-एक' ही राजस्थानी का वह प्रथम कविता-संकलन है, जिसने राजस्थानी नयी कविता को अपने प्रकृत एवं सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ आकर राजस्थानी कवियों के जीवन के प्रति बदलते नजरिये को साफ-साफ देखा जा सकता है। साथ ही सौन्दर्यबोध की दृष्टि से जो एक बदलाव राजस्थानी कविता में आया है, वह भी यहाँ स्पष्ट दृष्टिगत होता है। कविता अब रोमांस एवं भावुकता की वस्तु न रहकर जीवन का अभिन्न अंग बन गयी है और हृदय की अपेक्षा बुद्धि से उसका सम्बन्ध अधिक निकट का हो गया है। नये कवि का जिन्दगी को देखने, निरखने, परखने का दृष्टिकोण सर्वथा बदल गया है। आज के यथार्थ जीवन की कटुताएँ कुछ इस कदर नग्न होकर कवि के सम्मुख आती हैं कि उसका जिन्दगी के प्रति सारा रोमांटिक

---

१. चिरोळ मे कुत्तो ब्याई, पृ० सं० २६, प्रकाशन काल-१९६६ ई०
२. वही, पृ० सं० ८८
३. आकांक्षा : श्री 'सुदामा', वही, पृ० सं० २६

गयाल हुवा हो गया है। कवि पारस अरोड़ा को आज के व्यक्ति की जिन्दगी पेपरवेट में कैद, रंग एवं गन्धहीन पुष्प की भांति सारहीन प्रतीत होती है—

आप रे 'पेपरवेट' में बन्द
किणी रंग-पुहप री भांत
अेक पारदरसी कैद में
चाट नखीजती जिंदगानी।
जिणनैं आजादी पाछला
पोगा-भूंडा
मगळा अदळावां नै
फगत देखण रो अधिकार
दूजा अधिकारां मांयं
दूजा रो अधिकारी कराय
टस सूं मस हुवण जिसी
उणनैं राखी नी।[1]

यहाँ वर्तमान जीवन की विषमता की जो बात कही गयी है, वह सत्य है, तभी तो श्री कृष्ण गोपाल शर्मा को 'जीवणः एक मिथ्या गुमान'[2] प्रतीत होता है और श्री हरमन चौहान को भी जीवन की सार्थकता एक जली हुई सिगरेट से अधिक प्रतीत नहीं होती—

आयां अब आगा
मिटग्या नरम हुयोड़ी
चाय री घूंट—जिंदगानी।
जळाद्या—गरम सिळ्योड़ी
सिगरेट री फूंक जिंदगानी।
भुनाया भरम पक्योड़ी
पान री थूक—जिंदगानी।[3]

यह बात अलग है कि श्री हरमन चौहान को जिन्दगी की निरर्थकता का यह 'आत्म-ज्ञान' नरेश की 'जिन्दगी' के कारण ही हुआ है—

जिंदगी
दो उंगलियों में दबी
सस्ती सिगरेट के जलते टुकड़े की तरह
जिसे कुछ लम्हों में पीकर
नाली में फेंक दूंगा।[4]

---

१. फिर विद्रोह : श्री पारस अरोड़ा, राजस्थानी-ऐक, पृ० सं० ४४, प्र० का० १९७१
२. ओळमो पृ० सं० २८, मई १९६७
३. आ जिंदगानी : श्री हरमन चौहान, आज रा कवि : [illegible], पृ० सं० ६४, प्रकाशन काल-१९६८ ई०
४. नरेश—नरेश के छन्द, पृ० सं० १०६

जिंदगी की इस निरर्थकता ने और सम्बन्धों की व्यर्थता के अहसास ने ही कवि डा० गोवर्धनसिंह शेखावत को यह लिखने को विवश कर दिया है—

छाजा सूं लटकियोड़ी उदासी
आस्थाहीण भींत सूं घुट्योड़ी सांसा री
अर्थहीण जिंदगी । वगत
रे लँबे हेट सिसके
आपसी समंध
कई कोसां चाल्योड़ा ।
हारयोड़ा पगां री थकान मा लागे ।[1]

इस प्रकार जिन्दगी की निरर्थकता का अहसास आज के हर नये कवि को होता है और वह अपनी रचनाओं में उसकी घोषणा भी करना चाहता है, परन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर जीवन के प्रति यह निरर्थकता-बोध क्यों ? और जब हम इस 'क्यों' पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यांत्रिक सभ्यता की जटिलता, बढ़ते हुए जीवन-संघर्ष और प्रचलित रूढ़ सामाजिक परिपाटियों के कारण व्यक्ति इतना अधिक विवश हो उठा है कि वह इन सबसे घबरा कर एकदम मुक्त होना चाहता है, किन्तु वर्तमान व्यवस्था के रहते यह संभव नहीं है और न ही उसकी इतनी सामर्थ्य ही है कि वह अपने चारों ओर फैले परिस्थितियों के इस जाल को तोड़ सके; फलतः एक विवश छटपटाहट के अहसास को भोगते रहना ही उसकी नियति बन गया है। श्री पारस अरोड़ा की 'थिर विद्रोह'[2] और 'म्हारी मुळक : थारी बेचैनी'[3], श्री गोवर्धनसिंह शेखावत की 'अद्भुत छिण'[4] एवं 'मुरझायोड़ो पल'[5] आदि कविताओं में इस छटपटाहट के स्वरों को स्पष्टतः सुना जा सकता है।

जिन्दगी को निरखने-परखने का यह बदला हुआ नजरिया वस्तुतः हमारे दैनन्दिन, जीवन में आये बदलावों का ही तो परिणाम है। आजादी के बाद के गत २६ वर्षों में आम भारतीय के जीवन में ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं, जिन्हें वह महसूसता तो है किन्तु उसके कारणों को समझने में असमर्थ है। बदली हुई भावभूमि के अनुकूल उसका (विशेषरूप से वर्षों सामन्ती व्यवस्था की डरें की जिन्दगी जीने वाले राजस्थानी का) कोई तालमेल नहीं बैठता है और वह बौद्धिक स्तर पर परिवर्तन की इस गणित को न समझ पाते हुए भी अनुभूति के स्तर पर यह महसूसता रहता है कि कहीं कुछ हो गया है, कहीं कुछ हो रहा है। इस 'कहीं कुछ हो गया है' की स्थिति का ग्राम्यजीवन के सन्दर्भ में श्री तेजसिंह जोधा का 'कठै की व्हैगो है' कविता में बड़ा सटीक अंकन हुआ है। अपनी इस लम्बी कविता में श्री जोधा

---

१. रंग-बदरंग : डा० गोवर्धन शर्मा, राजस्थानी-प्रेस, पृ० सं० २८, १९७१
२. वही, पृ० सं० ४४
३. वही, पृ० सं० ४६
४. वही, पृ० सं० २७
५. वही, पृ० सं० ३६

हाल वा छोरी नीं दीसी
जकी, किरा रै भी गांव छोड़'र जावतां
रो दिया करती
अर वा.......... वा छोरी भी नीं
जकी गांव रे जोबन नैं
कांकड़ में
मियां—मियां सबदां सूं नीं
वां सबदां रै लारै लुकयोड़ी
उतावळी हाफं सूं धरथ दिया करती[1]

यहां इन खोयी लडकियों के माध्यम से दिनों-दिन गांवों से लुप्त होते जा रहे अपनत्व एवं ममत्व के भावों और समाप्त होते जा रहे गाव के अल्हड़ यौवन की ओर संकेत हुआ है। इसी प्रकार इस पूरी कविता में अनेक स्थलों पर बिम्बों एव प्रतीको के सहारे गांव में आये परिवर्तनों को अंकित करने का प्रयास किया गया है। गांव की इन बदलती हुई परिस्थितियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने में जहां श्री जोधा ने बिम्बों एवं प्रतीकों का सहारा लिया है, वहां श्री गोवर्धनसिंह शेखावत ने सीधे-सीधे उन परिवर्तनों को हमारे सम्मुख ला उपस्थित किया है—

मन्दिर में जूओ। भंगी नैं मत छूओ
राजनीति सूं मूंस्योड़ो
बूढ़ो गांव
ओ गांव म्हारो है
चोरी करै पंचायत रो चपरासी
जेवां भरै सरपंच
सिरकारी पीसा सूं
अर लोगां रै सामै झूठी बात बणावै
मन्दिर रै पिछवाड़ै रोज पुजारी
भंगण सूं भांग लड़ावै
ओ गाव म्हारो है
फूट सूं फूट्योड़ो नेता सूं बिदरयोड़ो
अर टाली सुनी बातां सूं भरियोड़ो।[2]

ग्राम्य जीवन में तेजी से आ रहे इस बदलाव को अन्य नये कवियों ने अपने ढंग से महसूसा है। श्री नन्दलाल शर्मा की 'गांव अर हूं'[3] एवं श्री रामस्वरूप 'परेश' की 'एक मांदो गांव घर में'[4] आदि कविताएं इस दृष्टि से दृष्टव्य है। यहां यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजस्थानी के नये कवियों

---

१. लहर, पृ० सं० २४, वर्ष १४, अंक–३
२. गांव : डा० गोवर्धनसिंह शेखावत, राजस्थानी-प्रेस, पृ० सं० ३३
३. गांव अर हूं : श्री नन्दलाल शर्मा, हरावळ, पृ० सं० २०-२१, मार्च, १९७१ ई०
४. एक मांदो गांव घर में : श्री रामस्वरूप 'परेश', जनमभोम, पृ० सं० ७४, वर्ष २, अंक २-३

ने महानगरीय जीवन की विडम्बनाओं के अंकन की अपेक्षा ग्राम्य जीवन के बदलावों को अंकित करने में विशेष रुचि दिखलाई है और यह एक दृष्टि से है भी सही, क्योंकि राजस्थान की वर्तमान स्थिति को देखते हुए महानगरीय जीवन के अभिशापों का अंकन अस्वाभाविक होता, किन्तु केवल स्थानीय एवं क्षेत्रीय जीवन के व्याख्याता एवं प्रस्तोता के रूप में कवि को देखना, कवि के साथ अन्याय होगा। विश्व में घटित होने वाली उन समस्त घटनाओं से विश्व की किसी भी भाषा का चेतनाशील कवि समान रूप से प्रभावित होता है जिनकी चोट सीधी मानवता पर होती है। वियतनाम-युद्ध वर्तमान समय में मानवता को चुनौती देने वाली एक ऐसी ही भयंकर समस्या था। विश्व के प्रबुद्ध जन मानस की तरह राजस्थान का चिन्तनशील साहित्यकार भी इस व्यर्थ के नरसंहार से व्यथित था। इस संदर्भ में कवि भूपतिराम साकरिया की यह मौन व्यथा किसे नहीं सालेगी—

आज सवारए मीठा ऊंघ में
राजा करए री वेळा में
जद घंटाघर री घड़ी
पांच रा टंकोरा बजाया
म्हनें उणां जगायो
नै कयो…………
थांरो बेटो जंग में मरग्यो
अमरीकियां सूं लड़तो वियेटनाम में
वीर री मौत
………… सूयग्यो
………… तोई बगीचा में
गुलाब मुळकता हा
मोगरा मंकता हा
कलियां हंसती ही
नै सँग धरती मोतियां सूं लूंबालूंब हीं
………… तोई म्हूं विचार सकूं हूं
सूंघ सकूं हूं
खावणो पीवणो सँग कर सकूं हूं
अत्याचारां सूं दब्योड़ो
म्हारो मूंडो बन्द क्यूं है।
[illegible] जीवतो हूं [illegible]

इस प्रकार मान[illegible] [illegible] के आगे [illegible] [illegible]ने वाली इन घटनाओं से विश्व के सभी प्रबुद्ध जन समान रूप [illegible] [illegible] को आन्दोलित करने वाली राजस्थान का ज[illegible] [illegible]-मम[illegible] अंत[illegible] नरसंहार ऐसी घटनाओं पर अपनी व्यथा [illegible] पीछे [illegible]

[illegible] हूं : श्री भूपति[illegible] मममती[illegible]

की घटना न केवल भारत को ही व्यथित किये हुए है अपितु संपूर्ण मानवता इस पीड़ा से कराह रही है, और उसकी प्रतिध्वनि विश्व भाषाओं के सामयिक काव्य रचनाओं में बराबर सुनने को मिल रही है। राजस्थानी कवि भी इस ओर सजग हैं। श्री प्रकाश परिमल की 'पद्मा रो घायल चें'रो' इस बात का प्रमाण है—

लोक कंवे
पद्मा रे किनारे
दिन्नू'गे-सिझ्या
लाल-सूरज ऊगे
उथळो मिलै
लाखां करोड़ां
निरदोस लोकां रै
रगत सूं राती
आ पद्मा
दोनूं टैम
सूरज रै दरपण में
आपरो घायल चें'रो
देखं...........[1]

आज की नयी कविता में संत्रास, कुण्ठा, मृत्यु-बोध अजनबीपन एवं एकाकीपन के अहसास तथा क्षणों में बँटे, कटे एवं भोगे जा रहे जीवन की अभिव्यक्ति समान रूप से मिलती है। यद्यपि राजस्थानी में इन सब स्थितियों का व्यापक चित्रण तो नहीं हुआ है, फिर भी ओंकार पारीक, मणि मधुकर, गोवर्धनसिंह शेखावत, रामस्वरूप परेश, ओमप्रकाश भाटी, तेजसिंह जोधा, कृष्णगोपाल शर्मा जैसे कवियों ने समय-समय पर इन भोगी हुई स्थितियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। श्री ओमप्रकाश भाटी की विवशता की यह कहानी 'सन्नाटे' में गूंज रही है—

सन्नाटै रो कड़वास
घूंट घूंट पी लीदो
बैरंग कागद पीड़ा रो
कुण दिन नीं लीदो
रीड़ री हड्डी पै, दरद रा भाटा
सांसा रै हिसाब में, पड़ता रैया घाटा
अमर रो एक थोर
आधो दिन जी लीदो
धड़कन रे दरवाजे यादां री हांकरा
मन री गैल-गैल कांटा पर कांकरा

---

१. राजस्थान भारती, जून १६७१, पृ० सं० ५५

टूटी मूई ऊं ऊदासी रो
आकास हीवी लीदो
सन्नाटें रो कड़वास
घूंट घूंट पी लीदो ।[1]

श्री गोवर्धनसिंह शेखावत की 'मुरझायोड़ो पल' एवं कतिपय 'मिनी कविताओं' में और श्री ओंकार पारीक की अधिकांश 'मिनी कविताओं' मे क्षण की अनुभूति और निरर्थकता-बोध को ईमानदारी के साथ महसास किया गया है —

क. इण गूंजतोड़ं छळावें में
तोड्या जा म्हारी देह
इतियास—पुरुष ![2]

ख. की नी हांडी में
....
आओ कागजी फसला निरखां[3]

ग. आदमी
काकड़ रै माथै
आवता जावता लोगां नैं
निरखण आळो छाज्योड़ो चंवळयो[4]

घ. सांझ
नाज रा टोटा मे
बूझयोड़ा चूला सी[5]

इन मिनी कविताओं मे कटे हुए क्षणों को अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रस्तोतने का प्रयास हुआ है, किन्तु डा० शेखावत और श्री पारीक दोनों की ही मिनी कविताओं मे चमत्कार करने की प्रवृत्ति प्रमुख रही है ।

इधर राजस्थानी मे मिनी कविता (क्षणिका) लेखन की प्रवृत्ति प्रमुख होती जा रही है । जहां डा० गोवर्धनसिंह शेखावत का ऐसी पचास कविताओं का एक कविता संकलन 'किरकर'[6] नाम से अभी प्रकाशित हुआ है वहां 'पिरोळ में कुत्ती ब्याई' और 'आकाशा' जैसी लम्बी कविताएँ लिखने वाले श्री मन्नाराम 'सुदामा' भी इस ओर आकर्षित हुए हैं ।[7] मिनी कविता का प्रेरक यों मूलत: जापान का

१. सन्नाटें रो कड़वास : श्री ओमप्रकाश भाटी, जलमभोम, पृ० सं० २४, वर्ष २, अंक-२-३
२. सतरा नैनी कवितावां : श्री ओंकार पारीक, राजस्थानी ग्रेक, पृ० सं० ५५
३. वही, पृ० सं० ५५
४. पांच कवितावां : डा० गोवर्धनसिंह शेखावत, वही
५. वही
६. किरकर : डा० गोवर्धनसिंह शेखावत, प्र० का०–१९७१ ई०
७. राजस्थान भारती, जून १९७१

'हाइकू' रहा है पर क्षणिक अहसासों एवं अनुभूतियों को—जो आज के लघु मानव के जीवन की सच्चाई हैं—अभिव्यक्ति देने में ये क्षणिकाएं ही सबसे उपयुक्त विधा प्रतीत हुई हैं। जैसा कि इनका नाम है, लगभग वैसा ही उनका स्वभाव है। ये क्षणिक अनुभूतियां पाठक को एक बार तो अवश्य चमत्कृत एवं आकर्षित करती है, किन्तु अपना कोई गहरा प्रभाव उन पर छोड़ नहीं पाती। हां, किसी मजेदार चुटकले या किसी रोचक नवीन परिभाषा की तरह ही कोई-कोई ऐसी क्षणिक अनुभूति अवश्य ही पाठक के मन को खूब भा जाती है और वह जब-तब उसे स्मरण हो आती है। इस प्रकार क्षणों में जीये जा रहे जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करने का इनका यह वैशिष्ट्य ही इनकी सीमा बन जाता है। कोई गूढ़ भाव या विचार या कोई गंभीर मनःस्थिति इनके पीछे न होने के कारण ये काव्योचित गाम्भीर्य को धारण करने में असमर्थ रहती हैं। वस्तुतः इनके लेखन के पीछे पाठक को एकदम चमत्कृत कर देने की मनोवृत्ति प्रमुख रहती है, अतः गाम्भीर्य एवं स्थायी प्रभाव की अपेक्षा इनसे नहीं की जा सकती। कवि की यह मनोवृत्ति कभी-कभी जीवन की एक रसता तो भंग करती है पर जब कोई सप्रयास इनके पीछे पड़ जाता है तब पुनरावृत्ति एवं तदजन्य ऊब आये बिना नहीं रहती। डा० शेखावत की मिनी कविताओं में कई स्थानों पर ऐसा हुआ है, विशेष रूप से वहां, जहां वे परिभाषा करने लगते हैं—

क. गरीबी
घुट्योड़ी सांसा सूं
कळपतो मुसाण[1]
....

ख. अळसाया
चिलकतै भरम रा कागरा
उतरगो
रिस्ता-नाता रो कड़प

वैसे नये सन्दर्भों में पुरानी वस्तु की नई परिभाषा भी कोई गलत बात नहीं है और जहां यह परिभाषा बदले हुए परिवेश में बहुत अधिक सटीक प्रतीत होती है वहां यह अर्थशास्त्रियों की परिभाषा की तरह नीरस नहीं रह जाती है, यथा—

राजनीति
सरेआम
लोगां रै मुंडा आगै
ईमान री अरथी नै
खुमं पर उठाय'र भागती टोळी
अर गीलै मन्नेरै मांय
खोज सूंघती जनता भोळी[2]

---

१. गरीबी, किरकर : डा० गोरधन सिंह शेखावत, पृ० सं० २२, प्रकाशन काल १९७१ ई०
२. राजनीति, किरकर, पृ० सं० १६

यहाँ वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय राजनीति का बहुत ही कम शब्दों में किन्तु सटीक अंकन हुआ है। इसी प्रकार सायास लिखी हुई पंक्तियों की अपेक्षा वे स्थल अधिक प्रभावी बन पड़े हैं, जहाँ अनुभूतियाँ सहज रूप में अभिव्यक्त हुई हैं—

ओळ्यूं
थारी ओळ्यूं
धीमैं धीमैं
हालतै पाणी में
लांबी पतळी तिरती
सांवळी छीयां

यहाँ प्रियतमा की स्मृति को अस्थिर जल में थिरकती लम्बी, पतली श्यामल छाया से जो उपमित किया गया है, वह बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

ऊपर नयी कविता से सम्बन्धित उन स्थितियों पर विचार हुआ है, जिनमें थके हुए मानव की निराशा को विशेष स्वर मिला है, किन्तु नयी कविता का दर्शन पलायनवादी दर्शन नहीं है, जिसमें कि जीवन के पराभूत स्वरूप को ही अभिव्यक्ति मिली हो। नये कवि ने मानव-मन के आशावादी दृष्टिकोण एवं उज्जवल पक्ष को भी बड़े उल्लास के साथ अभिव्यक्त किया है। सर्व श्री पारस अरोड़ा हरमन चौहान, ओंकार पारीक, प्रभृति कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र इन आशावादी स्वरों की अनुगूंज सुनाई पड़ जाती है। परिस्थितियों के साथ साजिश कर मानवता के साथ क्रूरता का खेल खेलने वाले समाज के तथा कथित कर्णधार हर हथकण्डे को काम में लेकर भी कवि के विश्वास को नहीं तोड़ पाये हैं। इतना सब कुछ झेलने के बाद भी कवि के चेहरे की मुस्कान लुप्त नहीं होती है—

इत्ती कुटाई हुया पछै ई
म्हांरा चैरा माथली
मुळक लोप हुवै कोनी
(मुळक री सारास
थांरै पल्लै पड़ै कोनी)
आंख्यां री पीढियां फाट'र
प्रगटै अगन-ललाई
जिणनै देख'र
थांरा दिन तो कांई रात ई
कटै कोनी।[1]

ऊपर नयी कविता के सन्दर्भ में सौन्दर्य-बोध के बदलते दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला जा चुका है। दृष्टि का यह बदलाव उसके अभिव्यक्ति पक्ष में भी आया है। डा० गोवर्धन शेखावत की 'प्रीत' कविता इस दृष्टि से द्रष्टव्य है—

---

१. म्हांरी मुळक : थांरी बेचैनी, श्री पारस अरोड़ा, राजस्थानी-अंक, पृ० सं० ४८,

फागण रै रात री
उणींदी चानणी सी
कुंवारा होटां री
अणबुझी तिरस सी
गीत रै मांय
हबोळा खावती
गळगळी पीड़ सी
रूपाळी देह माथै
जोबन री चढ़ती पाण सी
....

बरफ सूं ठारियोड़ी रात में
निवायो परस सी[1]

यहाँ 'प्रीत' को जिन अमूर्त भावों के माध्यम से वाणी प्रदान की गयी है, यही उसके नये निखरे रूप का रहस्य है। दूर परदेश गये नायक की 'याद' नायिका को अब भी आती है, पर क्यों, यह पूछिये श्री मणि मधुकर से—

भखारियां रीती
भींत लेवड़ा चिगळै
तवो बतळावण करणी चावै
चकळो पड़ूतर नीं दे
ऊंखळी में एक दंत
हड़ हड़ हांसै
डागळै डाकण
फदाका भरै
निस्कारा न्हांकती
घर री धिराणी
मन मांई कळाप करै
आलीजा आज्यो घरां
म धान बिन भूखां मरां[2]

यहाँ परदेश गये प्रियतम का स्मरण नायिका करती तो है, किन्तु इसलिए नहीं कि वह उसके विरह में व्यथित है, अपितु गृह-स्वामी तो इसलिए याद हो आता है कि घर पर खाने-पीने तक

---

१. प्रीत : डा० गोवर्धनसिंह शेखावत, राजस्थानी अंक, पृ० सं० ३०
२. आलीजा आज्यो घरां : श्री मणि मधुकर, राजस्थानी-अंक, पृ०सं० ७१

का सामान समाप्त हो चुका है । यहाँ जिस बदली हुई स्थिति का संकेत है, वहाँ एक मीठी चुटकी भी है। ऐसी ही एक स्थिति पर श्रीमती कमला वर्मा की यह चुटकी भी कम रोचक नहीं है—

आधी रात
पपइयो
पी पी घणी पींपाड मारी
मोर बोलता रैया
मेंढ़क भी टर टराया
नींद में बेखबर सूती ही रैयी
विचारो रिकार्ड कठै ई दूर
चीख्यो——
आजा रे अब मेरा दिल पुकारे ।
नींद उपड़गी
उठ बैठी
दूर परदेश गयोड़ा री
सुध आई
विरह री अनुभूति सूं फेर
नींद ना आई ।[१]

चिन्तन का यह बदलाव वस्तुतः किसी कवि विशेष के विशिष्ट अध्ययन, मनन या संपर्क का परिणाम नहीं है, वस्तुतः इसे युग की हवा का ही प्रभाव कहा जाना चाहिए, तभी तो पुरानी पीढ़ी के श्री रावत सारस्वत तक ने यह लिखने में संकोच नहीं किया—

कायर हा, बुजदिल हा, बेवकूफ हा
आंरा पुरखा
जिका इण निरभागी धरती में,
लुक'र प्राण बचाया ।
लूंठा हा, धीर हा, सायर हा वै
जिका माळ री धरती नैं दाबी राखी
अर देस निकाळो दियो वां नाजोगां नैं
तनतोड़ मेंनत कर भी
जिका दो जूण टुकड़ा नीं तोड़ पाया[२]

जहाँ कुछ समय पूर्व तक इन और इनके साथी कवियों की जिह्वा राजस्थान की आन-बान और शान के गुणगान करते नहीं थकती थी, वहीं ये लोग इस धरती को 'निरभागणी धरती' कहने में नहीं सकुचा रहे हैं और जहाँ अपने पूर्वजों के शौर्य के गुणगान करते-करते ये नहीं अघाते थे, वहीं अब उन्हें कायर और बुजदिल कहना बदलते युग के प्रभाव का ही तो परिणाम है ।

---

१. दोय विचार : श्रीमती कमला वर्मा, जलमभोम, पृ०सं० २५, वर्ष २, अंक २-३
२. माळ : रावत सारस्वत, मरवाणी, पृ० सं० ६, वर्ष ८, अंक-८

इस प्रकार पांच-सात वर्षों की अल्प अवधि में ही सभी नये पुराने कवियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाली राजस्थानी काव्य की यह नव प्रवृत्ति, निःसंदेह अपनी इस उपलब्धि पर गर्व कर सकती है। आज डा० मनोहर शर्मा एव मेघराज 'मुकुल' से लेकर श्री मणि मधुकर एव तेजसिंह जोधा तक नयी पुरानी और बीच की सभी पीढ़ियो के लोग समान रूप से इसकी साधना में लगे हुए है। आज राजस्थानी काव्य-जगत् में चिन्तन, अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर जो यह परिवर्तन आया है, वह किसी आरोपित वाद या विचारधारा का परिणाम नही, अपितु समय की आवश्यकता के तकाजे से आया है।

राजस्थानी नयी कविता के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् अब एक महत्त्वपूर्ण पहलू और शेष रह गया है और वह है हिन्दी नयी कविता बनाम राजस्थानी नयी कविता। यह बात इसलिए भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है कि राजस्थानी के सभी सशक्त नये कवि समान रूप से हिन्दी में भी लिख रहे हैं और हिन्दी नयी कविता से वे चेतना के धरातल पर जुड़े हुए हैं। आज हिन्दी नयी कविता के आन्दोलन को लगभग दो दशक होने जा रहे हैं जबकि राजस्थानी में यह अभी आधा दशक भी नही जो पायी है। अतः ऐसी स्थिति मे यह तुलना महत्त्वपूर्ण ही नहीं, रोचक भी बन जाती है। जहाँ तक हिन्दी की नयी कविता से राजस्थानी नयी कविता के प्रभावित होने का प्रश्न है, यह बात सही है कि राजस्थानी की नयी कविता एक सीमा तक हिन्दी नयी कविता से प्रभावित एव प्रेरित है; किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि वह पूर्णतः हिन्दी का अनुकरण भर है या कि हिन्दी से भिन्न उसका कोई स्वरूप नहीं है।

दोनों को समान धरातल पर रखकर तोलने से दोनों के अन्तर स्पष्ट हो जायेंगे। प्रथम, हिन्दी नयी कविता मे पाश्चात्य साहित्य एवं जीवन दर्शन से प्रेरित होकर, भय, संत्रास, कुण्ठा, लघुता-बोध आदि को जो अभिव्यक्ति मिली है, राजस्थानी कविता उससे बहुत कुछ बची हुई है। इसके अतिरिक्त भी उसमें हिन्दी की तरह यौन-जीवन का छिछला अंकन, भदेस का चित्रण एव आधुनिक जीवन की तथाकथित असंगतियो का सप्रयास अंकन नही हुआ है। इसका मुख्य कारण यही है कि हिन्दी नई कविता के साथ राह अन्वेषण मे जो बहुत सा छद्म, अस्पष्ट एव आरोपित काव्य, प्रवाह की प्रबलता के साथ बह चला था, राजस्थानी की राह साफ होने के कारण वह सब कुछ उसमे नही आ पाया। द्वितीय, राजस्थान का स्वयं का सामाजिक एव नागरिक जीवन ऐसा नहीं रहा है कि यहाँ महानगरों के अभिशप्त जीवन और अत्याधुनिकता के विकृत परिणामों को कहीं देखा या भोगा जावे। ऐसी स्थिति में यदि यहां का कवि उन सबका चित्रण अपने काव्य मे करता है तो यह सब आरोपित होगा।

इसके अतिरिक्त राजस्थानी के नये कवि की सुलझी हुई दृष्टि ने भी आधुनिकता के नाम पर इन सब बवंडरों को काव्य जगत् में प्रविष्ट होने से रोका है। युग की बदली हुई परिस्थितियों को पूर्णतः हृदयंगम करते हुए भी वह सर्वथा अजनबी बन जाना नहीं चाहता। उसे अपने पूर्वजो की उप-लब्धियों से कोई परहेज नही है, अपितु वह तो स्वयं स्वीकार करता है कि—"राजस्थान रो नुंवो —नकार कवि 'आपै' री खोज में घणुमणो लाग्यै रैवे पण, आपरी 'हवा' और 'हिरणो' रै दिकाई अणुमैलो

नी धर्ण । मरुधर की रेत-रमतां में अपनायत जाडी है ।"[1] और उसका यह अपनत्व, ममत्व का भाव उसे अपने धरातल से कटने नहीं देता ।

हिन्दी नव काव्य से भिन्न राजस्थानी नव काव्य में नये वादों की बाढ़ भी नहीं आयी है । यहाँ न तो कभी सनातन सूर्योदयी कविता, अभिनव काव्य, बीट कविता, गीत कविता, नवगीत, अगीत, ऐण्टी गीत, युयुत्सावादी कविता, टटकी कविता, अकविता या अ-कविता, अस्वीकृत कविता, आज की कविता, नव प्रगतिशील कविता, अगली कविता[2] जैसे अल्पजीवी सप्रयास आरोपित एवं स्थापित होने की ललक से योजनाबद्ध छोड़े गये काव्यान्दोलन ही जन्मे और न ही अपने से पूर्व के समस्त काव्य को नकारते हुए केवल मात्र अपने को ही एकमात्र सही काव्य सर्जेता ही घोषित किया गया ।[3]

इस प्रकार राजस्थानी की नयी कविता के आन्दोलन की बाढ़ से, बचे रहने के कई कारण हो सकते हैं । प्रथम तो राजस्थानी साहित्य-क्षेत्र में किसी भी कवि के सम्मुख स्थापित होने जैसी कोई समस्या नहीं रही है । यहाँ तो प्रकाशन, वितरण आदि के सीमित दायरे के कारण जो भी नया कवि काव्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ उसका हृदय से स्वागत किया गया है । अतः नये रचनाकारों के सामने स्थापित एवं चर्चित होने जैसी कोई समस्या नहीं रही है । द्वितीय, हिन्दी की अपेक्षा राजस्थानी में नयी कविता के दौर को शुरू हुए भी बहुत कम समय हुआ है और अभी तक तो यह पारम्परिक शैली की काव्य-रचनाओं के समक्ष अपना वर्चस्व स्थापित करने में ही जुटी हुई है, अतः ऐसी स्थिति में राजस्थानी नयी कविता का इन सब बवंडरों से बचा रहना स्वाभाविक ही है ।

---

१. अचीड़ रायां ठा पड़ैला : मणि मधुकर, राजस्थानी-ग्रंथ, पृ० सं ६५
२. देखें, नयी कविता विसिम किसिम की कविता,
नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, डा० जगदीश गुप्त, पृ० सं० २१६, प्र० का० १९६६ ई०
३. इधर में राजस्थानी में कुछ एक नये कवियों में अपने से पूर्व को नकारने की प्रवृत्ति कहीं-कहीं उभरी है । राजस्थानी-ग्रंथ की 'सम्पादकी' में व्यक्त विचार, अप्रत्यक्ष रूप से उसी प्रवृत्ति के पोषक नहीं तो कम-से-कम प्रेरित अवश्य कहे जायेंगे । विशेष रूप से श्री जोधा का यह कथन- 'ई आवण आळी कविता सूं पैली कविता मनै जमीन कोनी ही, पंच भेळवाड़ हो सारो मृदण नै । अर क्यूंक आवण आळी कविता जमीन मावण-आळी ही पुख्ता-जमीन, सो सांई अरथ में तो कविता री सरूआत ई उण सूं ई हुँणी ही ।'-इसी बात की पुष्टि करता है ।
'सम्पादकी' राजस्थानी-ग्रंथ, स० तेजसिंह जोधा, पृ० सं० २०, प्रकाशन काल १९७१ ई०

निष्कर्ष

अब तक के विवेचन में हमने आधुनिक राजस्थानी पद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं का जो प्रवृत्तिमूलक अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर आधुनिक राजस्थानी पद्य साहित्य की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. आधुनिक राजस्थानी प्रबन्धकाव्यों के मुख्य आधार तो ऐतिहासिक, धार्मिक एवं पौराणिक आख्यान ही रहे हैं, किन्तु सामयिक चिन्तन का प्रभाव उनमें स्पष्ट लक्षित होता है। इन प्रबन्धकाव्यों के सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह रही है कि इनमें यत्र-तत्र स्थानीय प्रभाव उभर आया है तथा राजस्थानी संस्कृति ने भी इन्हें एक सीमा तक प्रभावित किया है।

२. प्रकृति-काव्यों की प्रधानता आधुनिक राजस्थानी साहित्य की एक मुख्य बात कही जा सकती है। प्राचीन राजस्थानी काव्यों से भिन्न इनमें प्रकृति का आलम्बन रूप में विस्तार से चित्रण हुआ है। प्रकृति का जीवन सापेक्ष अंकन इनकी दूसरी उल्लेखनीय उपलब्धि कही जा सकती है।

३. राजस्थानी के आधुनिक गीतकारों ने जीवन के हर पहलू को छूने का प्रयास किया है। इन गीतों की पृष्ठभूमि में राजस्थानी का लोक संगीत विशेष सक्रिय रहा है।

४. स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जन-जागृति और समाज-सुधार का दायित्व राजस्थान के प्रगतिशील कवियों ने बड़े साहस के साथ संभाला। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने शताब्दियों से दबे-कुचले साधारण व्यक्ति के समर्थन में अपनी आवाज बुलन्द की और अब परिवर्तित परिस्थितियों में वे भ्रष्ट शासन और विकृत सामाजिक-व्यवस्था पर तीव्र व्यंग्य-प्रहार कर रहे हैं।

५. राजस्थान के यशस्वी ऐतिहासिक प्रसंगों पर लिखी गयी शताधिक पद्यकथाओं का महत्त्व व्यापक जनसमुदाय को अपनी मातृभूमि और मातृभाषा राजस्थानी के प्रति आकर्षित करने की दृष्टि से विशेष रहा है।

६. राजस्थानी की नयी कविता हिन्दी नयी कविता से प्रेरित-प्रभावित अवश्य रही है, किन्तु अपनी जमीन से जुड़ी होने के कारण हम उसे हिन्दी का प्रतिरूप भर नहीं कह सकते। वह अपने क्षेत्र के सामयिक जीवन को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने में सचेष्ट है।

मोटे रूप में आधुनिक राजस्थानी पद्य साहित्य की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. आधुनिक पद्य साहित्य में प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा मुक्तक काव्य-संग्रहों की संख्या बहुत अधिक रही है।

२. आधुनिक कवियों का झुकाव लोक-जीवन एवं लोक-साहित्य की ओर विशेष रहा है।

३. प्राचीन कवियों की अपेक्षा आधुनिक कवियों ने उन्मुक्त दृष्टि का परिचय देते हुए अपनी कृतियों में प्रकृति का चित्रण विस्तार से किया है।

४. आधुनिक कवि काव्य-शास्त्रीय नियमों या विधि-विधानों का कठोरता से पालन करने में विश्वास नहीं रखता।

५. काव्य भाषा की प्राचीनता के प्रति इस युग से पूर्व के कवियों में जो एक मोह रहा, आज का कवि उससे मुक्त हो चुका है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आज की कविता सामान्य व्यक्ति के अधिक निकट है।

पंचम खण्ड

उपसंहार

उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

गत सत्तर वर्षों के राजस्थानी साहित्य का इतिहास सामन्ती परिवेश से निरन्तर अलग हटते जाने और आम आदमी के अधिकाधिक निकट आने, उसे सही रूप मे समझने तथा प्रस्तुत करने का इतिहास रहा है। आधुनिक युग में सामान्य व्यक्ति को जो इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, वह इस युग के साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इससे पूर्व सामान्यतः साहित्य में साधारण व्यक्ति को कोई स्थान नही था। वह अधिकांशतः राजा-महाराजाओं एवं आश्रयदाताओं के इच्छानुरूप लिखा जाता रहा या विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में ही उसकी सृष्टि होती रही। वैसे राजस्थानी साहित्य की यह विशेषता अवश्य रही है कि उसमें राजाओं और सामन्तों के शौर्य-वर्णन की भाँति ही किसी भी सामान्य वीर के असाधारण शौर्य का बखान भी बड़े उत्साह के साथ किया गया है। इस प्रकार प्राचीन राजस्थानी साहित्य के सन्दर्भ मे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह केवल शासकों का ही साहित्य रहा, फिर भी यह तो निश्चित है कि आज जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति साहित्य का आधार बना हुआ है, उसकी वैसी स्थिति उस समय नही थी। उस समय सामान्य वीर की प्रशंसा एवं प्रशस्ति मे जो कुछ लिखा गया, उसके पीछे वीर-पूजा की भावना प्रबल रही, उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण नहीं। दूसरे शब्दों में यहाँ सामान्य व्यक्ति को नही, उसके असामान्य कार्यों की पूछ थी।

इस प्रकार आधुनिक साहित्यकार की दृष्टि में जो यह भारी परिवर्तन आया है, उसने केवल कथ्य को ही प्रभावित नही किया अपितु भाषा, शिल्प एवं शैली को भी बहुत कुछ नया रूप प्रदान किया है। आज गद्य की भाषा तो बोलचाल की भाषा है ही, किन्तु कविता के क्षेत्र में भी उसने प्राचीनता के मोह से मुक्ति प्राप्त करली है। आज की कविता काव्यशास्त्रीय बन्धनों और व्यर्थ की आलंकारिकता के बोझ से मुक्त होकर अपने सहज किन्तु अधिक प्रभावी रूप मे सामने आयी है।

कविता की भाँति ही गद्य के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि प्राचीन राजस्थानी गद्य-साहित्य की परम्परा कदाचित् उत्तर भारत की सबसे अधिक समृद्ध परम्परा रही है, फिर भी आज की परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसका ऐतिहासिक मूल्य ही अधिक है, सामयिक महत्त्व नगण्य। आज गद्य के क्षेत्र मे युगानुरूप उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबन्ध, समालोचना आदि जिन नवीन विधाओं का सूत्रपात हुआ है उनका प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य से कोई सीधा सम्बन्ध नही है। प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य की अधिकांश रचनाओं में जीवन के प्रति जो एक रोमांटिक दृष्टि पायी जाती है, उसका स्थान आज ठोस यथार्थ ने ग्रहण कर लिया है। फलस्वरूप अलौकिक एवं अविश्वसनीय प्रसंगों तथा वायवी कल्पनाओं का तो कोई स्थान ही नहीं रहा है, किन्तु साथ-ही-साथ 'हीरो' की 'इमेज' भी खण्डित हुई है। आज का कथाकार किसी असाधारण शौर्य एवं

प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति को कथानायक बनाने की अपेक्षा जीवन की कठोरताओं से जूझते किसी साधारण व्यक्ति की व्यथा-कथा को अपने अधिक अनुकूल पायेगा।

कथ्य की भाँति ही आज के गद्य साहित्य की शैली भी यथार्थ के अधिक निकट है। प्राचीन गद्य साहित्य की वर्णन-प्रधान, अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना पूर्ण शैली का त्याग तो आज का गद्यकार कर ही चुका है, पर साथ-ही-साथ तुक और लय के माध्यम से गद्य में भी एक चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति से भी वह मुक्त हो चुका है।

गद्य और पद्य साहित्य की इन उपलब्धियों के अतिरिक्त, प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता की स्वीकृति और आलम्बन रूप में उसका विस्तार से वर्णन, पत्रकारिता का विकास एवं साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य आदि अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

ऊपर गत सत्तर वर्षों के राजस्थानी साहित्य की उपलब्धियों का संक्षिप्त विवेचन हुआ है। इस विवेचन में हमने राजस्थानी के प्राचीन साहित्य को ही मुख्य रूप से सामने (ध्यान में) रखा किन्तु जब हम इन्हीं सत्तर वर्षों की अवधि में सर्जित अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य, विशेष रूप से हिन्दी साहित्य को दृष्टिपथ में रखकर विचार करते हैं तो पाते हैं कि उनकी तुलना में राजस्थानी साहित्य के विकास की गति काफी धीमी रही है। आगे किंचित् विस्तार से उन सब परिस्थितियों पर विचार करेंगे, जिनके कारण राजस्थानी का आधुनिक साहित्य हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की वर्तमान स्थिति तक नहीं पहुँच पाया है।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य की विकास गति धीमी रहने के मुख्य कारण यहाँ की राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों में निहित हैं। समुद्र तट से दूर होने के कारण पश्चिमी देशों के सम्पर्क में यह प्रदेश बहुत बाद में आया, फलस्वरूप पश्चिम-जगत् की वैचारिक, वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांति से यहाँ का सामान्य-जन उस समय सर्वथा अपरिचित था, जबकि भारत के समुद्रतटीय बंगाल, मद्रास, गुजरात, महाराष्ट्र प्रभृति प्रान्त इन सबसे परिचित होकर विकास के नवपथ पर चल चुके थे। ऐसी स्थिति में राजस्थान इन प्रान्तों की तुलना में हर दृष्टि से काफी पिछड़ गया, साहित्य पर भी इस स्थिति का प्रभाव अवश्यम्भावी रूप से पड़ा। आज, जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति को २५ वर्ष हो चुके हैं, राजस्थान और अन्य प्रान्तों के बीच की यह खाई पट नहीं सकी है।

राजनैतिक दृष्टि से जहाँ अंग्रेजों ने भारत के अधिकांश भू-भाग को अपने सीधे नियन्त्रण में लेकर उन क्षेत्रों में पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति और शासन-प्रणाली को लागू किया, वहीं, उन्होंने राजस्थान का शासन अपनी रक्षा पंक्ति के रूप में यहाँ के राजाओं के ही हाथ में रहने दिया, जो बाह्य आक्रमणों के भय से मुक्त होकर अधिक विलासी, क्रूर और निश्चिन्त हो गये थे। इन राजाओं का सारा प्रयास अपनी जनता को नवयुग के प्रकाश से दूर रखने में लगा रहा। उनकी रीति-नीतियों का ही यह परिणाम हुआ कि राजस्थान शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पिछड़ गया और यहाँ का साहित्य भी नवीन विचारों के अभाव में पुरातनगामी बना रह गया। जनता और राज्य दोनों ओर से नये विचारों को प्रोत्साहन न मिल पाने के कारण साहित्य में युगानुरूप नवीन विचारों का समावेश बहुत कम और विलम्ब से हो पाया।

२० वीं सदी के प्रारम्भ से ही हिन्दी का प्रभाव इस क्षेत्र में बढ़ता जा रहा था। यहाँ के प्राचीन साहित्य से परिचय के अभाव में विदेशी विद्वानों ने राजस्थान प्रदेश को हिन्दी प्रदेश का ही एक

अंग माना तथा यहाँ की भाषा को हिन्दी ही बतलाया; परिणाम स्वरूप यहाँ के शासकों और थोड़े बहुत जो बुद्धिजीवी थे उन्होंने भी व्यवहार के लिये हिन्दी को ही अपना लिया। इस प्रकार विद्वत् वर्ग एवं शासक वर्ग दोनों द्वारा ही राजस्थान की भाषा हिन्दी स्वीकारे जाने का परिणाम यह हुआ कि राजस्थानी साहित्य सर्जन को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। पाश्चात्य सभ्यता एवं शिक्षा के संपर्क में आये विद्वानों ने साहित्य-सर्जन और अन्य-अन्य कार्यों के लिए हिन्दी को ही अपना लिया, फलस्वरूप विद्वत् समाज के सहयोग एवं प्रोत्साहन से वंचित राजस्थानी साहित्य अपेक्षित प्रगति नहीं कर पाया।

इसके अतिरिक्त राजस्थान में प्रारंभिक शिक्षा के लिये भी शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को स्वीकृति मिल गयी, फलतः यहाँ हिन्दी का विकास दिनों-दिन बढ़ता गया और राजस्थानी केवल कतिपय पारम्परिक रुचि के व्यक्तियों तक ही सीमित रह गयी। उधर शिक्षा में स्थान न मिल पाने के कारण राजस्थानी के पाठक-वर्ग का निर्माण नहीं हो सका, अतः मांग के अभाव में साहित्य का प्रकाशन एवं लेखन भी नहीं पनप सका। परिणाम यह हुआ कि जो लोग अन्तःप्रेरणा और रुचि के कारण राजस्थानी में लिखा करते थे उनका अधिकांश साहित्य प्रकाशन के अभाव में पाण्डुलिपियों के रूप में ही धरा रहा।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य की गति मे अपेक्षित तीव्रता न आ पाने का एक मुख्य कारण यह भी रहा कि हिन्दी या अन्य समसामयिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को जिस मध्यमवर्गीय बुद्धि-जीवी वर्ग का ठोस आधार प्राप्त हुआ, वह राजस्थानी साहित्य को नहीं मिल पाया। शिक्षा की भारी कमी और यहाँ के अधिकांश प्रतिभाशाली लोगों की व्यापारिक रुझान के कारण स्थानीय बुद्धिजीवियों का कोई प्रभावी वर्ग अस्तित्व में नहीं आ पाया। शिक्षा, रेलवे चिकित्सा एवं अदालतों आदि विभिन्न राजकीय सेवाओं में जो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी लोग कार्यरत थे, उनमें अधिकांश राजस्थान से बाहर यू० पी० आदि अन्य प्रान्तों के रहने वाले थे, जिनका राजस्थानी भाषा-साहित्य से लगाव होने का सामान्य स्थितियों में कोई प्रश्न नहीं था। ऐसी स्थिति में राजस्थानी समर्थक बुद्धिजीवी वर्ग के अभाव में यहाँ का आधुनिक साहित्य यदि अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की तुलना में पिछड़ जाये तो आश्चर्य क्या ?

आधुनिक राजस्थानी साहित्य की मंद गति का एक कारण यह भी रहा कि इस बीसवीं शताब्दी में अभी तक राजस्थानी साहित्य में किसी एक ऐसे प्रभावशाली साहित्यकार का प्रादुर्भाव नहीं हुआ जो रवीन्द्र, प्रसाद या प्रेमचन्द की तरह अपने सम्पूर्ण युग का नेतृत्व कर सके और उसे गति प्रदान कर सके। यही नहीं, हिन्दी में जिस प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसी साधक और एकव्रती प्रतिभा ने हिन्दी साहित्य के एक पूरे युग को अपनी प्रतिभा के बल पर सुदृढ़ एवं सशक्त बनाया, वैसी किसी प्रतिभा का राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र में अभाव रहा है। इन सत्तर वर्षों की अवधि में अकेले शिवचन्द्र भरतिया ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ राजस्थानी के नवीन साहित्य को सामने लाने का प्रयास किया। यह उन्हीं के प्रयासों का परिणाम समझना चाहिए कि उस समय के साहित्यिक रुचि-सम्पन्न प्रवासी राजस्थानियों के एक बड़े वर्ग ने उनके पद का अनुसरण किया और सदैव उन्हें अपना प्रेरक माना, किन्तु राजस्थान—जो कि राजस्थानी साहित्य की मुख्य क्रीड़ा-स्थली है—में ऐसी कोई प्रतिमा उस समय सामने नहीं आयी।

वर्तमान युग में राजस्थानी की स्थिति के कमजोर बने रहने का एक कारण और भी है, यह यह कि जिस प्रकार देवनागरी लिपि और हिन्दी (खड़ी बोली) के प्रचार-प्रसार के लिए प्रचारकों की एक सबल शृंखला एक के बाद एक के रूप में बनती रही, वैसा कुछ राजस्थानी के सन्दर्भ में घटित नहीं हुआ। राजस्थानी के प्रचार-प्रसार के लिए जहाँ कहीं से भी आवाज उठी या जो कुछ प्रयत्न हुए, वे अधिकांश में वैयक्तिक स्तर पर ही सीमित रहे और व्यापक जन-समर्थन तैयार करने में असफल रहे।

आधुनिक साहित्य का एक बहुत बड़ा सम्बल उस भाषा विशेष की पत्र-पत्रिकाएँ होती हैं। यह राजस्थानी साहित्य का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि राजस्थान में १९०० ई० से १९४६ ई० तक की लगभग ५ दशक की अवधि में 'आगीवाण' के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा का कोई पत्र नहीं निकाला। यह पत्र भी साहित्यिक की अपेक्षा राजनैतिक रुझान वाला अधिक था और बहुत कम समय तक ही प्रकाशित हुआ। ऐसी स्थिति में बहुत सी नयी प्रतिभाओं को सामने आने का अवसर ही नहीं मिला और प्रकाशन-प्रोत्साहन के अभाव में, हतोत्साहित होकर वे प्रतिभाएँ या तो मौन हो गईं अन्यथा हिन्दी की ओर मुड़ती चलीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् यद्यपि पत्र-पत्रिकाओं का एकान्तिक अभाव तो नहीं रहा, किन्तु साधनों के अभाव, सुलझी हुई प्रखर संपादकीय समझ की कमी और इन पत्रिकाओं की अनियमितता ने राजस्थानी साहित्य को वह सब कुछ नहीं दिया, जिसकी इनसे अपेक्षा थी।

इन सब स्थितियों के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा-साहित्य की वर्तमान स्थिति के लिए एक सीमा तक राजस्थान के राजनैतिक नेताओं को भी दोषी माना जायेगा। बिजोलिया-सत्याग्रह से लेकर राजस्थान की विभिन्न रियासतों में प्रजामण्डलों के माध्यम से चलाये गये सभी आन्दोलनों में यहाँ के राजनेताओं ने इस बात को बराबर महसूस किया कि यहाँ जन-जागृति के लिए जनभाषा ही एकमात्र सम्बल है। इसीलिए उन लोगों ने राजस्थानी भाषा में विभिन्न उद्‌बोधनात्मक एवं प्रेरणाप्रद गीतों की रचना की तथा 'ऊपरमाळ को डंको' (हस्तलिखित) एवं 'आगीवाण' जैसे राजस्थानी पत्रों का संचालन किया। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व जो राजस्थानी भाषा उनके लिए जन-सम्पर्क का एकमेव माध्यम थी, वही स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् एकदम बेगानी हो गयी। तभी तो जब भारतीय संविधान-निर्मात्री में प्रान्तीय प्रतिनिधि, अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं के यथेष्ट स्थान के लिए सजग एवं सचेष्ट थे, तब यहाँ के लोकनेता उस विषय पर बिल्कुल मौन थे और भारतीय स्तर तो क्या प्रान्तीय स्तर पर भी इस हेतु कोई ठोस कदम नहीं उठा पाये।

उपर्युक्त सभी स्थितियों पर विचार करते हैं तो एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि क्या राजस्थानी साहित्य की स्थिति सदैव ऐसी ही बनी रहेगी? क्या वह अपनी विकास गति को तीव्र नहीं कर पायेगा? क्या वह अपने और अन्य समसामयिक भारतीय भाषाओं के मध्य बनी हुई खाई को पाट नहीं सकेगा? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए राजस्थानी साहित्य की वर्तमान स्थिति और उन सब गतिविधियों पर दृष्टिपात करना होगा जो कि सर्जनात्मक साहित्य से सीधी जुड़ी हुई न होकर भी उसके भविष्य-निर्धारण की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से जब हम चार-पाँच वर्षों की साहित्यिक एवं इतर गतिविधियों पर विचार करते हैं तो यह सहज ही विश्वास होता है कि अब राजस्थानी साहित्य के सर्जन की गति काफी तीव्र होगी और उसका क्षेत्र भी पूर्वापेक्षा काफी बढ़ जायेगा।

इस विश्वास का पहला कारण गत चार-पाँच वर्षों की अवधि में राजस्थानी के सर्जनात्मक साहित्य की स्थितियों का बदल जाना रहा है। एक ओर सभी नये पुराने लेखकों में आत्मालोचन की प्रवृत्ति बढ़ी है और सामयिक साहित्य के स्वस्थ मूल्यांकन के साथ, बहुत कुछ नया पाने व करने की ललक उनमें जगी है तो दूसरी ओर यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' एवं मणि मधुकर जैसे हिन्दी के चर्चित हस्ताक्षरों में अपनी मातृभाषा राजस्थानी के प्रति विशेष दायित्व-बोध के भाव जगे हैं।

इन सब स्थितियों को देखते हुए सहज ही यह विश्वास जगता है कि राजस्थानी साहित्य यथाशीघ्र मानसिक दृष्टि से उस धरातल से जुड़ जायेगा जहाँ आज सामयिक हिन्दी साहित्य खड़ा है।

उधर सर्जनात्मक साहित्य से इतर ऐसी कुछ घटनाएँ पिछले चार-पाँच वर्षों में घटित हुई हैं—जो राजस्थानी साहित्य लेखन को अधिक गतिशील बनाने की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं। ये घटनाएँ हैं—केन्द्रीय साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा राजस्थानी भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान करना, राजस्थान सरकार द्वारा राजस्थानी भाषा साहित्य के विकास हेतु बीकानेर में 'राजस्थानी भाषा साहित्य संगम (अकादमी)',[1] की स्थापना करना, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान द्वारा उच्च माध्यमिक स्तर पर राजस्थानी को एक वैकल्पिक विषय के रूप में मान्यता प्रदान करना और राजस्थान में विश्वविद्यालीय स्तर पर राजस्थानी साहित्य के विशेष अध्ययन का प्रारंभ।

---

१. सम्प्रति 'राजस्थानी भाषा साहित्य संगम (अकादमी)', बीकानेर यह संस्था 'राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम)', उदयपुर की एक शाखा के रूप में कार्य कर रही है।
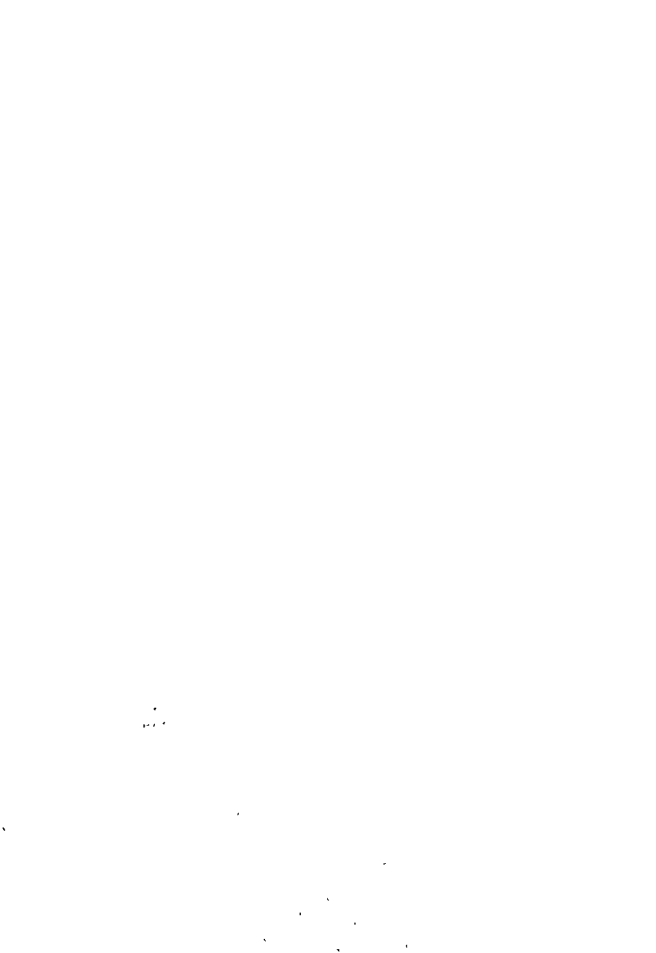
सहायक ग्रन्थों की सूची

क. आधार ग्रन्थ

१. गद्य ग्रन्थ

उपन्यास

१. आभै पटकी : श्रीलाल नथमल जोशी, सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर (१९५६ ई०)

२. आभळदे : श्री रामदत्त सांकृत्य

३. कनक सुन्दर : शिवचन्द्र भरतिया

४. चम्पा : श्रीनारायण अग्रवाल, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मंडल, पामणगांव (सं १९८२)

५. तीडोराव (लोक उपन्यास) : विजयदान देथा

६. धोरां रो धोरी : श्रीलाल नथमल जोशी, राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर, (१९६८ ई०)

७. परदेसी री गोरड़ी : मूलचन्द प्राणेश, राजस्थानी भाषा प्रचारक प्रकाशन, बीकानेर (सं० २०२२)

८. मां रो बदळो (लोक उपन्यास) भाग १-२ : विजयदान देथा, रूपायन संस्थान बोरुंदा, (सं० २०२४)

९. मैकती काया : मुळकती धरती : श्री अन्नाराम 'सुदामा', धरती प्रकाशन, उदयरामसर

१०. हूं गोरी किण पीवरी : यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', राजस्थान भाषा प्रचार सभा, जयपुर (१९६९ ई०)

कहानी-संग्रह

११. अमर चूनड़ी : नृसिंह राजपुरोहित, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर (१९६९ ई०)

१२. आंधें नै आंख्यां : अन्नाराम 'सुदामा', धरती प्रकाशन, उदयरामसर

१३. कन्यादान : डा० मनोहर शर्मा, राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम) उदयपुर (१९७१ ई०)

१४. ग्होपो : नानूराम संस्कर्ता, राजस्थानी भाषा प्रचार प्रकाशन, बीकानेर (सं० २०२१)

१५. घर की भाय : नानूराम संस्कर्ता, लोक साहित्य प्रतिष्ठान, कालू (१९७० ई०)

१६. घर की रेल : नानूराम संस्कर्ता, लोक साहित्य प्रतिष्ठान, कालू (१९६८ ई०)

१७. दस दोख : नानूराम संस्कर्ता, राजस्थानी भाषा प्रचार प्रकाशन, बीकानेर (सं० २०२१)

१८. पाबूजी री बात : लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत, (सं० २०१८)

१९. बरस गांठ : मुरलीधर व्यास, सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर (सं० २०१३)

२०. राजस्थान के कहानीकार (राजस्थानी) : सं० दीनदयाल ओझा, राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर।

२१. रातवासो : नृसिंह राजपुरोहित, नीलकण्ठ प्रकाशन, सांडेराव (१९६१ ई०)

२२. साहेलर : बैजनाथ पंवार, राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर

नाटक

२३. अवल बड़ी कि भैंस : श्रीनारायण अग्रवाल, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मंडल, धामणगांव (सं० १९८२)

२४. कन्या विक्री : बालकृष्ण लाहोटी, मारवाड़ी प्रेस प्रकाशन विभाग, अफसगंज हैदराबाद (१९३८ ई०)

२५. कलकतिया बाबू : भगवतीप्रसाद दारुका (सं० १९७९)

२६. कलियुगी कृष्ण रुक्मण नाटक : श्रीनारायण अग्रवाल, बाल मित्र एलिचपुर, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मंडल, धामणगांव (सं० १९७९)

२७. केसर विलास : शिवचन्द्र भरतिया, (प्रथम संस्करण, १९०० ई०)

२८. जयपुर की ज्यौणार : मदनमोहन सिद्ध, सिद्ध हिन्दी प्रचारक कार्यालय, मिश्र राजाजी का रास्ता, जयपुर

२९. ढळती फिरती छाया : भगवतीप्रसाद दारुका (सं० १९७७)

३०. ढोला मरवण : भरत व्यास, राजस्थान कला मंदिर, बहादुर हाऊस, पोद्दन्दर रोड, बम्बई, (सं० २००९)

३१. धर्मपाल : बाबू गंगाराम अग्रवाल

३२. नई बीनणी : जमनाप्रसाद पचौरिया, राजस्थान ड्रामेटिक सोसाईटी, ८ बी, दूसरी फणस वाड़ी लेन, बम्बई–२ (१९९२ ई०)

३३. पन्ना धाय : आशाचन्द भण्डारी, लक्ष्मी पुस्तक भंडार, जोधपुर, (१९९३)

३४. प्रणवीर प्रताप : गिरधरलाल शास्त्री, व्यास बधू, व्यासाश्रम, ब्रह्मपोल, उदयपुर (राज०),

३५. फाटका जंजाल नाटक : शिवचन्द्र भरतिया (सं० १९९४)

३६. बाल ब्याव को फार्स : नारायणदासजी सारड़ा (सं० १९८१)

३७. बाल विवाह : भगवतीप्रसाद दारुका (१९२० ई०)

३८. बुढ़ापा की सगाई : शिवचन्द्र भरतिया (१९०९ ई०)

३९. भाग्योदय नाटक : श्रीनारायण अग्रवाल, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मंडल, धामणगांव (सं०१९८१)

४०. महाभारत को श्रीगणेश : श्रीनारायण अग्रवाल, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मंडल, धामणगांव (सं० १९८१)

४१. मारवाड़ी मौसर और सगाई जंजाल नाटक : गुलाबचन्द नागोरी, मारवाड़ी भाषा प्रचारक मंडल, धामणगांव (सं० १९८०)

४२. रम्भा रमण : मथुरादास भट्ट (१९२० ई०)

४३. रंगीलो मारवाड़ : भरत व्यास, व्यास सदन, ९/८ विट्ठलवाड़ी, धिर्वा लेन, बम्बई (सं० २००४)

४४. विद्या उदय नाटक : श्रीनारायण अग्रवाल (सं० १९७८)

४५. वृद्ध विवाह : भगवतीप्रसाद दारुका, रामलाल नेमाणी, मनिकराम प्रेस, कलकत्ता (सं० १९९०)

४६. सीठणा सुधार : भगवतीप्रसाद दारुका (सं० १९८०)

एकांकी-संग्रह

४७. आदर्श विद्यार्थी : कन्हैयालाल दूगड़, ग्राम ज्योति केन्द्र, सरदारशहर (१९५८ ई०)
४८. इब तो चेतो : नागराज शर्मा, बिरला एजूकेशन ट्रस्ट, पिलानी (१९६३ ई०)
४९. कुमतो फौज में : मालचन्द कीला, दीवट प्रकासण, लाडनूं (१९६७ ई०)
५०. गांव सुधार या गोमा जाट : श्रीनाथ मोदी, ज्ञान भंडार, जोधपुर (सं० २००५)
५१. ठा पड़बा लागी : मालचन्द कीला : दीवट प्रकासण, लाडनूं (१९६७ ई०)
५२. देश रै वास्ते : डा० आशाचन्द भंडारी (१९६७ ई०)
५३. देश रो हेलो सुरग री पुकार : रामदत्त सांकृत्य
५४. नहरी झगड़ो : निरंजननाथ आचार्य
५५. नूंवो मारग : दिनेश खरे, अशोक प्रकाशन, अमर निवास, सुभाष रोड, अशोक नगर, जयपुर-१, (१९६२ ई०)
५६. बोळावण या प्रतिज्ञापूर्ति : सूर्यकरण पारीक
५७. राजस्थानी एकांकी संग्रह : गणपतिचन्द्र भंडारी, राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर (१९६६ ई०)
५८. सतरंगिणी : गोविन्दलाल माथुर, नेशनल प्रिन्टर्स, पब्लि० को-आपरेटिव सोसाइटी, जोधपुर (१९५५ ई०)

विविध

५९. उणियारा (संस्मरण) : शिवराज छंगाणी, कल्पना प्रकाशन, बीकानेर (१९७० ई०)
६०. गळगचिया (गद्य काव्य) : कन्हैयालाल सेठिया, रामनिवास ढंढारिया, आर्यावर्त प्रकाशन गृह, चौरंगी रोड, कलकत्ता-१३ (सं० २०१७)
६१. जूना जीवता चित्राम (रेखाचित्र) : मुरलीधर व्यास, मोहनलाल पुरोहित, राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर (१९६५ ई०)
६२. राजस्थानी निबन्ध संग्रह : चन्द्रसिंह, राजस्थानी साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर (१९६६ ई०)
६३. सबड़का (रेखाचित्र) : श्रीलाल नथमल जोशी, राजस्थानी साहित्य परिषद, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता (१९६० ई०)

२. पद्य ग्रन्थ

कविता

प्रबन्ध-काव्य

६४. अन्तरजामी : डा० मनोहर शर्मा
६५. अमरफल : डा० मनोहर शर्मा
६६. ऊंट्यां को बियलो : बनवारीलाल मिश्र, सुमन प्रकाशन, चिड़ावा (सं० २०२०)
६७. परमवीर : नारायणसिंह भाटी, कलाकार पुस्तक मंदिर, जोधपुर (१९६१ ई०)
६८. बूंद बूंद की मुलाकात : कन्हैयालाल दूगड़
६९. मरवण : डा० मनोहर शर्मा
७०. मदमयंक : कान्ह महर्षि, रामकृष्ण प्रिंटिंग प्रेस, मोगा (बीकानेर) (१९६१ ई०)

७१. मानसो : गिरधारीसिंह पड़िहार, जगजीवन सर्वोदय आश्रम ट्रस्ट, श्री कोलायत (बीकानेर) (१९६४ ई०)
७२. राधा : सत्यप्रकाश जोशी, रूपायन संस्थान, बोरुंदा, जोधपुर (१९६० ई०)
७३. रामकथा : विश्वनाथ 'विमलेश', ललित प्रकाशन मंदिर, झुंझुनू (१९६६ ई०)
७४. रामदूत : श्रीमन्तकुमार व्यास, नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर
७५. शकुन्तला : करणीदान बारहठ, बारहठ प्रकाशण, फेफाना (राजस्थान) (१९६७ ई०)
७६. हाडी रांणी : रामेश्वरदयाल श्रीमाली, कला प्रकाशन, जालोर (१९६५ ई०)

मुक्तक-काव्य

७७ अमरसिंह री वेलि : मुकनसिंह, राजस्थानी साहित्य प्रकाशन, जयपुर (१९६५ ई०)
७८. अरावली की आत्मा : डा० मनोहर शर्मा
७९. अळगोजो : सं० श्रीमन्तकुमार व्यास, नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर (१९५३ ई०)
८० आज रा कवि : सं० रावत सारस्वत, वेद व्यास, राजस्थानी भाषा प्रचार सभा, जयपुर (१९६९ ई०)
८१. उभरते रंग : मुनि श्री दुलीचन्द 'दिनकर' (१९७० ई०)
८२. ऊमर काव्य : ऊमरदान लालस, अचलप्रताप स्वामी एंड कम्पनी, जोधपुर
८३. ओळूं : नारायणसिंह भाटी, कल्पावतार पुस्तक मंदिर, जोधपुर (१९६४ ई०)
८४. एक बीसी : भीमराज मवीरू, साहित्य मंदिर, राजगढ़ (बीकानेर)
८५. कळायण : नानूराम संस्कर्ता, सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट, बीकानेर (सं० २००६)
८६. कहमुकरणियां : चन्द्रसिंह, नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर
८७. किरकर : डा० गोवर्धनसिंह शेखावत, सारस्वत प्रकाशन प्रतिष्ठान, पिलानी (१९७१ ई०)
८८. फूं कूं : कन्हैयालाल सेठिया, आर्यावर्त प्रकाशन गृह, सुजानगढ़ (सं० २०२७)
८९. गांधी गाथा : सं० सवाईसिंह धामोरा, साहित्य समिति, सर्वोदय प्रौढ़ साक्षरता संगठन, भैंसरगढ़ (राजस्थान) (१९६८ ई०)
९०. गांधी जस प्रकास : सं० वेद व्यास
९१. गांधी शतक : नाथूदान महियारिया, सुन्दर सदन, मालघाट, उदयपुर (१९६१ ई०)
९२. गीत कथा : डा० मनोहर शर्मा
९३. गीतां री गुंजार : कन्हैयालाल दूगड़, जनहित प्रन्यास, सरदारशहर (१९६७ ई०)
९४. गोरां ऊभी गोरड़ी : मदनगोपाल शर्मा, राजस्थानी लेखक सहकारी समिति लिमिटेड, जयपुर (१९६५ ई०)
९५. घमड़का : बुद्धिप्रकाश पारीक, प्रमोद प्रकाशन मन्दिर, जयपुर (१९६१ ई०)
९६. घारणाधा : रामपाली भाटी, रामा प्रकाशन, जयपुर (सं० २०१०)
९७. घूंटक्या : बुद्धिप्रकाश पारीक, प्रमोद प्रकाशन मंदिर, जयपुर (१९५४ ई०)
९८. चूंठिया : सत्यनारायण 'अमन', गणेश प्रकाशन, सूरतगढ़ (सं० २०१८)
९९. चेत मानखा : रेवतदान चारण, रूपायन संस्थान बोरुन्दा, (सं० २०१४)
१००. छोळण : गोरधनसिंह राजावत, संघ शक्ति प्रकाशन, जयपुर (१९७० ई०)
१०१. दैड़साती : विश्वनाथ 'विमलेश'

१०२. जम्बू स्वामी री सूर : महेन्द्रकुमार, अणुव्रत समिति, जयपुर, (१९७० ई०)
१०३. जागती जोतां : गिरधारीसिंह पड़िहार
१०४. जूनी वातां : सूरज सोलंकी, नवयुग ग्रन्थ कुटीर (बीकानेर)
१०५. झर झर कन्था : करणीदान बारहठ, बारहठ प्रकाशन फेफाना (१९६४ ई०)
१०६. तिरसा : बुद्धिप्रकाश पारीक, प्रमोद प्रकाशन मंदिर, जयपुर (१९६४ ई०)
१०७. दसदेव : नानूराम संस्कर्ता, राजस्थान संस्कृति परिषद्, संग्रहालय भवन, जयपुर (१९५५ ई०)
१०८. दीवा कांपै क्यूं : सत्यप्रकाश जोशी
१०९. दुर्गादास : नारायणसिंह भाटी, पीथल प्रकाशन, जोधपुर (१९५६ ई०)
११०. धरती रा गीत : निरञ्जननाथ आचार्य, जय अम्बे पुस्तक भंडार, जयपुर (१९६२ ई०)
१११. धरती री धुन : गजानन वर्मा
११२. धरती हेलो मारै : वेद व्यास
११३. धूड़सार : उदयराज उज्जवल
११४. नुंवी रागणी : सुमनेश जोशी
११५. पणिहारी : ओम पुरोहित (१९७० ई०)
११६. परमार्थ विचार : सं० चतुरसिंह (सं० १९९४)
११७. पाबूजी री वेलि : मुकनसिंह बीदावत, राजस्थानी साहित्य प्रकाशन, जयपुर (१९६४ ई०)
११८. पिरोळ में कुत्ती ब्याई : धन्नाराम 'सुदामा', धरती प्रकाशन, उदयरामसर (१९६६ ई०)
११९. पीर प्रकाश : सं० सवाईसिंह धामोरा
१२०. पीथसिंह री वेलि : मुकनसिंह बीदावत, संघ शक्ति प्रकाशन, जयपुर (१९६६ ई०
१२१. फते विनोद : फतेसिंह, (चतुर्थ संस्करण, सं० २००८)
१२२. बहुनामी री वेलि : मुकनसिंह बीदावत
१२३. बादळी : चन्द्रसिंह, चांद जळेरी प्रकाशन, जयपुर (सं० १९९८)
१२४. बारहमासो : गजानन वर्मा
१२५. बाळसाद : चन्द्रसिंह, चांद जळेरी प्रकाशन, जयपुर (सं० २०२५)
१२६. बिरखा बीनणी : नागराज शर्मा, सुशील प्रकाशन मंदिर, पिलानी (सं० २०२६)
१२७. भालाळै री वेलि : मुकनसिंह बीदावत, संघ शक्ति प्रकाशन, जयपुर (१९६८ ई०)
१२८. मरण त्यूंहार : सं० भंवरसिंह सामोर, राजस्थानी साहित्य संस्थान, जयपुर, (१९६१ ई०)
१२९. मरु भारती : मांगीलाल चतुर्वेदी, भारती, निकेतन, मुकुन्दगढ़ (राज०) (सं० २००९)
१३०. मींझर : कन्हैयालाल सेठिया, आर्यावर्त प्रकाशन गृह, कलकत्ता (सं० २०१७)
१३१. मूंघा मोती भीमराज बंभीरू, पी० आर० मगवाल, राजगढ़ (१९५४ ई०)
१३२. मेघमाळ : सुमेरसिंह शेखावत
१३३. मोर पांख : ओंकार पारीक, राजस्थानी साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर (१९६८ ई०)
१३४. मोम लहरी : कन्हैयालाल दूगड़, जनहित न्यास, सरदारशहर (१९६६ ई०)
१३५. रक्त दीप : गणपतिचन्द्र भण्डारी (सं० २०१६)
१३६. रमणियै रा सोरठा : कन्हैयालाल सेठिया, राजस्थान साहित्य सदन, सुजानगढ़ (सं० १९९७)
१३७. रसाळ : लक्ष्मणसिंह रसवन्त

१३८. राजस्थान के कवि : सं० रावत सारस्वत, राजस्थान प्रकादमी (संगम), उदयपुर (१९६१ ई०)
१३९. रांमतिया मत तोड़ : कल्याणसिंह राजावत
१४०. धू : चन्द्रसिंह, चांद जळे री प्रकाशन, जयपुर (सं २०१२)
१४१. धारणा री वेलि : मुकनसिंह बीदावत, संघ शक्ति प्रकाशन, जयपुर (१९६७ ई०)
१४२. विचार बावनी : कन्हैयालाल दूगड़, जनहित प्रन्यास, सरदारशहर (१९१९)
१४३. सतपकवानी : विश्वनाथ विमलेश
१४४. समय बायरो : नाथूराम संस्कर्ता
१४५. सांझ : नारायणसिंह भाटी, पीथळ प्रकाशन, जोधपुर (१९५४ ई०)
१४६. सूरा दीवा देसरा : हणुवन्तसिंह देवड़ा, राजस्थानी साहित्य प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर (१९६७ ई०)
१४७. सैनान सुजस : सं० सवाईसिंह धामोरा,
१४८. सैनाणी री जागी जोत : मेघराज मुकुल
१४९. सोनो निपजै रेत में : गजानन वर्मा

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अकहानी : सं० श्यामसोहन श्रीवास्तव, सुरेन्द्र अरोड़ा, विवेक प्रकाशन, लखनऊ (१९६७ ई०)

२. अचलदास खीची री वचनिका गाडण शिवदास री कही

३. अमर शहीद सागरमल गोपा : रामचन्द्र बोड़ा, लोकायत शोध संस्थान, जोधपुर (१९६५ ई०)

४. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद (१९६६ ई०)

५. आधुनिक राजस्थानी काव्य : सज्जनकुमारी भंडारी, अप्रकाशित लघु शोध-प्रबन्ध (राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर)

६. आधुनिक राजस्थानी साहित्य : भूपतिराम साकरिया, राजस्थान सेवा समिति, राजस्थान भवन, अहमदाबाद–४ (१९६६ ई०)

७. आधुनिक राजस्थानी साहित्य : एक शताब्दी : शान्तिलाल भारद्वाज, प्रकाशित लघु शोध-प्रबन्ध (राजस्थान विश्वविद्यालय)

८. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त : डा० सुरेशचन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य संसार, नई दिल्ली (१९६० ई०)

९. आधुनिक हिन्दी काव्य : डा० राजेन्द्रप्रसाद मिश्र, ग्रंथम, कानपुर (१९६६ ई०)

१० आधुनिक हिन्दी काव्य प्रवृत्तियाँ : करुणापति त्रिपाठी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी (१९६७ ई०)

११. आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएं : डा० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस (१९७० ई०)

१२. आधुनिक हिन्दी साहित्य (सन् १८५० से १९००) : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (१९५२ ई०)

१३ आधुनिक हिन्दी नाटक : डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस (१९७० ई०)

१४. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, (१९५२ ई०)

१५. उपनिषद् वेलि : श्री मुकनसिंह (१९६८ ई०)

१६. कनु प्रिया : धर्मवीर भारती

१७. गीता (राजस्थानी पद्यानुवाद) : विश्वनाथ 'विमलेश' (१९६० ई०)

१८. गोरा हट जा : परम्परा, जोधपुर, वर्ष १, अंक २ (१९५६ ई०)

१९. गीता ज्ञानामृत : अनुवादक ठाकुर कुमेरसिंह, वि० सं० २०१६

२०. चित्तौड़ के जौहर व साके : सं० सवाईसिंह धमोरा, संघ शक्ति प्रकाशन, जयपुर, (१९६८ ई०)

२१. जयपुर की पत्र-पत्रिकाओं का स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान : महेन्द्र मधुप, मंडेपत्र, जयपुर (१९७० ई०)

२२. डिंगल में वीर रस : डा० मोतीलाल मेनारिया (सं० २००८)

२३. डिंगल साहित्य : डा० जगदीशप्रसाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (१९६० ई०)

२४. डिंगल साहित्य में नारी : हनुवन्तसिंह देवड़ा (१९५५ ई०)

२५. ढोला मारू रा दूहा : सं० नरोत्तमदास स्वामी एवं अन्य, नागरी, प्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०११)

२६. देश के इतिहास में मारवाड़ी जाति का स्थान : बालचन्द मोदी, रघुनाथ प्रसाद सिंघानिया, ७३९ चासा धोबा पाड़ा स्ट्रीट, कलकत्ता (सं० १९९६)

२७. देश के राज्यों की जन जागृति : भगवानदास केला

२८. धुन के धनी : सं० सत्यदेव विद्यालंकार, मारवाड़ी प्रकाशन, ४०६ हनुमान लेन, नई दिल्ली-१ (१९६४ ई०)

२९. नई कविता स्वरूप और समस्याएं : डा० जगदीश गुप्त (१९६८ ई०)

३०. नई कहानी की भूमिका : कमलेश्वर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली (१९६९)

३१. नई कहानी : प्रकृति और पाठ : सुरेन्द्र, परिवेश प्रकाशन, जयपुर (१९६८ ई०)

३२. नई कविता का स्वरूप विकास : प्रो० श्यामसुन्दर घोष, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली ७ (१९६५ ई०)

३३. नव्य हिन्दी नाटक : डा० सावित्री स्वरूप, ग्रंथम, कानपुर (१९६७ ई०)

३४. प्रकृति और काव्य : रघुवंश, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली (द्वि० संस्करण १९६० ई०)

३५. प्रयोगवादी काव्यधारा (तदोनत नई कविता) : डा० रमाशंकर तिवारी, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१ (सं० २०२१)

३६. पूर्व आधुनिक राजस्थान : रघुबीरसिंह, राजस्थान विश्व पीठ, उदयपुर (१९५१ ई०)

३७. प्रेमचन्दोत्तर कहानी साहित्य : डा० राधेश्याम गुप्त, विमल प्रकाशन, जयपुर, (१९७० ई०)

३८. बीरो म्हारौं भाई अे माय : सम्पादक विजयदान देथा

३९. भरतरी सतक : अनु० मनोहर प्रभाकर, पंकज प्रकाशन, जयपुर (१९६८ ई०)

४०. भारत में आर्थिक नियोजन : सिंह, शर्मा, मेहता (१९७० ई०)

४१. भारत में मारवाड़ी समाज : भीमसेन केडिया, नेशनल इन्डिया पब्लिकेशनस्, कलकत्ता-४ (सं० २००४)

४२. भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आंदोलन : आर० सी० अग्रवाल, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली (पंचम् संस्करण, १९६७ ई०)

४३. मरवण मांदी थी : सं० विजयदान देथा

४४. मरुधर महिमा : सं० शरद देवड़ा, अणिमा प्रकाशन, जयपुर (१९७१ ई०)

४५. महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य : चरन मानी शर्मा, शोध प्रबन्ध प्रकाशन, दिल्ली-७ (१९७१ ई०)

४६. मारवाड़ी व्याकरण : पंडित रामकर्ण शर्मा (सं० १९५३)

४७ मालपुरा क्षेत्र में प्रचलित चारण वार्ताएँ और उनका अध्ययन : गुलाबदान चारण, (अप्रकाशित लघु शोध प्रबन्ध, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर)

४८. मुहणोत नैणसी की ख्यात-भाग १ एवं भाग २ : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं० १९८२ एवं सं० १९९१)

४९. मोग लहरो : कन्हैयालाल दूगड़ (१९९९ ई०)

५०. राजस्थानी गद्य शैली का विकास : रामकुमार गर्ग, (अप्रकाशित, शोध प्रबन्ध, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर)

५१. राजस्थान स्वतन्त्रता के पहले एवं बाद : सं० चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय व अन्य, हिन्दी साहित्य लिमिटेड, महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर (१९६६ ई०)
५२. राजस्थानी गद्य साहित्य उद्भव और विकास : डा० शिवस्वरूप शर्मा अचल, सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट, बीकानेर (१९६१ ई०)
५३. राजस्थानी भाषा : डा० सुनीति कुमार चटर्जी, साहित्य संस्थान, उदयपुर (१९४९ ई०)
५४. राजस्थानी भाषा एवं साहित्य : डा० मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (तृतीय संस्करण, सं० २००९)
५५. राजस्थानी भाषा एवं साहित्य : डा० हीरालाल माहेश्वरी, आधुनिक पुस्तक भवन, ३०।३१ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-७ (१९६० ई०)
५६. राजस्थानी भाषा एवं साहित्य : नरोत्तमदास स्वामी (सं० २०००)
५७. राजस्थानी लोक साहित्य : डा० म० नानूराम सस्कर्ता, रूपायन संस्थान, बोरुंदा (सं० २०२४)
५८. राजस्थानी बाल साहित्य : एक अध्ययन : डा० मनोहर शर्मा (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर)
५९. राजस्थानी वातां : सम्पा० सौभाग्यसिंह शेखावत, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर
६०. राजस्थानी वीर काव्य और सूर्यमल्ल मिश्रण : डा० नरेन्द्र भानावत
६१. राजस्थानी साहित्य एक परिचय : नरोत्तमदास स्वामी, नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर
६२. राजस्थानी साहित्य और संस्कृति : सं० मनोहर प्रभाकर, आशा पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर (१९५९ ई०)
६३. राजस्थानी साहित्य का महत्त्व : सं० रामदेव चोखानी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०००)
६४. राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा . मोतीलाल मेनारिया
६५. राजस्थानी साहित्य कुछ प्रवृत्तियां : डा० नरेन्द्र भानावत
६६. राजस्थानी साहित्य के सन्दर्भ सहित श्रीकृष्ण-रुक्मिणि-विवाह संबंधी राजस्थानी काव्य : डा० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, मंगल प्रकाशन, गोविन्दराजियों का रास्ता, जयपुर (१९६९ ई०)
६७. राजस्थानी शब्द कोष (प्रथम खंड) : सीताराम लालस
६८. वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेस दासोत री खड़िया जगा री कही : सं० काशीराम शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (१९६० ई०)
६९. वर्तमान राजस्थान : रामनारायण चौधरी, चिकित्सा ग्रंथमाला, नीमकाथाना (१९४८ ई०)
७०. वारण री वेलि : मुकनसिंह (१९६७ ई०)
७१. विचार दर्शन : शिवचन्द्र भरतिया (१९१६ ई०)
७२. वेलि किसन रुक्मणी री : पृथ्वीराज राठोड़, सूर्यकरण पारीक एवं अन्य
७३. शिवचन्द्र भरतिया : किरण नाहटा, राजस्थान भाषा प्रचार सभा, जयपुर (१९७० ई०)
७४. शेष स्मृतियां : डा० रघुवीरसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९६६ ई०)
७५. सोरठा संग्रह : प्रकाशक राणी भीमसिंह बुकसेलर, कटला बाजार, जोधपुर
७६. स्वातंत्र्योत्तर राजस्थानी काव्य : श्यामसुन्दर शर्मा, अप्रकाशित लघु शोध प्रबन्ध (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)

७७. स्वातंत्र्योत्तर राजस्थानी काव्य की नयी प्रवृत्तियाँ : तेजसिंह जोधा, अप्रकाशित लघु शोध प्रबन्ध (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)

७८. सातवें दशक की हिन्दी कहानियाँ : सं० शरद देवड़ा, अपरा प्रकाशन, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता–१ (१९६७ ई०)

७९. हास्य की प्रवृत्तियाँ : डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, राजश्री प्रकाशन, मथुरा (१९६५ ई०)

८०. हिन्दी उपन्यास विवेचन : डा० सत्येन्द्र, कल्याणमल एण्ड संस, जयपुर (१९६१ ई०)

८१. हिन्दी उपन्यासों का वैज्ञानिक मूल्यांकन : ब्रह्म नारायण शर्मा, नवयुग ग्रंथागार, लखनऊ (१९६० ई०)

८२. हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्व : डा० इंदिरा जोशी, सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद (१९६५ ई०)

८३. हिन्दी एकांकी, उद्भव और विकास : डा० रामचरण महेन्द्र, साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, (१९५८ ई०)

८४. हिन्दी कहानी, उद्भव और विकास : डा० सुरेश सिन्हा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली (१९६७ ई०)

८५. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास : डा० लक्ष्मीनारायणलाल, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद (१९६७ ई०)

८६. हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया : डा० परमानन्द श्रीवास्तव, ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर (१९६५ ई०)

८७. हिन्दी की नयी कविता : वी० नारायणन कुट्टि, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर।

८८. हिन्दी की प्रगतिशील कविता : डा० रणजीत, हिन्दी साहित्य संसार, प्रगतिशील प्रकाशन, नई दिल्ली (१९७१ ई०)

८९. हिन्दी के वैयक्तिक निबन्ध : श्री वल्लभ मुवन, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, (१९६३ ई०)

९०. हिन्दी गद्य काव्य का उद्भव और विकास : डा० अष्टभुजाप्रसाद पाण्डेय

९१. हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : विश्वनाथ मिश्र, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद (१९६६ ई०)

९२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास : श्री सोमनाथ गुप्त, हिन्दी भवन, इलाहाबाद (१९४९ ई० द्वितीय संस्करण)

९३. हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन : डा० शांतिलाल पुरोहित, साहित्य सदन, देहरादून (१९६४ ई०)

९४. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : श्रीपति शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९६१ ई०)

९५. हिन्दी निबन्ध का विकास : डा० ओंकारनाथ शर्मा, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर (१९६४ ई०)

९६. हिन्दी नीति काव्य : भोलानाथ तिवारी, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा (१९५८ ई०)

९७. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : शंभुनाथसिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी–१ (१९५६ ई०)

९८. हिन्दी में नीति काव्य का विकास - डा० रामस्वरूप शास्त्री, रसिकेश, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली (१९६२ ई०)

९९. हिन्दी रेखाचित्र : डा० हरवंशलाल शर्मा, हिन्दी समिति
(१९६८ ई०)

१००. हिन्दी रेखाचित्र : उद्भव और विकास : कृपाशंकर सिंह ।

१०१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ना

१०२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग) : सं०
काशी (सं० २००८)

१०३. हिन्दी साहित्य कोष-भाग १ : सं० धीरेन्द्र वर्मा व अन्य

१०४. हिन्दी साहित्य परिवर्तन के सौ वर्ष : ओंकारनाथ श्रीव
(१९६८ ई०)

१०५. हिन्दी साहित्य में हास्यरस : डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी